॥ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

क्रान्तिकारी सन्तवाणी

'मानव सेवा संघ' के प्रवर्तक
ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज
के चुने हुए अनमोल वचन

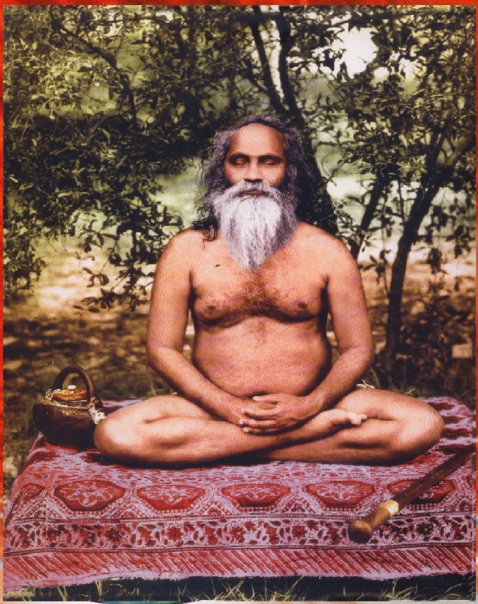

मानवता में ही पूर्णता निहित है
त्याग प्रेम सेवा
मानव सेवा संघ

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।।

क्रान्तिकारी सन्तवाणी

'मानव सेवा संघ' के प्रवर्तक
ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराजके
चुने हुए अनमोल वचन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

संकलनकर्ता
राजेन्द्र कुमार धवन

मानव-सेवा-संघ, वृन्दावन -281121

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः।।

प्राक्कथन

ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज एक अभूतपूर्व दार्शनिक सन्त हुए हैं। अध्यात्म-क्षेत्रमें वे जितनी गहराईतक पहुँचे थे, उतनी गहराईतक शायद ही कोई दार्शनिक पहुँचा हो ! विश्वमें उनके समान महान् विचारक मिलना दुर्लभ है ! अध्यात्म-जगत्‌में उन्होंने अनेक नये-नये आविष्कार किये। उनके विचार किसी धर्म, मत, सम्प्रदाय, देश आदिमें सीमित न होकर मानवमात्रके लिये हितकारक हैं। परन्तु अभीतक उनके क्रान्तिकारी विचारोंका व्यापक प्रचार नहीं हुआ है। इतना अवश्य कह सकते हैं कि जिस समय संसार उनकी विचारधाराको जान लेगा, उस समय अध्यात्म-जगत्‌में एक क्रान्ति आ जायगी, इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

श्रीमहाराजकी पुस्तकोंकी शैली जटिल होनेसे हर किसीको उनकी बातें सहज समझमें नहीं आतीं। ऐसी स्थितिमें उनके साहित्यका प्रचार कैसे हो, उनकी अमूल्य बातें जनसाधारणतक कैसे पहुँचें, उनके अनूठे भावोंसे लोग कैसे परिचित एवं लाभान्वित हों –इस उद्‌देश्यसे प्रस्तुत पुस्तक **'क्रान्तिकारी सन्तवाणी'** की रचना की गई है। इसमें विषयानुसार ढाई हजारसे अधिक अमूल्य वचनोंका संग्रह किया गया है। इससे पाठकोंको विषयानुसार श्रीमहाराजजीके विचारोंको जाननेमें सुविधा होगी।

श्रीमहाराजजीकी पुस्तकोंमें आयी सामग्री इतनी ठोस एवं मार्मिक है कि उसमेंसे कौन-सी बात ली जाय और कौन-सी बात छोड़ दी जाय –इसका निर्णय करना बड़ा ही कठिन कार्य है ! अतः अपनी सीमित बुद्धिसे जितना सम्भव हो सका, वचनोंका संकलन कर दिया है। यदि पाठकोंको यह संकलन उपयोगी लगा हो तो यह श्रीमहाराजजीकी ही कृपाका परिणाम है।

पाठकोंसे प्रार्थना है कि यदि उन्हें इस पुस्तकमें आयी किसी बातको विशेषरूपसे समझना हो तो वे मूल पुस्तकका अवलोकन करें। इस उद्‌देश्यसे प्रत्येक वचनके साथ मूल पुस्तकका भी पृष्ठ-संख्यासहित उल्लेख कर दिया गया है।

जिज्ञासु पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस पुस्तकमें ही सन्तोष न कर लें, प्रत्युत 'मानव-सेवा-संघ' से प्रकाशित श्रीमहाराजके साहित्यका भी अवश्य अध्ययन करें। कारण कि उनके साहित्य-सागरमें न जाने कितने बहुमूल्य रत्न छिपे पड़े हैं, जिन्हें कोई भी जिज्ञासु खोजकर निकाल सकता है और विशेष लाभ प्राप्त सकता है।

इस पुस्तकमें जो भी लिखा गया है, वह केवल पढ़नेके लिये नहीं है, प्रत्युत पढ़कर उसपर गम्भीरतापूर्वक मनन-विचार करनेके लिये है। आशा है, सत्यकी खोजमें रत जिज्ञासु साधक इस पुस्तकका अध्ययन-मनन करके लाभ उठायेंगे।

निवेदक–

वि.सं. 2066

राजेन्द्र कुमार धवन

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः।।

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

प्रार्थना -1

1. अप्रयत्न (कुछ न करना) 1
2. असाधन 4
3. अहम् 5
4. आस्था 7
5. आस्तिकता-नास्तिकता (दे.परमात्मा).............. 8
6. उन्नति 10
7. उपदेश 11
8. एकता 12
9. कर्तव्य 13
10. काम 16
11. कामना 17
12. कृपा 21
13. गुण-दोष 23
14. गुरु 27
15. चिन्तन 29
16. जीवन 31
17. ज्ञान 32
18. त्याग 35
19. धन 37
20. धर्म... 39
21. ध्यान 40
22. न्याय 41
23. परदोषदर्शन 42
24. परमात्मा 44
25. परमात्मप्राप्ति 47
26. परिस्थिति (अनुकूलता-प्रकूिलता)................ 50
27. प्रवृत्ति-निवृत्ति 52
28. प्रार्थना 57
29. प्रेम 59
30. बुराई (दे.परदोषदर्शन) 61
31. भक्त 63
32. भय 64
33. भोजन 65
34. मन 66
35. ममता 69
36. मानव 72
37. मानव-सेवा-संघ 75
38. मुक्ति (कल्याण) 77
39. मूक सत्संग (दे.सत्संग) 79
40. मृत्यु 82
41. योग 83
42. राग-द्वेष 84
43. राजनीति 86
44. रोग 88
45. लक्ष्य (उद्देश्य) 90
46. वस्तु 91
47. विवेक 93
48. विश्वशान्ति 95
49. विश्वास 96
50. विश्राम 97
51. वैराग्य 99
52. शरणागति 100
53. शरीर 102
54. शिक्षा 105
55. संकल्प 106
56. संघर्ष 108
57. संसार (सृष्टि, विश्व) 109
58. सत्संग (दे.मूक सत्संग)....................... 111
59. सदुपयोग 113
60. समाज 114
61. साधक 116
62. साधन 119
63. सामर्थ्य (बल) 125
64. सुख और दुःख 127
65. सुखभोग 132
66. सेवा 134
67. स्वरूप 138
68. स्वाधीनता 139
69. 'है' 140
70. *प्रकीर्ण* 141

प्रार्थना -2 149

उद्‌गार 150

पारिभाषिक शब्दावली 151

आधार-ग्रन्थ-सूची 152

•=•=•00•=•=•

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः।।

प्रार्थना -1

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतित पावनी,
अहैतुकी कृपासे
दुःखी प्राणियोंके हृदयमें
त्यागका बल
एवं
सुखी प्राणियोंके हृदयमें
सेवाका बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःखके
बन्धनसे
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेमका
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जायँ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।।

अप्रयत्न (कुछ न करना)

1. कुछ न करनेसे जीवन अपने लिये उपयोगी हो जाता है और सही करनेसे जीवन जगत्‌के लिये उपयोगी हो जाता है। -संतवाणी 6/84

2. यह नियम है कि 'करने' से जो कुछ मिलता है, वह सदैव नहीं रहता अर्थात् नित्य नहीं है। किन्तु 'कुछ न करने' से जो कुछ मिलता है, वह सदैव रहता है अर्थात् नित्य है। -मानवकी मांग 191-192

3. सही करनेसे गलत करना भी मिट जाता है और 'न करना' भी स्वतः प्राप्त होता है। -मानवकी मांग 192

4. 'न करने' की स्थितिमें जो जीवन है, वह मेरा अपना जीवन है। और काम 'करने' में जो जीवन है, वह सामाजिक जीवन है। -साधन-त्रिवेणी 105

5. एक गहरी बात है कि वर्तमानमें जिसका अनुभव होगा, उसके लिये कोई भी प्रयत्न अपेक्षित नहीं होगा।...... प्रयत्न तो उदय होता है अहम्-भावसे, और अनुभव होता है अहम् मिटनेसे।........ अनुभवके लिये अप्रयत्न ही प्रयत्न है। -मानवकी मांग 43

6. जो जीवन उत्पत्ति-विनाश-रहित है और जिससे देश-कालकी भी दूरी नहीं है, उसे तो वर्तमानमें ही अप्रयत्नरूपी प्रयत्नसे प्राप्त कर सकते हैं। -मानवकी मांग 74

7. 'करने' का जन्म किसी-न-किसी चाहसे ही होता है। 'न करना' उन्हींको प्राप्त होगा, जो चाहसे रहित हैं। -मानवकी मांग 192

8. जब हम 'कुछ नहीं करते', तब वे हमें सब कुछ देते हैं। जब हम सही करते हैं, तब भी हमारी उत्तरोत्तर उन्नति होती है और जब हम गलत करते हैं, तब भी वे दुःखके स्वरूपमें प्रकट होकर सचेत करते हैं। -मानवकी मांग 193

9. ममता रखते हुए, चाह रखते हुए क्या अप्रयत्न हो सकते हो ? कदापि नहीं हो सकते। -संतवाणी 7/86

10. श्रमके द्वारा उसीको जाना जाता है, जिससे देश, काल आदिकी दूरी हो। जो देश, काल आदिकी दूरीसे रहित है, उसका परिचय श्रम-रहित होनेपर ही सम्भव है। -मानव-दर्शन 67

11. करनेका राग रहते हुए अप्रयत्न होना सम्भव नहीं है। -मानव-दर्शन 83

12. प्राकृतिक नियमानुसार सब कुछ करनेपर जिसकी प्राप्ति होती है, कुछ न करनेपर भी उसीकी उपलब्धि होती है। पर कुछ न करनेके लिये सामर्थ्य तथा विवेकके अनुरूप फलासक्तिसे रहित कर्तव्य-पालन अनिवार्य है। -मानव-दर्शन 115

13. किया हुआ साधन साधकके अहंभावको ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखता है। -मूक सत्संग.32

14. करनेसे जो कुछ मिलता है, वह सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता, वह मानव-जीवनका चरम लक्ष्य नहीं हो सकता। -मूक सत्संग.58

15. वास्तविक माँगकी जागृति श्रम-रहित होनेपर ही होती है। कामनाओंकी पूर्त्तिके लिये श्रम अपेक्षित है और श्रमके लिये शरीरादि वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। -मूक सत्संग.71

16. श्रमका सम्पादन शरीरादिके बिना सम्भव नहीं है। किन्तु सत्‌का संग करनेके लिये तो शरीरके सहयोगकी भी आवश्यकता नहीं होती। वह तो श्रम-रहित होनेपर अपने-आप हो जाता है। -मूक सत्संग.73

17. सत्संग श्रम-रहित होनेपर स्वतः हो जाता है। श्रम-रहित होनेके लिये मिले हुएका सदुपयोग, जाने हुएका प्रभाव और सुने हुएमें अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास अनिवार्य है। -मूक सत्संग.79

18. अपने लिये कुछ करना है –यह असत्‌का संग है। -मूक सत्संग.112

19. 'अकर्मण्य' तो वह होता है, जो दूसरेके कर्तव्यपर दृष्टि रखता है; और 'अप्रयत्न' वह होता है, जो निष्कामताको अपनाता है। अप्रयत्न बहुत बड़ा साधन है। अकर्मण्यता बहुत बड़ा असाधन है। -संतवाणी 5/93-94

20. कुछ न करनेका संकल्प भी श्रम है। -मूक सत्संग.123

21. जिसे अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं है, वही विश्वप्रेम, आत्मरति तथा प्रभु-प्रेमसे परिपूर्ण होता है, जो वास्तविक जीवन है। -मूक सत्संग.135

22. करनेकी वासनाका त्याग करनेसे साधकको वह प्राप्त होता है, जो करनेसे नहीं होता। -संत-सौरभ 79

23. 'न करने' से अविनाशीका संग स्वतः होता है। -मूक सत्संग.179

24. 'करने' के आधारसे किसी प्रकार उनको नहीं पाया जा सकता; क्योंकि करनेवाले मजदूर होते हैं। -संतपत्रावली 1/87

25. करनेका सम्बन्ध परहितमें भले ही हो, पर उससे अपने लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं होती। -मानव-दर्शन 82-83

26. जिसे कुछ नहीं चाहिये, उसे अपने लिये कुछ नहीं करना है। जिसे कुछ नहीं करना है, उसका देहादि वस्तुओंसे तादात्म्य नहीं रहता। -मूक सत्संग.142

27. श्रमरहित हुए बिना असंगता उदित नहीं होती और असंगताके बिना जड़ता, पराधीनता आदि विकारोंका नाश नहीं होता। -मूक सत्संग.175

28. किसी भी मानवको अपने लिये कुछ नहीं करना है। देहाभिमानके कारण करनेकी रुचि उत्पन्न होती है, जो अविवेक-सिद्ध है। -मूक सत्संग.205

29. योग, बोध तथा प्रेम वर्तमानकी वस्तु है। इसी कारण उसकी साधना श्रम-रहित है। श्रमका आरम्भ अहंभावसे होता है, जो कामनापूर्त्तिके लिये अपेक्षित है। -पाथेय 23

30. जब विश्वासी आस्तिक साधकको अपने लिये कभी भी कुछ करना नहीं है, तब भला कोई भी प्रवृत्ति उसे कब छू सकती है ? -पाथेय 142

31. किसी भी साधकको अपने लिये तो कुछ भी करना है नहीं, कारण कि निर्ममता, निष्कामता, असंगता विचार-सिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं; और शरणागति श्रद्धा-सिद्ध है। -पाथेय 241

32. करना यही है कि करना कुछ नहीं है। केवल प्रेमास्पदके अस्तित्व और महत्त्वको अपनाना है। -पाथेय 334

33. 'करने' का अन्त प्रिय है, 'करना' प्रिय नहीं है। 'करने' की आसक्ति रहते हुए साधक यह रहस्य जान नहीं पाता। -सत्संग और साधन 38

34. कुछ न करनेका अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है, अपितु जो 'है' उससे संग करनेका उपाय 'कुछ न करना' है। जिससे विभाजन हो ही नहीं सकता, दूरी हो ही नहीं सकती, उससे अभिन्न होनेमें 'कुछ न करना' ही हेतु है। बस यही 'मूक सत्संग' है। -सत्संग और साधन 82

35. जिसे अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं है, वही वास्तवमें कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। जबतक साधकको अपने लिये कुछ करना है, तबतक सर्वांशमें कर्तव्यपरायणता नहीं आती। -सत्संग और साधन 83

36. 'कुछ न करने' की स्थिति, जो करना चाहिये, उसके करनेपर अर्थात् प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगसे, अथवा निष्कामतासे उदित चिर-विश्राम प्राप्त होनेपर, अथवा असंगतापूर्वक स्वाधीनतासे अभिन्न होनेपर, अथवा अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास-पूर्वक शरणागत होनेपर ही आती है। उससे पूर्व 'न करने' के गीत गाना अकर्मण्यता, आलस्य, प्रमाद, असावधानी आदिको ही पोषित करना है, जो सर्वथा त्याज्य है। -दुःखका प्रभाव 52

37. देहाभिमानसे रहित होनेके लिये किसी श्रम-साध्य उपायकी अपेक्षा नहीं है, अपितु इस तथ्यको अपना लेना है कि अपने लिये कुछ नहीं करना है। कुछ न करनेकी स्थितिसे देहका तादात्म्य अपने-आप मिट जाता है। -सफलताकी कुंजी 39

38. अप्रयत्न होनेके लिये मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदिका सदुपयोग करना है; किन्तु उसके बदलेमें कुछ नहीं चाहिये – इस वास्तविकतामें दृढ़ रहना है। -सफलताकी कुंजी 42

39. यह मान लेना कि हम जब कुछ करेंगे, तभी कुछ मिलेगा, बिना किये कुछ नहीं मिलता है –इस धारणामें आस्था करना मानवको अविनाशी जीवनसे विमुख करना है। -सफलताकी कुंजी 46

40. जिसका कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिये, उसे अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता अर्थात् वह अप्रयत्न हो जाता है। -सफलताकी कुंजी 78

41. विषयी बेचारा तो विषय-प्रवृत्तिके अन्तमें शक्तिहीनता मिटानेके लिये आराम करता है। आराम क्रिया नहीं होती, यह सभी जानते हैं। अतः इस प्रकार वह 'न करने' की शरण लेता है; परन्तु उसकी रुचिमें विषय-प्रवृत्ति विद्यमान रहती है; अतः आरामसे शक्ति पाकर वह फिर विषय-प्रवृत्ति करता है। किन्तु भक्त अपनेको समर्पण कर 'न करने' की अवस्थाको प्राप्त होता है। भक्तकी रुचिमें प्रेम-पात्रका मिलन विद्यमान है; अतः समर्पण होनेपर मिलनका अनुभव होता है। जिज्ञासु असंगताके भावसे 'न करने' का अनुभव करता है। उसकी रुचिमें तत्त्व-साक्षात्कार विद्यमान है; अतः 'न करने' से वह तत्त्वज्ञानका अनुभव करता है। -सन्त-समागम 1/74

42. जिस प्रकार फाँसीका कैदी सभी सजाओंसे छूट जाता है, उसी प्रकार सद्भावपूर्वक समर्पण करनेवाला 'करने' से छूट जाता है। प्रेमपात्र ऐसे प्रेमीका ध्यान करते हैं, आते हैं अथवा उससे प्रेम करते हैं। 'करना' तबतक है, जबतक करनेकी शक्ति हो। प्रेमकी पूर्णता होनेपर करनेकी शक्ति शेष नहीं रहती अर्थात् मिट जाती है। -सन्त-समागम 1/84

43. प्रत्येक करना 'न करने' के लिये होता है, इसलिये करना तभी सार्थक है कि 'करना' न रहे। -सन्त-समागम 1/8

44. ऐसी कोई कमी नहीं है, जिसकी पूर्त्ति 'न करने' से न हो। -सन्त-समागम 1/73

45. किसी प्रकारकी कामनाओंका शेष न रहना ही अक्रियता है; क्योंकि आप्तकाम अक्रिय होता है। –सन्त-समागम 1/146

46. प्यारे, करनेकी शक्तिका अन्त होनेपर तो सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है; क्योंकि जो 'कुछ नहीं करता', वह सबसे बड़ा है, यहाँतक कि वह ईश्वरका भी ईश्वर तथा गुरुओंका गुरु, प्रेमियोंका प्रेम, ज्ञानियोंका ज्ञान अर्थात् सबका सब कुछ है। कुछ न करनेके लिये ही सब कुछ किया जाता है। –सन्त-समागम 1/160

47. अभिलाषा होते हुए 'मैं कुछ नहीं करता' ऐसा कहना अपने-आपको धोखा देनेके सिवाय कुछ अर्थ नहीं रखता। –सन्त-समागम 1/169

48. क्रियाका अन्त करनेके लिये निष्क्रियता साधन है, जीवनका लक्ष्य नहीं। –सन्त-समागम 1/236

49. करनेसे जो कुछ मिलता है, वह अपने काम नहीं आता। –संतवाणी 8/103

असाधन

1. असाधन और कुछ नहीं, विवेक-विरोधी 'कर्म' ही असाधन है, विवेक-विरोधी 'विश्वास' ही असाधन है और विवेक-विरोधी 'सम्बन्ध' ही असाधन है। -सफलताकी कुंजी 132

2. साधकका पुरुषार्थ असाधनके त्यागमें है। विवेक-विरोधी स्वीकृति, कर्म, सम्बन्ध और चिन्तन असाधन हैं। -संत-उद्‌बोधन 102

3. असाधनके रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, जो सभी दोषोंका मूल है। -संत-उद्‌बोधन 100

4. जो हो चुका है, उसका चिन्तन करना और उसके अर्थको न अपनाना असाधन ही है। -संत-उद्‌बोधन 116

5. सुख-दुःखका भोग असाधन और सदुपयोग साधन है। -संत-उद्‌बोधन 115

6. असाधनके रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन सत्‌की चर्चा तथा सत्‌का चिन्तन है, सत्संग नहीं। -मूक सत्संग.97

7. साधनका अभिमान ही असाधनका मूल है और असाधनके ज्ञानमें ही असाधनका नाश है। -संतपत्रावली 1/26

8. समस्त असाधनोंकी उत्पत्तिका मूल जाने हुए असत्‌का संग है। -संतपत्रावली 2/82

9. असाधनके साथ-साथ किया हुआ साधन कालान्तरमें भले ही फलदायक हो, किन्तु वर्तमानमें सिद्धिदायक नहीं है। -संतपत्रावली 2/82

10. बलपूर्वक किया हुआ साधन असाधनको दबा देता है, उसे मिटा नहीं पाता। इतना ही नहीं, साधक साधन करनेका मिथ्या अभिमान और कर बैठता है, जो बड़ा ही भयंकर असाधन है। -सत्संग और साधन 32

11. समस्त असाधन अभिमानमें और समस्त साधन निरभिमानतामें निहित हैं। -सत्संग और साधन 47

12. असत्‌के संगसे असाधनकी उत्पत्ति और सत्‌के संगसे साधनकी अभिव्यक्ति स्वतः होती है। -सत्संग और साधन 54

13. जो प्रवृत्ति अपने लिये प्रसन्नता देनेवाली न हो और दूसरोंके लिये हितकर न हो, वह असाधन है। -सफलताकी कुंजी 128

14. असावधानीकी भूमिमें ही असाधनकी उत्पत्ति होती है। जो जानते हैं, उसको न मानना और जो कर सकते हैं, उसको न करना ही असावधानी है। -चित्तशुद्धि 361

15. असाधनका त्याग सभी मत, सम्प्रदाय, विचारधाराके साधकोंके लिये समान है। -साधन-तत्त्व 50

16. अपने सुख-दुःखका कारण किसी औरको मानना असाधनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। -साधन-तत्त्व 77

17. सुखके प्रलोभनका ही दूसरा नाम असाधन है। -संतवाणी 6/47

अहम्

1. 'मेरा कुछ नहीं है' तो यह भी आ जायगा कि 'मुझे कुछ नहीं चाहिये'। जब मुझे कुछ नहीं चाहिये तो 'मैं' जैसी कोई चीज नहीं रह गयी। –संतवाणी 3/100

2. न अहम् रहे, न दुःखी होनेका भय रहे, न पराधीन होनेका भय रहे। –संतवाणी 5/43

3. यह संसार जो है, वह 'मैं' के भीतर है और 'मैं' जो है, वह परमात्माके भीतर है। –संतवाणी 7/35

4. जो दिन-रात अपने अहम्के ही महत्त्वको बढ़ाता रहता है, दुनिया उसका मुँह देखना पसन्द नहीं करती ईमानदारीसे। –संतवाणी 7/49

5. यह अहंरूपी अणु है, जिसका मूल है –लेने और देनेका रस। –संतवाणी 7/128

6. समस्त जगत्का बीज अहम्में ही विद्यमान है। –मूक सत्संग. 36

7. कामना और जिज्ञासाका पुंजरूप 'मैं' है। 'मैं' के इस पार जगत् और उस पार जो कोई हो, सो। –संतवाणी 7/194

8. अभेदभावके सम्बन्धसे सीमित अहम्की और भेदभावके सम्बन्धसे सीमित प्यारकी उत्पत्ति हो गई है। –चित्तशुद्धि 127

9. जितने भेद उत्पन्न होते हैं, वे सब सीमित अहंभावसे और जितने संघर्ष उत्पन्न होते हैं, वे सब सीमित प्यारसे। –मानवकी मांग 77

10. शरणागतिके बिना सीमित अहंभावका सर्वांशमें नाश नहीं होता। –मानव-दर्शन 169

11. 'अहम्' की पुष्टि सम्बन्धमें सत्यता प्रदान करती है और 'मम' की पुष्टि सम्बन्धित वस्तुओं और व्यक्तियोंमें प्रियता प्रदान करती है अर्थात् जिसे हम अपनेको मान लेते हैं, वह हमें 'सत्य' भासता है और जिसे हम अपना मान लेते हैं, वह 'प्रिय' मालूम होता है। –मानवकी मांग 77

12. अच्छाई और बुराई जब दोनों होती हैं, तब तो बनता है अहम्, बनती है परिच्छिन्नता; और जब बुराई बिल्कुल नहीं रहती, अच्छा-ही-अच्छा रह जाता है, तब अहम्का नाश हो जाता है। द्वन्द्वमें अहम् बनता है, द्वन्द्वातीतमें अहम् नहीं बनता। –संत-उद्बोधन 58

13. 'यह' से विमुख होते ही 'मैं' 'वह' से, जो दृश्यसे अतीत है, अभिन्न हो जाता है। –मानवकी मांग 139

14. 'यह' की ममता तथा कामनाने ही 'मैं' को जीवित रखा है। –मानव-दर्शन 30

15. जब जड़-चेतनका मिलन ही नहीं है, तब उसके मिलनेसे जो उत्पन्न हुआ वह 'मैं' है, यह भी भूल ही है। –मानव-दर्शन 69

16. सृष्टिका मूल बीज अहम् है। –मानव-दर्शन 93

17. शान्ति और स्वाधीनताके आश्रित अहम्-रूपी अणु रह सकता है, किन्तु प्रियतामें तो अहम्की गन्ध भी नहीं रहती। –मानव-दर्शन 101

18. प्रियताकी जागृतिके बिना अहम्-भावरूपी अणुका नाश नहीं होता, और उसके हुए बिना सर्वांशमें दूरी, भेद, भिन्नताका नाश नहीं होता। –साधन-निधि 42

19. सभी संस्कार अहंतामें अंकित रहते हैं; परन्तु अहंता परिवर्तित होनेपर पूर्व संस्कार भुने हुए बीजके समान निर्जीव हो जाते हैं अर्थात् उनमें उपजनेकी शक्ति नहीं रहती। पूर्व संस्कारोंको निर्जीव करनेके लिये अहंता-परिवर्तन परम अनिवार्य है। –संतपत्रावली(1) 130

20. *'सबहिं नचावत राम गोसाईं'* –यह उस भक्तके हृदयकी पुकार है कि जिसका अहंभाव मिट गया हो। –संतपत्रावली(1) 135

21. अहंकृति-रहित प्रवृत्ति किसी भी निवृत्तिसे कम नहीं है, और संकल्पयुक्त निवृत्ति किसी भी प्रवृत्तिसे कम नहीं है। –पाथेय 143-144

22. किसी-न-किसी प्रकारका सुख ही अहंभावको जीवित रखता है। –पाथेय 335

23. प्राकृतिक विधानके अनुसार अहम्रूपी अणुमें असाधनका बीज भी है और साधनकी माँग भी। 'पराधीनतामें जीवन-बुद्धि' –यही असाधनका बीज है और 'स्वाधीनतामें स्वाभाविक प्रियता' –यही साधनकी माँग है। –सत्संग और साधन 35

24. 'यह' की आसक्ति और जिज्ञासा तथा प्रियता जिसमें है, वही 'मैं' है। –मानव-दर्शन 69

25. अनित्य और अनित्य जीवनके मध्यमें अहंभावरूपी अणु ही एक ऐसा आवरण है, जो दिव्य जीवनकी दिव्यताको इस भौतिक जीवनमें अवतरित नहीं होने देता। –जीवन-दर्शन 51

26. सुखभोगकी रुचिका सर्वांशमें नाश होते ही अहंरूपी अणु नष्ट हो जाता है। –सफलताकी कुंजी 77

27. अहंरूपी अणुमें समस्त विश्व और अनन्तमें अहम् विद्यमान है। –सफलताकी कुंजी 79

28. ममताका अन्त होते ही सब प्रकारकी चाहका अन्त होगा और चाहरहित होते ही अहंरूपी अणु स्वतः टूट जायगा –उसके लिये कोई अन्य प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता। –जीवन-दर्शन 143

29. हमें अपनेमेंसे 'मैं सर्वहितैषी हूँ', 'मैं अचाह हूँ' अथवा 'मुझे अपने लिये संसारसे कुछ नहीं चाहिये' –यह अहंभाव भी गला देना चाहिये। यह तभी सम्भव होगा, जब सर्वहितकारी प्रवृत्ति होनेपर भी अपनेमें करनेका अभिमान न हो और चाहरहित होनेपर भी 'मैं चाहरहित हूँ' ऐसा भास न हो। कारण कि अहंभावके रहते हुए वास्तवमें कोई अचाह हो नहीं सकता; क्योंकि सेवा तथा त्यागका अभिमान भी किसी रागसे कम नहीं है। –जीवन-दर्शन 162

30. राग-निवृत्ति होनेपर उन सभी दुःखोंका अन्त हो जाता है, जो सुखकी दासतासे उत्पन्न हुए थे; परन्तु 'मैं वीतराग हूँ', 'मैं शान्त हूँ', 'मुझे कुछ नहीं चाहिये' –ये जिस अहंकी ध्वनि हैं, वह शेष रहता है। उसका नाश किसीकी स्मृतिसे ही होता है। –जीवन-दर्शन 239

31. दृष्टिका उद्‌गम अहम् है और अहम् भी दृश्य ही है; क्योंकि जिसकी प्रतीति होती है और जो भासित होता है, वह दृश्य ही है। इस दृष्टिसे अपनेको अहम्‌रूपी दृश्यसे भी असंग होना है, जो एकमात्र अप्रयत्नसे ही साध्य है। –सफलताकी कुंजी 48

32. शरीररूपी वस्तुमें अहम्-बुद्धि हो जानेपर वस्तुओंकी कामना स्वतः उत्पन्न होती है; क्योंकि शरीर और सृष्टिमें गुणोंकी भिन्नता और स्वरूपकी एकता है। –चित्तशुद्धि 6-7

33. जबतक अहंभावरूपी अणु न तोड़ दिया जाय, तबतक न तो चित्त ही शुद्ध हो सकता है और न दिव्य चिन्मय जीवनसे ही अभिन्नता हो सकती है। –चित्तशुद्धि 22

34. जिसे अपनेमें संयम, सदाचार तथा सेवा प्रतीत होती है, वह वास्तवमें संयमी, सदाचारी तथा सेवक है ही नहीं। सर्वांशमें असंयमका अन्त संयमके अभिमानको खा लेता है और फिर सदाचार तथा सेवा तो रहती है, पर सदाचारी तथा सेवक नहीं रहता। 'सेवक' से रहित जो सेवा और 'सदाचारी' से रहित जो सदाचार है, वही वास्तवमें संयम, सदाचार तथा सेवा है। –चित्तशुद्धि 281

35. सब इच्छाओंके मिटते ही अहंभाव मिट जाता है। –सन्त-समागम 1/17

36. जो अपने व्यक्तित्वको मिटा देता है, उसे फिर किसी भी व्यक्तिकी गुलामीकी आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि व्यक्तित्वको ही व्यक्तिकी आवश्यकता होती है। –सन्त-समागम 1/152

37. अस्वाभाविक अहंभाव समाधितक जीवित रहता है। –सन्त-समागम 1/235

38. अहंभावका परिवर्तन होनेपर क्रिया तथा भावका परिवर्तन स्वयं हो जाता है और अहंभावके मिटनेपर सब कुछ मिल जाता है। –सन्त-समागम 1/241

39. वस्तुओंके सदुपयोगसे वस्तुओंका आश्रय और व्यक्तियोंकी सेवासे व्यक्तियोंका सम्बन्ध शेष नहीं रहता, जिसके न रहनेपर अहम् अपने-आप मिट जाता है। –साधन-तत्त्व 94

40. अहम्‌के नाशमें ही स्वाधीनता, चिन्मयता एवं अमरत्वकी उपलब्धि निहित है और अहम्‌के नाशमें ही परमप्रेमकी अभिव्यक्ति हो सकती है। –साधन-तत्त्व 99

41. बड़े-बड़े वैज्ञानिक यह तो कह सकते हैं कि शरीरकी उत्पत्ति हुई, लेकिन कोई वैज्ञानिक यह नहीं कह सकता कि 'मैं' की उत्पत्ति हुई।....... 'मैं' की खोज की तो 'है' मिल गया और 'मैं' मिट गया। –संतवाणी 8/153

42. यदि आप शान्तिमें रमण करेंगे अथवा अपनेमें दिव्य गुणोंका आरोप करके अपनेमें सन्तुष्ट होंगे, तो अहंरूपी अणु ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहेगा। जबतक वह सुरक्षित रहेगा, तबतक किसी-न-किसी रूपमें सत्‌से दूरी रहेगी। –संतवाणी 6/12

43. जब हम और आप निष्पक्ष भावसे विचार करेंगे तो भाई, उस अहम्‌का स्वरूप निकलेगा –पराश्रय। –संतवाणी 4/85

44. अहंभावके मिटते ही निर्गुणका बोध और प्रेमका उदय स्वतःसिद्ध है। –मानवकी मांग 213

आस्था

1. सन्देह रहते हुए आस्था सजीव नहीं होती। -मानव-दर्शन 17

2. यह आवश्यक नहीं है कि आस्था विवेकसे समर्थित हो, पर यह आवश्यक है कि आस्थामें विवेकका विरोध न हो। -मानव-दर्शन 18

3. सन्देह देखे हुएमें होता है, बोध जाने हुएका होता है और आस्था सुने हुएमें होती है। -मानव-दर्शन 53

4. जब मिला हुआ और देखा हुआ अपनेको संतुष्ट नहीं कर पाता, तब स्वभावसे ही बिना जाने हुएमें आस्था होती है। -मानव-दर्शन 88

5. अधूरे ज्ञानसे जिज्ञासा जाग्रत् होती है, आस्था नहीं। आस्था एकमात्र उसीमें हो सकती है, जिसे कभी भी इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टिसे अनुभव नहीं किया। -मानव-दर्शन 88

6. 'नहीं' की निवृत्तिमें विचार और 'है' की प्राप्तिमें आस्था ही समर्थ है। -मानव-दर्शन 95

7. आस्था 'स्व' के द्वारा होती है। उसके लिये कोई करण अपेक्षित नहीं है। -मानव-दर्शन 97

8. जिसने आस्था स्वीकार की है, वह कोई करण नहीं है, अपितु कर्ता है। -मानव-दर्शन 97

9. आस्थाका उपयोग कामनाकी पूर्ति तथा निवृत्तिमें करना आस्थाका दुरुपयोग है। आस्थाका सदुपयोग एकमात्र आत्मीयतापूर्वक प्रियताकी जागृतिमें ही है। -मानव-दर्शन 99

10. आस्था देखे हुए तथा मिले हुएमें हो ही नहीं सकती, अपितु उसीमें हो सकती है, जिसे देखा नहीं है। -मानव-दर्शन 102

11. मिले हुएका उपयोग किया जा सकता है, उसमें आस्था नहीं की जा सकती। देखे हुएपर विचार किया जा सकता है, आस्था नहीं की जा सकती। सुने हुएमें आस्था की जा सकती है, उसपर विचार नहीं किया जा सकता। -साधन-निधि 38

12. सुने हुए प्रभुकी आस्था स्वीकार करनेपर मिले हुए शरीर और देखे हुए जगत्‌की आस्था निर्जीव हो जाती है। कारण कि दो आस्थाएँ एक कालमें जीवित नहीं रह सकतीं। -साधन-निधि 38

13. विचारशील माँगके आधारपर और विश्वासी भक्तों, सन्तों तथा ग्रन्थोंके आधारपर उसमें आस्था करते हैं, जो अगोचर है। -साधन-निधि 45

14. विश्वके रचयिताका वर्णन उसकी रचना नहीं कर सकती; किन्तु साधक उसमें अविचल आस्था कर सकता है। -साधन-निधि 46

15. देखा हुआ मिला नहीं, किये हुएका परिणाम भाता नहीं, तब मानव विवश होकर सुने हुएमें आस्था करता है। -मूक सत्संग.127

16. मिले हुए तथा देखे हुएमें आस्था नहीं रह सकती। हाँ, मिले हुएका सदुपयोग और देखे हुएके प्रति जिज्ञासा हो सकती है। -मूक सत्संग.198

17. दार्शनिकोंके दृष्टिकोणको अपनाना आस्था है, दर्शन नहीं। -मानव-दर्शन 15

18. जिज्ञासाकी जागृति सन्देहकी वेदनामें निहित है। सन्देहकालमें आस्थाका भार जिज्ञासुपर लाद देना जिज्ञासाको निर्जीव बनाना है। -मानव-दर्शन 17

19. 'है' में आस्था 'है' की प्राप्तिका अचूक उपाय है। -पाथेय 310

20. 'यह' को जानो और 'वह' में आस्था करो। -दुःखका प्रभाव 47

21. आस्था उसीमें की जाती है, जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे अगोचर है, जिसे भक्तोंसे सुना है और जिसकी माँग अपनेमें है। -सफलताकी कुंजी 106

22. साधननिष्ठ होनेके लिये प्रत्येक साधककी अपने साध्यमें अविचल आस्था होनी अनिवार्य है। -सफलताकी कुंजी 109

23. दृश्यकी आस्थाने साध्यकी आस्थाको शिथिल किया है। यद्यपि साध्यकी माँग साधकमें विद्यमान है, परन्तु दृश्यकी आस्थाने माँगको शिथिल और रुचिको बलवती कर दिया है। -सफलताकी कुंजी 111

24. साध्यकी आस्था शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके द्वारा सम्भव नहीं है, अपितु अपने ही द्वारा अपने साध्यमें आस्था करना सम्भव है अर्थात् प्रत्येक साधक स्वयं अपने साध्यमें आस्था कर सकता है। -सफलताकी कुंजी 113

25. आस्था तभी सजीव होती है, जब साधक साध्यके महत्त्वको अपनाकर साध्यमें अपनत्व स्वीकार करे। -सफलताकी कुंजी 114

26. विचार उसपर किया जा सकता है, जो बुद्धिकी सीमामें हो, सीमित हो, परिवर्तनशील हो। पर जो सदैव है, अनन्त है और असीम है, उसपर विचार नहीं किया जा सकता। वह तो आस्थाका विषय है। -संत-उद्‌बोधन 131

27. आस्थाका अर्थ है 'प्रभु हैं'। कैसे हैं, कहाँ हैं, हम नहीं जानते। यह जानना बिलकुल जरूरी नहीं है। इतना जानना पर्याप्त है कि 'प्रभु हैं'। -जीवन-पथ 20

आस्तिकता-नास्तिकता (दे.परमात्मा)

1. जिसकी अस्ति हर कालमें है, उसकी स्वीकृति 'आस्तिकता' है। जिसकी अस्ति हर कालमें नहीं है, उसकी स्वीकृति 'नास्तिकता' है। -सन्त-समागम 1/105

2. बहुत-से लोग हैं जो प्रभुको मानते हैं। बहुत-से लोग हैं जो संसारकी वास्तविकताको जानते हैं। महत्त्वकी बात यह है कि उस जाने हुएका प्रभाव कितना है जीवनमें; उस माने हुएका प्रभाव कितना है जीवनमें। -सफलताकी कुंजी 131

3. चिन्ता नास्तिकको होती है, आस्तिकको नहीं; क्योंकि जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार एक स्थानमें नहीं रह पाते, उसी प्रकार आस्तिकता और चिन्ता एक स्थानमें नहीं रहने पाते। -सन्त-समागम 1/241

4. भगवान्‌का स्मरण करनेसे जीवका कल्याण होता है –यह बात भी हम अच्छी तरह जानते हैं, फिर भी मन भगवान्‌में नहीं लगता, तो इससे बढ़कर और नास्तिकता क्या होगी ? आश्चर्य इस बातका है कि हम महामूर्ख व नास्तिक होकर भी स्वयंको आस्तिक व बुद्धिमान मानते हैं। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 39

5. ईश्वरमें विश्वास करो और उसे अपना मानो –इसका नाम ईश्वरवाद है। -संतवाणी 8/11

6. 'ईश्वर है' यही समझकर सन्तोष मत करो, बल्कि उसका अनुभव करनेके लिये अखण्ड प्रयत्न करो। -संतपत्रावली 1/10

7. सच्चा ईश्वरवादी अनीश्वरवादीमें भी ईश्वरका दर्शन करता है। -संत-सौरभ 51

8. वस्तुविशेषमें भगवद्‌बुद्धि होना कोई कठिन बात नहीं है। पर यह अधूरी आस्तिकता है। पूरी आस्तिकताका तो अर्थ यह है कि भगवान्‌से भिन्न कुछ है ही नहीं। अभी भी नहीं है, पहले भी नहीं था और आगे भी नहीं होगा। -संतवाणी 7/191

9. जबतक कुछ भी चाहते हो, तबतक यह नहीं कह सकते कि ईश्वर कुछ नहीं; क्योंकि माँगना ही अपनेसे बड़ी सत्ताको स्वीकार कर लेना है। -सन्त-समागम 1/43

10. भगवान् अनीश्वरवादियोंके भी प्रतिकूल नहीं हैं। भौतिकवादी भी यदि उन्नति करेगा तो भौतिकताके रूपमें वे उसे मिलेंगे। -सन्त-समागम 2/82

11. किसी आवश्यकताका होना ही अनन्तकी सत्ता स्वीकार करनेमें स्वतः सिद्ध है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 9

12. परमात्माको मानना कहलाता है कि हमें परमात्मा चाहिये, परमात्मासे हमें कुछ नहीं चाहिये। -संतवाणी 8/133-134

13. ईश्वरको मानना एक चीज है और उसके अनुसार अपना जीवन बना लेना दूसरी चीज है। केवल ईश्वरको मान ले, पर उसके साथ अपनत्व और प्रेम न हो तो जीवन नहीं बदलता। -संत-सौरभ 117

14. पूर्ण आस्तिकता तो यह है कि जगत् और परमात्माका विभाजन कभी हुआ ही नहीं। -संतवाणी 7/191

15. परमात्माके माननेकी जरूरत क्यों पड़ती है ? केवल इसलिये पड़ती है कि सदा-सदाके लिये रहनेवाला कोई साथी मिलता नहीं संसारमें। -संतवाणी 3/124

16. अगर आप भगवान्‌को मानते हैं, तो उस मान्यताका परिचय हमारे आपके जीवनसे हो, केवल विचारोंसे नहीं। हमारा जीवन बता दे कि हम भगवान्‌को मानते हैं। -सन्त-समागम 2/78

17. गहराईसे देखिये, किसीका होना कुछ अर्थ नहीं रखता, जबतक कि उससे अपना सम्बन्ध न हो, और किसीसे भी सम्बन्ध उस समयतक नहीं होता, जबतक कि उसकी आवश्यकता न हो। -सन्त-समागम 2/107-108

18. जो व्यक्ति कुछ भी जानना चाहता है, उसने 'गुरु' मान लिया, और जो व्यक्ति कुछ भी करना चाहता है, उसने 'धर्म' मान लिया, और जिसे अपनेसे कोई भी बड़ा दिखता है, उसने 'ईश्वर' मान लिया। -संत-उद्‌बोधन 17

19. बिना देखे 'मैं' को मानते हो तो बिना देखे 'है' को क्यों नहीं मानते ? -संतवाणी 5/149

20. ईश्वर तो कहते ही उसको हैं कि जिसका होना आपके मानने, न माननेपर निर्भर नहीं। -प्रेरणा पथ 98

21. ईश्वरवादका असली अर्थ है कि वह उसका भी उतना ही है, जो उसे मानता है; और जो उसे नहीं मानता, उसका भी वह उतना ही है। -प्रेरणा पथ 98

22. ईश्वर उनका भी है, जो उनमें विश्वास नहीं करते। ईश्वरकी सूचीमेंसे तुम्हारा नाम नहीं कटेगा। तुम मानो तो और न मानो तो। -संतवाणी 3/43

23. भगवान्‌के खिलाफ जो आवाज उठती है न, वह तर्कसे नहीं उठती है। वह आवाज उठती है भगवान्‌को माननेवालोंके दुश्चरित्रसे, और कोई बात नहीं है। भगवान्‌को माननेवाले अगर ठीक आदमी हों तो भगवान्‌के खिलाफ कोई बोल ही नहीं सकता। -संतवाणी 3/116

24. लोग ईश्वरको मानने चलते हैं, किसलिये ? कि हमारी जो कामनाएँ हैं, वे पूरी हो जायँ। यह ईश्वरवाद नहीं है। -संत-उद्‌बोधन 63

25. परमात्मा कहाँ है, कैसा है, क्या है –इसके पीछे न पड़ते हुए 'परमात्मा है' यह मान लेना चाहिये। –संत-उद्‌बोधन 18

26. कोई भी मिल्कियत बेमालिककी और कोई भी उत्पत्ति बिना आधारके नहीं होती। तो फिर विश्वका कोई मालिक नहीं है तथा उत्पत्तिका कोई आधार नहीं है, यह कैसे हो सकता है ? हाँ, यह अवश्य है कि जो सबका मालिक तथा आधार है, वह इतना उदार है कि उसमें यदि कोई आस्था न करे अथवा उसे कोई न माने, तब भी वह सभीका अपना है। –मानव-दर्शन 90-91

27. अगर आपको उनके बिना अनुकूलता प्रिय है, तो वह उसी प्रकारकी है कि एक सुन्दर कमरा सजा है और आप दोस्तके बिना हैं; एक सुन्दर स्त्री शृंगार करे और पतिसे वंचित रहे, या शरीर आत्मा-रहित हो। आस्तिकवादका न होना जीवनमें अकेले पड़े रहनेके समान है। –सन्त-समागम 2/85

उन्नति

1. शारीरिक उन्नतिके लिये 'सदाचार' परमावश्यक है, मानसिक उन्नतिके लिये 'सेवा' परमावश्यक है, आत्मिक उन्नतिके लिये 'त्याग' परमावश्यक है। –सन्त-समागम 1/37

2. आत्मिक उन्नति होनेपर और किसी उन्नतिकी आवश्यकता नहीं रहती। –सन्त-समागम 1/139

3. अगर आप भौतिक उन्नति करते हैं, तो उसमें संयम, सदाचार, सेवा, त्याग और श्रम होना चाहिये। आस्तिकवादकी उन्नति दृढ़ता, सरल विश्वास और शरणागतिसे होती है। और अध्यात्मवादकी उन्नति विचार, त्याग और निज ज्ञानके आदरसे होती है। –सन्त-समागम 2/82-83

4. प्रत्येक उलझन उन्नतिका साधन है, डरो मत। उलझन-रहित जीवन बेकार है। संसारमें उन्हीं प्राणियोंकी उन्नति हुई है, जिनके जीवनमें पग-पगपर उलझन आयी है। –सन्त-समागम 2/255

5. विकासके लिये जन्म, संस्कार तथा कर्म तीनों ही आवश्यक होते हैं। 'जन्म' केवल छिपी हुई शक्ति है, 'संस्कार' उस छिपी हुई शक्तिको जाग्रत् करता है, 'कर्म' संस्कारके अनुरूप फल देता है। अतः जिस वर्णमें जन्म हो, उसके अनुरूप संस्कार तथा संस्कारके अनुरूप कर्म करना उन्नतिके लिये परम अनिवार्य हो जाता है। –सन्त-समागम 2/268

6. संसार हमारी आवश्यकता अनुभव करे –यह भौतिक उन्नति है, और हमें संसारकी आवश्यकता न रहे –यह आध्यात्मिक उन्नति है। –सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 97

7. अगर तुम दूसरोंके लिये बोलते हो, दूसरोंके लिये सुनते हो, दूसरोंके लिये सोचते हो, दूसरोंके लिये काम करते हो तो तुम्हारी भौतिक उन्नति होती चली जायगी। कोई बाधा नहीं डाल सकता। अगर तुम केवल अपने लिये सोचते हो तो दरिद्रता कभी नहीं जायगी। –संतवाणी 8/17

8. मैं तो इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि हम सबका वर्तमान हम सबके विकासमें हेतु है; चाहे दुःखमय है वर्तमान, चाहे सुखमय है। –संतवाणी 4/98

9. मनुष्यके विकासमें जो प्रेमका विकास है, वह अन्तिम विकास है। स्वाधीनता दूसरे नम्बरका विकास है और उदारता तीसरे नम्बरका विकास है। –साधन-त्रिवेणी 114

उपदेश

1. उपदेश करनेकी जो सेवा है, वह सबसे नीचे दर्जेकी है। -संतवाणी 4/223

2. आप किसीको वह उपदेश नहीं बता सकते, जो वह नहीं जानता है। जब वह अपना ही जाना हुआ नहीं मानता है, तो आपका बताया हुआ मान लेगा ? -संतवाणी 4/223

3. सही बतानेका फल यह नहीं था कि लोग हमारे पीछे ऐसे चिपक जायें कि पीछा न छोड़ें। सही बात बतानेका फल यह था कि इन्हें हमारी जरूरत न रहे और जो काम हमने उनके साथ किया, वह दूसरोंके साथ करने लग जायँ। एक स्वाधीनताका साम्राज्य बन जाय। -संतवाणी 4/225

4. यह जो उपदेश करनेवाली सेवा है, इसको कम-से-कम किया जाय। इस सेवासे मैंने बहुत कठिनाई सही है। आज भी सहनी पड़ती है। -संतवाणी 4/225

5. जरा सोचो, जिनके निर्णयमें तुमको अविचल श्रद्धा नहीं है, उनके उपदेशसे तुम्हारा क्या कल्याण होगा ? -संतवाणी 4/237

6. सबसे बड़ा उपदेशक कौन है ? जो जीवनसे उपदेश करता है। वह सबसे बड़ा वक्ता है, सबसे बड़ा पण्डित है, सबसे बड़ा सुधारवादी है। और सबसे घटिया कौन है ? जो परचर्चा करके उपदेश करता है। कभी व्यक्तियोंकी चर्चा, कभी परिस्थितियोंकी चर्चा। -संतवाणी 3/58

7. कर्तव्यनिष्ठ होनेसे ही कर्तव्यपरायणता फैलती है, समझानेसे नहीं, उपदेश करनेसे नहीं, शासन करनेसे नहीं, भय देनेसे नहीं, प्रलोभन देनेसे नहीं। -संतवाणी 5/251

8. जो मनुष्य नेता या प्रचारक बन जाता है या उपदेष्टा बन जाता है, उसका चित्त शुद्ध होना कठिन है। -संत-सौरभ 53

एकता

1. आज हम स्वरूपसे एकता करनेकी जो कल्पना करते हैं, वह विवेककी दृष्टिसे अपनेको धोखा देना है अथवा भोली-भाली जनताको बहकाना है। –मानवकी मांग 14

2. बाह्य भिन्नताके आधारपर कर्ममें भिन्नता अनिवार्य है, पर आन्तरिक एकता होनेके कारण प्रीतिकी एकता भी अत्यन्त आवश्यक है।........ नेत्रसे जब देखते हैं, तब पैरसे चलते हैं। दोनोंकी क्रियामें भिन्नता है, पर वह भिन्नता नेत्र और पैरकी एकतामें हेतु है। उसी प्रकार दो व्यक्तियोंमें, दो वर्गोंमें, दो देशोंमें एक-दूसरेकी उपयोगिताके लिये ही भिन्नता है। –मानव-दर्शन 172

3. प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, देश यदि दूसरोंकी उपयोगितामें प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता व्यय करें तो एक-दूसरेके पूरक हो सकते हैं और फिर परस्पर स्नेहकी एकता बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुरक्षित रह सकती है, जो विकासका मूल है। –मानव-दर्शन 172

4. आन्तरिक एकताके बिना बाह्य एकता कुछ अर्थ नहीं रखती।........ संघर्षका मूल आन्तरिक भिन्नता है, बाह्य नहीं। अब यह विचार करना होगा कि आन्तरिक भिन्नता क्या है ? तो कहना होगा कि बाह्य भिन्नताके आधारपर प्रीतिका भेद स्वीकार करना। –दर्शन और नीति 1

5. प्राकृतिक नियमके अनुसार दो व्यक्ति भी सर्वांशमें समान रुचि, योग्यता, सामर्थ्यके नहीं होते और न परिस्थिति ही समान होती है। देश-कालके भेदसे भी रहन-सहन आदिमें भेद होता है; किन्तु मानवमात्रके वास्तविक उद्‌देश्यमें कोई भेद नहीं होता। इस उद्‌देश्यकी एकताके आधारपर ही मानव-समाजने मानवमात्रके साथ एकता स्वीकार की है। –दर्शन और नीति 46

6. शरीरका मिलन वास्तवमें मिलन नहीं है। लक्ष्य तथा स्नेहकी एकता ही सच्चा मिलन है। –सन्त-समागम 2/336

7. दो व्यक्तियोंकी भी रुचि, सामर्थ्य तथा योग्यता एक नहीं है; किन्तु लक्ष्य सभीका एक है। यदि इस वैधानिक तथ्यका आदर किया जाय तो भोजन तथा साधनकी भिन्नता रहनेपर भी परस्पर एकता रह सकती है। –मंगलमय विधान 22

8. अपने गुण और पराये दोष देखनेसे पारस्परिक एकता सुरक्षित नहीं रहती। –दर्शन और नीति 64

कर्तव्य

1. जिसे लोग कर्तव्यपरायणता कहते हैं, वह 'भूमि' है। जिसे लोग योग कहते हैं, वह 'वृक्ष' है। जिसे लोग तत्त्वज्ञान कहते हैं, वह 'फल' है। और जिसे लोग रस कहते हैं, वह 'प्रेम' है। –जीवन-पथ 60

2. अकर्तव्यके त्यागमें तुम्हारा पुरुषार्थ है। कर्तव्य-पालन तो स्वतः होता है, उसका अभिमान करनेसे तो कर्तव्य अकर्तव्यके रूपमें बदल जाता है। –जीवन-पथ 64

3. वैराग्य होनेपर तो सब प्रकारके धर्म और कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है। ऐसे ही आत्मरति और प्रेमकी प्राप्ति होनेपर भी कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। –संत-उद्‌बोधन 150

4. दुःखीका कर्तव्य है त्याग और सुखीका कर्तव्य है सेवा। –मानवताके मूल सिद्धान्त 5

5. कर्तव्यपरायणता आ जानेपर अधिकार बिना माँगे ही आ जायगा। –मानवकी मांग 18

6. चाह-रहित होनेसे कर्तव्यपरायणताकी शक्ति स्वतः आ जाती है। –मानवकी मांग 36

7. प्रत्येक मानव बल, योग्यता और परिस्थितिमें समान नहीं है। यह असमानता ही कर्तव्यकी जननी है। समानतामें प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। एक सबल दूसरे सबलके क्या काम आ सकता है ? किसी निर्बलके ही काम आ सकता है। –संत-उद्‌बोधन 141

8. कर्तव्य पूरा करनेपर कर्ताका कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रहता।........ कर्तव्य पूरा होनेपर कर्ताकी जो आवश्यकता थी, उसकी पूर्त्ति हो जाती है और उसकी पूर्त्ति हो जानेपर कर्ताका अस्तित्व अपने लक्ष्यसे अभिन्न हो जाता है। –मानवकी मांग 79

9. दूसरेके अधिकारकी रक्षासे कर्तव्य-परायणता स्वतः आ जाती है, और अपने अधिकारके त्यागसे माने हुए सभी सम्बन्ध टूट जाते हैं। –मानवकी मांग 96-97

10. दूसरोंके अधिकारकी रक्षा और अपने अधिकारका त्याग ही वास्तवमें कर्तव्य है। –मानव-दर्शन 115

11. वास्तविक कर्तव्य वही है, जिससे किसीका अहित न हो और कर्तव्यपालन करनेपर कर्ता अपने लक्ष्यसे अभिन्न हो जाय। –मानवकी मांग 142

12. कर्तव्यनिष्ठ होनेपर जीवन तथा मृत्यु दोनों ही सरस हो जाते हैं और कर्तव्यच्युत होनेपर जीवन नीरस तथा मृत्यु दुःखद एवं भयंकर होती है। –मानवकी मांग 182

13. जो नहीं कर सकते उसके, और जो नहीं करना चाहिये उसके न करनेसे जो करना चाहिये, वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टिसे कर्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक है। –मानव-दर्शन 21

14. कर्तव्यका प्रश्न 'पर' के प्रति है, 'स्व' के प्रति नहीं। कर्तव्यका सम्पादन जो 'पर' से प्राप्त है, उसके द्वारा होता है, 'स्व' के द्वारा नहीं। इस दृष्टिसे कर्तव्य परधर्म है। –मानव-दर्शन 107

15. जो प्रवृत्ति परहितमें हेतु नहीं है, वह कर्तव्य नहीं है। –मानव-दर्शन 107

16. कर्तव्य-पालन उतना आवश्यक नहीं है, जितना अकर्तव्यका त्याग। कारण कि अकर्तव्यका त्याग बिना किये कर्तव्यकी अभिव्यक्ति ही नहीं होती। –मानव-दर्शन 108

17. किये हुएकी फलासक्ति अपने लिये अभीष्ट नहीं है, इसका कर्तव्य-पालनमें कोई स्थान नहीं है। –मानव-दर्शन 109

18. कर्तव्यपरायणता वह विज्ञान है, जिससे मानव जगत्‌के लिये उपयोगी होता है और स्वयं योग-विज्ञानका अधिकारी हो जाता है। –मानव-दर्शन 109

19. सृष्टिकी वस्तुको सृष्टिके हितमें व्यय करना अनिवार्य है, जो वास्तवमें कर्तव्यका स्वरूप है। –मानव-दर्शन 113

20. दूसरोंके कर्तव्यकी स्मृति अपने कर्तव्यकी विस्मृतिमें हेतु है और कर्तव्यकी विस्मृति ही अकर्तव्यकी जननी है। इस दृष्टिसे दूसरोंके कर्तव्यपर दृष्टि रखना ही अपने कर्तव्यसे च्युत होना है, जो विनाशका मूल है। –मानव-दर्शन 118

21. राग तथा क्रोधके रहते हुए न तो कर्तव्य-पालनकी सामर्थ्य ही प्राप्त होती है और न कर्तव्यकी स्मृति ही जाग्रत्‌ होती है, तो फिर कर्तव्य-पालन कैसे सम्भव हो सकता है ? –मानव-दर्शन 119

22. कर्तव्यका अभिमान अकर्तव्यसे भी अधिक निन्दनीय है। कारण कि अकर्तव्यसे पीड़ित प्राणी कभी-न-कभी कर्तव्यकी राह चल सकता है, किन्तु कर्तव्यका अभिमानी तो अकर्तव्यको ही जन्म देता है। –मानव-दर्शन 119

23. कर्तव्यनिष्ठ मानवकी माँग जगत्‌को रहती है।.......जो कर्तव्यनिष्ठ नहीं है, उसकी जगत्‌को कभी आवश्यकता नहीं होती। –मानव-दर्शन 122

24. किसी प्रलोभनसे प्रेरित होकर बलपूर्वक कर्तव्य-पालन करना वास्तविक कर्तव्यपरायणता नहीं है। –मानव-दर्शन 124

25. कर्तव्य-पालनमें असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है, यह निर्विवाद सिद्ध है। –मानव-दर्शन 167

26. जो किसीको भी बुरा समझता है तथा किसीका भी बुरा चाहता है एवं जानी हुई बुराई कर सकता है, वह कभी भी कर्तव्यकी वास्तविकतासे परिचित नहीं हो सकता। कर्तव्य-पालनसे पूर्व कर्तव्यका ज्ञान अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब मानव यह स्वीकार करे कि मैं किसीको बुरा नहीं समझूँगा। -मानव-दर्शन 126

27. निष्काम कर्तासे ही कर्तव्य-पालन होता है। -साधन-निधि 11

28. प्राणोंका मूल्य कर्तव्यसे कम है। कर्तव्यपालनके लिये प्रसन्नतापूर्वक प्राणोंका त्याग कर देना साधन-निधि-सम्पन्न साधकका सहज स्वभाव है। -साधन-निधि 36

29. कर्तव्यका सम्बन्ध प्राप्त परिस्थितिसे है। अप्राप्त परिस्थितिका आह्वान वे ही लोग करते रहते हैं, जो कर्तव्यके नामपर व्यक्तिगत सुखभोगकी रुचिमें आबद्ध हैं। -मूक सत्संग.50

30. भौतिक विकास कर्तव्य-परायणताका बाह्य रूप है और नित्ययोग कर्तव्य-परायणताका आन्तरिक फल है। -मूक सत्संग.95

31. कर्तव्य-परायणता स्वभावसिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं है। कारण कि अपने लिये कुछ भी नहीं करना है और वही करना है, जो कर सकते हैं, जिससे किसीका अहित नहीं है। -मूक सत्संग.111

32. दूसरोंके कर्तव्यको वही देखता है, जो अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता। उन्होंने कृपा नहीं की, यह कैसे जाना ? आपको जो करना है, वह कर डालो। उनको जो करना है, वह स्वयं करेंगे। -संतपत्रावली 1/87

33. अधिकार तो कर्तव्यका दास है। जो अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसको बिना अभिलाषाके भी अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाता है। -संतपत्रावली 1/89

34. कर्तव्यका अन्त योगमें और योग बोध तथा प्रेममें परिणत हो जाता है। इस दृष्टिसे कर्तव्य-परायणता योगकी भूमि है, जो एकमात्र, जो नहीं करना चाहिये, उसके न करनेसे ही साध्य है। -संतपत्रावली 2/124-125

35. मानव कर्तव्यपालनमें स्वाधीन है; परन्तु लोभ, मोह आदि विकारोंके कारण कर्तव्य-परायणतामें अनेक बाधाएँ प्रतीत होती हैं। ऐसा मेरा अनुभव है। -संतपत्रावली 2/184

36. जबतक हम केवल अपने ही मनकी बात पूरी करते रहेंगे, तबतक कर्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकेंगे। कर्तव्यनिष्ठ होनेके लिये हमें दूसरोंके अधिकारोंकी रक्षा करते हुए अपने अधिकारका त्याग करना होगा। -जीवन-दर्शन 88

37. अधिकारकी स्मृति कर्तव्यकी विस्मृतिमें हेतु है। कर्तव्यकी विस्मृति ही अकर्तव्यको जन्म देती है। -दर्शन और नीति 26

38. ऐसा कोई कर्तव्य हो ही नहीं सकता, जिसका सम्बन्ध अप्राप्त परिस्थितिसे हो। जिस किसीको जो कुछ करना है, वह प्राप्त परिस्थितिमें ही हो सकता है। -दर्शन और नीति 43

39. मानव अपने प्रति दूसरोंसे जिस भलाईकी आशा करता है, वही भलाई उसे बिना किसी प्रलोभन तथा भयके दूसरोंके प्रति करनी है। इससे सुन्दर कोई भी कर्तव्य-विज्ञान नहीं हो सकता। -दर्शन और नीति 71

40. जितनी मान्यताएँ हैं, वे कर्तव्य और अकर्तव्यकी प्रतीकमात्र हैं। जिन मान्यताओंसे अकर्तव्यकी उत्पत्ति होती है, वे सभीके लिये त्याज्य हैं और जो मान्यताएँ कर्तव्यको जन्म देती हैं, वे सभीके लिये मान्य हैं। -दर्शन और नीति 108

41. किसीके विकासके लिये किसीका ह्रास करना विवेक-विरोधी कार्य है। कर्तव्य-विज्ञानकी दृष्टिसे जिस विकासके मूलमें किसीका विनाश है, उसका परिणाम विनाश है, विकास नहीं। -दर्शन और नीति 109

42. कर्तव्य-पालनमें असमर्थताकी बात मनमें तभी आती है, जब हम प्राप्त सामर्थ्यका व्यय सुखभोगमें करने लगते हैं। -चित्तशुद्धि 19

43. जो कर्ताके अधीन नहीं है, उसपर दृष्टि रखना कर्ताका दोष है। जैसे खेतमें दाना बोनेका कृषकका अधिकार है, पर वह दाना प्राकृतिक नियमोंके अनुरूप ही उगेगा और फल देगा। -चित्तशुद्धि 44

44. कर्तव्यका वास्तविक ज्ञान तथा सामर्थ्य उसे ही प्राप्त होता है, जो राग-द्वेष-रहित हो। -चित्तशुद्धि 132

45. अपने प्रति वैरभाव, अपना अनादर, अपनी हानि और अपने प्रति स्नेहका अभाव किसी प्राणीको अभीष्ट नहीं है। जो अपनेको अभीष्ट नहीं है, वही दूसरोंके प्रति कर डालना क्या अकर्तव्य नहीं है ? अर्थात् अकर्तव्य है। -चित्तशुद्धि 194

46. प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता और वस्तुके अनुरूप ही कर्तव्यपालन हो सकता है। इस दृष्टिसे कर्तव्यपालनमें प्राणी सर्वदा स्वाधीन है। -चित्तशुद्धि 194-195

47. कर्तव्यपरायणता समस्त साधनोंकी भूमि है। -चित्तशुद्धि 349

48. अपना अधिकार दूसरेका कर्तव्य है और दूसरेका अधिकार अपना कर्तव्य है। -चित्तशुद्धि 364

49. जिस प्रवृत्तिके मूलमें वास्तविक उद्देश्य नहीं है, केवल प्रवृत्ति-जनित सुख ही जिसका उद्देश्य है, वह प्रवृत्ति कभी भी कर्तव्यरूप नहीं हो सकती। -चित्तशुद्धि 432

50. कर्तव्यनिष्ठ प्राणीसे जन-समाजमें बिना प्रयत्न स्वाभाविक ही कर्तव्य-परायणता फैलती है। -सन्त-समागम 2/163

51. कर्तव्यका वास्तविक ज्ञान राग-द्वेष-रहित होनेपर ही हो सकता है। -सन्त-समागम 2/304

52. ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जो अपने प्रति दूसरोंसे कर्तव्यकी आशा न रखता हो। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्तव्यकी माँग कर्तव्य-पालनका आदेश देती है। -साधन-तत्त्व 37

53. जगत्‌की सत्ता स्वीकार करनेपर कर्तव्य-परायणताको अपना लेना अनिवार्य है। -साधन-तत्त्व 98

54. वर्तमान कर्तव्य-कर्म आस्तिककी पूजा, अध्यात्मवादीका साधन और भौतिकवादीका स्वधर्म है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 68

55. प्रत्येक कार्यके पीछे कर्ताका 'भाव' और भावके पीछे 'ज्ञान' और ज्ञानके पीछे 'लक्ष्य' होता है। जब कर्ता यह मान लेता है कि मुझे जो कुछ मिला है, वह मेरा है और मेरे लिये है, तब उसकी भावनाओंमें अशुद्धि आ जाती है, जो अकर्तव्य, असाधन और आसक्तिकी जननी है, जिसका मानव-जीवनमें कोई स्थान नहीं है। -पाथेय 150

काम

1. काम माने उसका आकर्षण जिसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। –संतवाणी 3/106

2. जहाँतक संसारकी सत्यता और सुन्दरताका भास है, वहाँतक काम-ही-काम है। –संतवाणी 3/132

3. जिसको अपने शरीरमें सत्यता और सुन्दरता दिखाई देती है, उसीमें काम पैदा होता है। –संतवाणी 3/133

4. प्यारसे भी काम-नाश होता है और विचारसे भी काम-नाश होता है। –संतवाणी 3/134

5. जिसका कोई प्रिय होता है, उसके मनमें कभी नीरसता नहीं आती। नीरसता नहीं आती तो कामकी उत्पत्ति नहीं होती। कामकी उत्पत्ति नहीं होती तो विकारोंका जन्म ही नहीं होता। –संतवाणी 3/140

6. देहकी तद्रूपता ही कामकी जननी है और तत्त्व-जिज्ञासा ही कामकी मृत्यु है। –मानवकी मांग 201

7. देहकी मलिनताका ज्ञान कामको खा लेता है। –मानवकी मांग 202

8. कामका जन्म अपनेको देह माननेसे होता है, जो वास्तवमें अविवेक है। –मानवकी मांग 202

9. शरीरकी सत्यता तथा सुन्दरता मिट जानेपर कामका अन्त हो जाता है। कामका अन्त होते ही राम अपने-आप आ जाते हैं। –संतपत्रावली 1/110

10. जो सभीका है, वही अपना है। अपना अपनेको स्वभावसे प्रिय होता है। जिसका कोई प्रिय है, उसके जीवनमें नीरसता नहीं रहती। नीरसताका नाश होते ही काम स्वतः नष्ट हो जाता है। –सफलताकी कुंजी 104

11. खिन्नताकी भूमिमें ही कामकी उत्पत्ति होती है और कामकी उत्पत्ति ही अस्वाभाविक इच्छाओंको जन्म देती है। –चित्तशुद्धि 266

12. समस्त आसक्तियोंका अन्त होनेपर भी प्राणी काम-रहित हो जाता है और प्रेमकी प्राप्तिसे भी काम-रहित हो जाता है। –चित्तशुद्धि 392

13. बुद्धि और विवेकके मध्यमें जो अहंभाव है, उसीमें कामका निवास है। इसी कारण कामना और जिज्ञासा दोनों ही अहंभावमें निवास करती हैं। –चित्तशुद्धि 396

14. परिवर्तनशील, सीमित सौन्दर्य ही कामका स्वरूप है अथवा यों कहो कि उत्पत्ति-विनाशयुक्त वस्तुओंमें सत्यता, सुन्दरता एवं प्रियताका भास ही ‘काम’ है। –चित्तशुद्धि 423-424

15. देहाभिमानसे कामकी उत्पत्ति होती है और देहाभिमान गल जानेपर कामका अन्त होता है। –सन्त-समागम 2/329

16. इस वैरी कामपर विजय पानेके लिये साधकको बड़ी ही सावधानी तथा विवेकपूर्वक कड़ी साधना करनी होगी, जिसका प्रथम पाठ अकेले रहना, अपने निकट अर्थ न रखना और सेवाके अतिरिक्त सारा समय सार्थक चिन्तनमें व्यतीत करना है। –सन्त-समागम 2/333

17. वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति एवं अवस्थाके प्रति आकर्षणको ‘काम’ कहते हैं अर्थात् ‘नहीं’ के आकर्षणका नाम ही ‘काम’ है। ‘नहीं’ के आकर्षणको अस्वीकार करनेसे और ‘है’ (प्रभु) के अस्तित्वको स्वीकार करनेसे ‘काम’ का नाश हो जाता है और राम मिल जाते हैं। –सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 94

18. शरीरकी सत्यता तथा सुन्दरता एवं इन्द्रियजन्य ज्ञानका सद्भाव जबतक है, तबतक कामका अन्त नहीं हो पाता। –मानवताके मूल सिद्धान्त 76

19. जब साधक प्राप्त विवेकके द्वारा शरीरके वास्तविक स्वरूपका दर्शन कर लेता है, तब शरीरकी सत्यता और सुन्दरता मिट जाती है। उसके मिटते ही कामका अन्त हो जाता है। –संत-सौरभ 11

कामना

1. जो कुछ नहीं चाहता, वही प्रेम कर सकता है और जो कुछ नहीं चाहता, वही मुक्त हो सकता है। -मानवकी मांग 34

2. कामनाके रहते हुए जिज्ञासा पूरी नहीं होती। -संतवाणी 4/73

3. जिस कालमें समस्त कामनाएँ नाश होती हैं, उसी कालमें जिज्ञासाकी पूर्त्ति होती है। -संतवाणी 4/79

4. क्या आपने कभी यह भी सोचा कि आपका आपके मनपर इतना अधिकार है कि आपके मनमें गलत बात नहीं आये ? हमारेमें तो है नहीं, इसलिये हम हमेशा कहते हैं कि हे प्रभो ! तुम्हारे मनकी बात पूरी हो। क्यों कहते हैं ? यह इसलिये कहते हैं कि हमें नहीं भरोसा है कि कब मनमें बुरी बात आ जाय। -संतवाणी 4/211

5. मेरा अपना अबतकका अनुभव है कि जो हम चाहते हैं, वह न हो, इसीमें हमारा हित है। हमने तो जबतक अपने मनकी मानी है, अपने मनकी बात की है, तो सिवाय पतनके, सिवाय अवनतिके हमें तो कुछ परिणाममें मिला नहीं।........ मैं आपके सामने अपनी अनुभूति निवेदन कर रहा हूँ, और इससे लाभ उठाना चाहते हैं तो अपनी चाही मत करो। प्रभुकी चाही होने दो। प्रभु वही चाहते हैं, जो अपने-आप हो रहा है। -संतवाणी 4/215

6. अचाह होना जीते-जी मरना है। -संतवाणी 3/94

7. निर्मम हुए बिना कोई निष्काम नहीं हो सकता। -संतवाणी 5/17

8. जो तुम चाहते हो, वह नहीं होता, इसलिये आप अभागे नहीं हैं। आप चाहते हैं, इसलिये अभागे हैं। और यह जानते हुए कि जो चाहते हैं सो नहीं होता, फिर भी चाहते हैं। -संतवाणी 5/93

9. जब हम कुछ नहीं लेना चाहते हैं, तब शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता। और जब शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता, तब योग हो जाता है। -संतवाणी 5/201-203

10. अगर हम अचाह हो जायँ और मरनेसे न डरें तो अमर जीवन मिलता है। -संतवाणी 3/91

11. कामना यदि पूरी होती है तो विधानसे, कामनासे नहीं। वस्तु यदि रहती है तो विधानसे ममतासे नहीं। -संतवाणी 6/19

12. जो परमात्मासे कुछ भी चाहता है, वह परमात्माको कभी पसन्द नहीं करता। परमात्माको वही पसन्द करता है, जो परमात्मासे कुछ नहीं चाहता। -संतवाणी 7/53

13. जो कुछ नहीं चाहता, वही अभय होता है और दूसरोंको अभय बनाता है। -संतवाणी 7/136

14. हे प्यारे, तुम अपने हो। तुमसे और कुछ नहीं चाहिये। क्यों नहीं चाहिये ? क्योंकि अपनेपनसे बढ़कर भी कोई और चीज होती तो हम जरूर माँगते। -जीवन-पथ 28

15. यदि सभीके मनकी बात पूरी नहीं हुई और हमारे भी मनकी बात पूरी नहीं हुई, तो हम अपने लिये एक नया विधान क्यों चाहते हैं ? -प्रेरणा पथ 187

16. अपना मूल्य संसारसे अधिक बढ़ाओ, आप अचाह हो जायँगे। -संत-उद्‌बोधन 9

17. संसारसे सम्बन्ध है सेवा करनेके लिये और परमात्मासे सम्बन्ध है प्रेम करनेके लिये। न संसारसे कुछ चाहिये, न परमात्मासे कुछ चाहिये। -संत-उद्‌बोधन 12

18. अपनेको देहसे अतीत अनुभव करनेपर किसीको भी संसारकी चाह नहीं रहती। -मानवकी मांग 30

19. अचाह होनेसे कोई क्षति नहीं होती; क्योंकि चाह-पूर्त्तिके पश्चात् भी प्राणी उसी दशामें आ जाता है, जो चाहकी उत्पत्तिसे पूर्व थी। तो फिर चाह-पूर्त्ति करनेका प्रयत्न भी निरर्थक सिद्ध हुआ। -मानवकी मांग 36

20. यदि हम इच्छा-पूर्त्तिका सुख लेते रहेंगे तो पुनः इच्छाएँ उत्पन्न होती रहेंगी और यह चक्र चलता ही रहेगा। -मानवकी मांग 64

21. अचाह होते ही 'करना' 'होने' में विलीन हो जाता है और फिर किसी प्रकारका अभिमान शेष नहीं रहता। -मानवकी मांग 136

22. आस्तिक यह भलीभाँति जानता है कि जो बात मेरे मनकी नहीं है, वह मेरे प्यारेके मनकी है। -मानवकी मांग 168

23. चाहसे रहित वे ही हो सकते हैं, जिन्होंने अपनेको सब प्रकारसे उस अनन्तके समर्पण कर दिया है। -मानवकी मांग 192

24. कामनाओंका अन्त होते ही असत्‌से असंगता प्राप्त होती है, जो असत्‌के ज्ञानमें हेतु है। -मानव-दर्शन 37

25. सपूर्त्ति परिवर्तनमें स्थिति स्वीकार करना भूल है। इस भूलसे ही कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। -साधन-निधि 9

26. माँग उसीकी होती है, जिसे देखा नहीं है और कामना उसीकी होती है, जिसे देखा है। -मानव-दर्शन 93

27. मिले हुएमें अहम्-बुद्धि और मम-बुद्धि स्वीकार करनेसे ही कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। -साधन-निधि 11

28. किसी अभ्याससे कामनाओंका नाश नहीं होता। -साधन-निधि 12

29. कामनापूर्त्तिमें पराधीनता है, त्यागमें नहीं। -साधन-निधि 13

30. निष्कामता एक वास्तविकता है। इस दृष्टिसे सत्संगसे निष्कामता और निष्कामतासे सत्संग स्वतः सिद्ध होता है। कामना असत्‌का संग उत्पन्न करती है। असत्‌के संगसे ही समस्त विकारों तथा अभावोंका जन्म होता है। -साधन-निधि 13

31. पराधीन प्राणीके जीवनमें न तो उदारता ही आती है और न प्रेम ही की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण पराधीनताका नाश करना अनिवार्य है, जो एकमात्र निष्कामतासे ही साध्य है। -साधन-निधि 14

32. कामना-रहित होते ही मानवका मूल्य समस्त विश्वसे अधिक हो जाता है और वह विश्वके आश्रय तथा प्रकाशकके प्रेमका अधिकारी बन जाता है। -साधन-निधि 14

33. कामना मानवको सभीके लिये अनुपयोगी कर देती है। -साधन-निधि 14

34. योग, बोध और प्रेमसे विमुख करनेमें कामना ही हेतु है। -साधन-निधि 15

35. अचाह होते ही सेवा और प्रेम सहज हो जाते हैं। -साधन-निधि 23

36. प्रियता और उदारता तभी सुरक्षित रहती है, जब साधकको किसीसे कुछ नहीं चाहिये। -साधन-निधि 59

37. कामनापूर्त्तिकी आशामें जो सुखद कल्पना है, वह कामनापूर्त्ति-कालमें नहीं है। -मूक सत्संग.35

38. शान्ति किसीके आश्रयसे अभिव्यक्त नहीं होती, अपितु निर्ममतासे साध्य निष्कामता ही शान्तिमें हेतु है। -मूक सत्संग.36-37

39. निष्काम साधकके लिये आवश्यक वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य प्रदान करनेको प्रकृति लालायित रहती है। -मूक सत्संग.65

40. योगियोंका योग, विचारशीलोंका बोध एवं प्रेमियोंका प्रेम निष्कामताकी भूमिमें ही पोषित होता है। -मूक सत्संग.65

41. जिसे कुछ भी चाहिये, वह किसीको अपना नहीं कह सकता और न सुने हुए प्रभुमें अविचल आस्था ही सुरक्षित रख पाता है और न दूसरोंसे सुखकी आशाका ही त्याग कर पाता है। -मूक सत्संग.65

42. यदि कोई यह कहे कि निष्काम होनेसे तो भौतिक विकास ही न होगा; कारण कि कामनासे प्रेरित होकर ही मानव भौतिक उन्नतिमें प्रवृत्त होता है, पर वास्तविकता यह नहीं है। भौतिक विकास प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोग अर्थात् वर्तमान कर्तव्य-कर्मसे होता है।... ...... भौतिक उन्नति कामनायुक्त प्राणियोंकी होती है, इसमें लेशमात्र भी वास्तविकता नहीं है। -मूक सत्संग.93

43. अप्राप्तकी कामना सिद्ध करती है कि हमारे जीवनमें दरिद्रता है। -संतवाणी 5/37

44. कामना कर्तव्य-परायणतामें बाधक है, सहायक नहीं। कामनायुक्त प्राणी सदैव अपने अधिकार और दूसरोंके कर्तव्यपर ही दृष्टि रखता है। -मूक सत्संग.93

45. किसी भी प्रकारकी कामना न रखनेवाला 'राजाओंका राजा'; जो शक्ति प्राप्त है उससे कुछ कम कामना रखनेवाला 'धनी'; शक्तिके समान कामना रखनेवाला 'मजदूर'; शक्तिसे अधिक कामना रखनेवाला 'कंगाल' है। -संतपत्रावली 1/12

46. कामना ही क्रोधमें हेतु है, चाहे वह शुभ कामना हो अथवा अशुभ। यद्यपि अशुभसे शुभ श्रेष्ठ है, परन्तु शुभ कामना भी दुःखका कारण है। -संतपत्रावली 1/37

47. इच्छाओंकी उत्पत्ति दुःखका मूल है। इच्छाओंकी पूर्त्ति सुखका मूल है। इच्छाओंका मिट जाना आनन्दका मूल है। -संतपत्रावली 1/65

48. यदि जीवन और मृत्युके झंझटोंसे बचना चाहते हो तो सब प्रकारकी इच्छाओंका अन्त कर डालो; क्योंकि इच्छाओंकी पूर्त्तिके लिये जीवन मिलता है और जीवनकी उत्पत्तिके लिये मृत्यु होती है। -संतपत्रावली 1/67

49. सर्व कामनाओंका अन्त होनेपर दैवके आश्रय शरीर छोड़ देना संन्यासीका धर्म है, क्षत्रियका नहीं। -संतपत्रावली 2/4

50. आवश्यकतानुसार सभी बातें अपने-आप होती रहती हैं; किन्तु कामनापूर्त्तिका प्रलोभन प्राणीको शान्त नहीं रहने देता। -पाथेय 91

51. चाह-रहित होनेमें ही समस्त विकास निहित है –यह महामन्त्र अपना लेनेपर जो करना चाहिये, वह स्वतः होने लगता है। -पाथेय 100

52. निष्कामता आ जानेपर सभी प्रकारकी अनुकूलताएँ आशासे अधिक आ जाती हैं और प्रतिकूलताएँ भयभीत नहीं कर पातीं। परन्तु अनन्तकी अहैतुकी कृपाका आश्रय लिये बिना निष्कामताके साम्राज्यमें प्रवेश नहीं होता। -पाथेय 140

53. प्रमादवश मानव अभावजनित वेदनाको कामनापूर्त्तिके सुखसे मिटानेका मिथ्या प्रयास करने लगता है; जबकि प्रत्येक कामना-पूर्त्तिका सुख नवीन कामनाको जन्म देता है। -पाथेय 193

54. जिसे कभी भी कुछ नहीं चाहिये, वही आप्तकाम है। आप्तकाम होते ही भोग, मोह और आसक्तिका नाश और योग, बोध तथा प्रेमकी प्राप्ति स्वतः होती है। -पाथेय 257

55. निष्कामता मानव-जीवनका ऐश्वर्य है। निष्काम होनेपर मानव विश्वविजयी स्वतः हो जाता है। -पाथेय 196

56. अचाह होते ही न तो पराधीनता रहती है और न अशान्ति रहती है। -संतवाणी 3/152

57. कामनाओंकी निवृत्तिमें जिज्ञासाकी पूर्ति और जिज्ञासाकी पूर्तिमें प्रेमकी प्राप्ति निहित है। -जीवन-दर्शन 49

58. आदरकी कामना प्राणीमें तभीतक रहती है, जबतक वह आदरके योग्य नहीं है। -चित्तशुद्धि 313

59. निष्कामता उसे ही प्राप्त हो सकती है, जो वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदिसे अपना मूल्य बढ़ा लेता है। -जीवन-दर्शन 165

60. निष्कामतारूपी सूर्यके सम्मुख होते ही छायारूपी वस्तुएँ हमारे पीछे दौड़ती हैं और विमुख होते ही हम छायारूपी वस्तुओंके पीछे दौड़ते हैं, पर उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते। -जीवन-दर्शन 167

61. अपनेको देह मान लेनेपर कामनाओंका उदय होता है; क्योंकि ऐसी कोई कामना नहीं है, जिसका सम्बन्ध देहसे न हो। -जीवन-दर्शन 284

62. जिसे कुछ भी चाहिये, वह उदार तथा प्रेमी नहीं हो सकता। -सफलताकी कुंजी 75

63. चाह-रहित होनेपर साधकके जीवनमें आलस्य तथा अकर्मण्यताकी गन्ध भी नहीं रहती; क्योंकि अचाह होते ही प्राप्त सामर्थ्यका सदुपयोग भी होने लगता है और आवश्यक सामर्थ्यकी अभिव्यक्ति भी स्वतः होती है। -सफलताकी कुंजी 93

64. चाह-रहित होनेपर साधकमें कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं अभिन्नताकी अभिव्यक्ति होती है। -सफलताकी कुंजी 93

65. निष्कामता आ जानेपर साधक समताके साम्राज्यमें प्रवेश पाता है, जो सर्वतोमुखी विकासकी भूमि है। इस दृष्टिसे निष्कामता अनिवार्य है। -सफलताकी कुंजी 95

66. प्रत्येक प्राणी कामना-पूर्तिके पश्चात् उसी स्थितिमें आता है, जिस स्थितिमें वह कामना-पूर्तिसे पूर्व था। इस दृष्टिसे कामना-पूर्तिका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। -चित्तशुद्धि 88

67. कामनापूर्तिमें जितना सुख भासता है, उससे कहीं अधिक उसके परिणाममें दुःख अपने-आप आता है। -चित्तशुद्धि 185-186

68. यद्यपि इच्छाओंकी उत्पत्तिसे पूर्व भी जीवन है और उसमें किसी प्रकारका अभाव नहीं है; परन्तु उस जीवनकी ओर प्राणी ध्यान नहीं देता। -चित्तशुद्धि 187-188

69. ऐसा कोई दोष है ही नहीं, जिसके मूलमें कोई कामना-उत्पत्ति न हो, और ऐसा कोई दुःख है ही नहीं, जिसके मूलमें कामना-अपूर्ति न हो। -चित्तशुद्धि 269

70. प्रत्येक श्रमके मूलमें कोई-न-कोई कामना रहती है। उसकी पूर्तिके लिये ही श्रमकी अपेक्षा है। कामनाएँ जिस भूमिसे उपजती हैं, वह भूमि अविवेकसिद्ध है अर्थात् निज विवेकके अनादरमें ही कामकी उत्पत्ति होती है, और कामसे ही कामनाएँ जन्म पाती हैं। -चित्तशुद्धि 423

71. भगवान् इच्छा पूरी नहीं करते, वे तो भक्तको इच्छा-रहित करते हैं। -सन्त-जीवन-दर्पण 88

72. इच्छाओंके रहते हुए प्राण चले जायँ तो 'मृत्यु' हो गयी और प्राण रहते हुए इच्छाएँ चली जायँ तो 'मुक्ति' हो गयी। -सन्त-जीवन-दर्पण 94

73. यदि किसी प्रकारकी अभिलाषा बाकी है तो समझना चाहिये कि अभी अनन्त अभिलाषाएँ बाकी हैं; क्योंकि त्याग कुलका होता है, जुज़का नहीं। -सन्त-समागम 1/19

74. इच्छाओंका कम हो जाना कुछ भी अर्थ नहीं रखता; क्योंकि जिस प्रकार एक बीजमें अनन्त वृक्ष छिपे रहते हैं, उसी प्रकार एक इच्छामें अनन्त इच्छाएँ छिपी रहती हैं। -सन्त-समागम 1/159

75. सच्ची चाह अधिक कालतक ठहर नहीं पाती, पूर्ण हो जाती है और बनावटी चाह अधिक कालतक ठहरती है। -सन्त-समागम 1/199

76. यदि हमारे मनकी बात होती है तो समझना चाहिये कि भगवान् हमें दूर रखना चाहते हैं, और हमारे मनकी बात नहीं हुई तो भगवान् हमें अपनाना चाहते हैं। -सन्त-समागम 2/80

77. सब प्रकारकी चाहका अन्त होते ही निर्विकल्प स्थिति स्वतः हो जाती है; क्योंकि किसी-न-किसी प्रकारकी चाह होनेपर ही संकल्पोंकी उत्पत्ति होती है अर्थात् निर्विकल्पता भंग हो जाती है, जो वास्तवमें प्रमाद है। -सन्त-समागम 2/191

78. जो कुछ भी चाहता है, वह होनेमें प्रसन्न और करनेमें सावधान नहीं रह सकता। -सन्त-समागम 2/344

79. असत्की कामना ही असत्को जीवित रखती है। -साधन-तत्त्व 82

80. यदि भगवान्के पास कामना लेकर जायँगे तो भगवान् संसार बन जायँगे और यदि संसारके पास निष्काम होकर जायँगे तो संसार भी भगवान् बन जायगा। अतः भगवान्के पास उनसे प्रेम करनेके लिये जायँ और संसारके पास सेवा करनेके लिये, और बदलेमें भगवान् और संसार दोनोंसे कुछ न चाहें तो दोनोंसे ही प्रेम मिलेगा। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 75

81. कामनाओंकी उत्पत्तिका मूल कारण शरीरसे एकता स्वीकार करना है, जो वास्तवमें भूल है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 24

82. जिसका कुछ नहीं है, सचमुच उसको कुछ नहीं चाहिये। ममतासे ही कामनाका जन्म होता है। -संतवाणी 8/73

83. जब अपने मनकी इच्छाके विपरीत हो, तब साधकको समझना चाहिये कि अब प्रभु अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं।
-संत-सौरभ 133

84. जो हमें चाहिये, वह बिना माँगे ही हमें मिलता है और जो बिना माँगे नहीं मिलता है, वह माँगनेसे भी नहीं मिलता। तो फिर माँगनेका अर्थ क्या हुआ ? -संतवाणी 8/11

85. जबतक हमें वह चाहिये, जो अपनेमें नहीं है, जो अभी नहीं है, उससे भिन्न यदि चाहिये तो गरीबी मिट सकती है क्या ? हाँ, गरीबीका रूप बदल जायगा। रूप क्या बदल जायगा ? जैसे 3/4 लिखते हैं, उसे कोई 75/100 लिख दे। -संतवाणी 8/12

86. अपनेको जो चाहिये, वह अपनेमें है। -संतवाणी 8/83

87. परमात्मासे यदि कुछ भी माँगेंगे तो आपका सम्बन्ध परमात्मासे तो रहेगा नहीं, जो हम माँगेंगे, उससे हो जायगा।
-संतवाणी 8/71

88. सही काम करनेसे सारा संसार आपसे प्रसन्न हो जायगा, और कुछ न चाहनेसे आपकी कीमत संसारसे अधिक हो जायगी।
-संतवाणी 8/76

89. जबतक मनुष्य अपने मनकी बात पूरी करना चाहता है, तबतक उसमें छिपा हुआ हिंसा-भाव विद्यमान रहता है। कर्ताका भाव ही हिंसा और अहिंसामें कारण है, क्रिया नहीं। भावसे ही चित्त अशुद्ध होता है और भावसे ही शुद्ध होता है। -संत-सौरभ 115

90. हम सब यह निर्णय कर लें कि आजसे सुननेवालोंकी खुशीके लिये बोलेंगे, खिलानेवालेकी खुशीके लिये खायेंगे, मिलनेवालेकी प्रसन्नताके लिये मिलेंगे, तो बताओ, आपने इसमें कौन-सा तप किया ? जो सत्य सामने आया, उसे अपनाया। इस सत्यके अपनानेसे आप अचाह हो जायँगे और जगत्‌के काम आयेंगे। -संतवाणी 7/153-154

91. कामना-पूर्तिके अन्तमें हम उसी स्थितिमें आ जाते हैं, जिस स्थितिमें कामना-उत्पत्तिसे पूर्व हैं। परन्तु पुनः कामना-पूर्तिके प्रलोभनसे नवीन कामनाको उत्पन्न करते हैं। -संतवाणी 6/1

92. आप सोचिये तो सही, जिससे आप सुखकी आशा करते हैं, क्या वह स्वयं दुःखी नहीं है ? किसी निर्धनसे कोई धनकी आशा करे, किसी निर्बलसे कोई बलकी आशा करे, तो यह आशा भ्रमात्मक नहीं है ? -संतवाणी 5/248-249

93. अगर आप यह मानते हैं कि सत्यकी जिज्ञासाके साथ-साथ असत्‌की कामना भी है, तो कहना पड़ेगा कि सत्यकी जिज्ञासाके नामपर किसी असत्‌का ही भोग करना चाहते हैं। -संतवाणी 4/241

94. यह पराधीनता जो जीवनमें आ गयी है कि संसार और परमात्मा मिलकर हमारे मनकी बात पूरी कर दें अर्थात् दूसरे लोग हमारे काम आ जायँ, तो जीवनमें पराधीनता, जड़ता और अभाव रहेगा ही। -संत-उद्‌बोधन 81

95. हमने अपनेमें जो चाह पैदा कर ली है, यही हमारे और प्रभुके बीचमें मोटा परदा कहो, चाहे गहरी खाई कहो, बन गयी है।
-संत-उद्‌बोधन 145

कृपा

1. यह निर्विवाद सत्य है कि जो कुछ स्वतः हो रहा है, उसमें उनकी अहैतुकी कृपा सभीका कल्याण कर रही है। इतना ही नहीं, जो कुछ हो रहा है, उसमें उनकी कृपाका नित-नव-दर्शन है, नित-नव-रस है। पर इसका अनुभव उन्हीं को होता है, जो होनहारमें सदैव प्रसन्न रहते हैं। –मानवकी मांग 193

2. यदि पूर्वजन्मकी स्मृति रहे तो उन्नति करनेमें विघ्न होगा। अतः विस्मृति भगवत्कृपा है; क्योंकि आवश्यक है। –सन्त-समागम 1/95

3. कृपा यद्यपि सभीपर होती है, परन्तु उस कृपाका अनुभव तब होता है, जब हम सब प्रकारसे उनके हो जाते हैं। प्रेमपात्रके सिवा किसी सत्ताको स्वीकार न करना –यही उनका हो जाना है। –सन्त-समागम 1/175

4. अपने दोष देखनेकी दृष्टिका उत्पन्न होना भगवान्‌की विशेष कृपा है। –सन्त-समागम 2/160

5.. उनकी अहैतुकी कृपा आवश्यक वस्तु बिना माँगे ही दे देती है और अनावश्यक माँगनेपर भी नहीं देती। इस दृष्टिसे कुछ भी माँगना अपनी बेसमझीका परिचय देना है और उनके मंगलमय विधानका अनादर करना है। –संतपत्रावली 2/47

6. क्या वह भी भगवान् हो सकता है, जो कृपा न करे ? यदि भगवान् कृपा न करते तो क्या हमें मानव-जीवन मिलता ? मानव-जीवन मिलना ही उसकी हमपर अहैतुकी कृपा है। –मानवकी मांग 51

7. महाघोर मोहरूपी समुद्रसे क्या कोई भी प्राणी अपने बलसे पार हो सकता है ? कदापि नहीं। उनका होकर ही उन्हें पा सकता है और उनकी कृपामात्रसे ही अनन्त संसारसे पार हो सकता है। –सन्त-समागम 2/166

8. जो अपनेको समर्पित कर देता है, वही कृपाका अधिकारी है। कामनायुक्त प्राणी समर्पण कर नहीं पाता। –सन्त-समागम 1/169

9. भक्ति भगवान्‌का स्वभाव है, इसीसे वह भक्तोंको उनकी कृपासे ही प्राप्त होती है। सीमित स्वीकृतियोंका त्याग होते ही पतित-से-पतित भी कृपा-पात्र हो जाता है। प्रेमपात्र कृपा करनेके लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतः हमको शीघ्रातिशीघ्र मानी हुई स्वीकृतियोंसे असंग हो जाना चाहिये। –सन्त-समागम 2/275

10. प्रेमपात्रकी अहैतुकी कृपाका बल सभी बलोंसे श्रेष्ठ है; क्योंकि प्रेमपात्रकी कृपा प्रेमपात्रको मोहित करनेमें समर्थ है। अतः जिन प्राणियोंने उनकी कृपाका सहारा लिया, वे सभी मुक्त हो गये, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है। –सन्त-समागम 2/322

11. लोग कहते हैं कि 'भगवान् न्यायकारी हैं'; परन्तु साधकको तो यही समझना चाहिये कि 'वे तो सदैव दया करनेवाले हैं'। यही कारण है कि वे दी हुई शक्तियोंका दुरुपयोग करनेवालोंको दण्ड नहीं देते। –संत-सौरभ 22

12. सत्पुरुषोंका संग मिलनेमें प्रारब्धको हेतु नहीं मानना चाहिये। सत्पुरुषोंका संग भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मिलता है। –संत-सौरभ 30

13. हरेक परिस्थितिमें प्रभुकी कृपाका दर्शन करनेसे और उसका आदर करनेसे भगवान्‌की कृपा फलीभूत होती है। –संत-सौरभ 30-31

14. जिसपर भगवान्‌की कृपा होती है, उसको दुनियासे ऐसा थपेड़ा मिलता है कि फिर वह उसकी ओर मुँह नहीं करता। –संत-सौरभ 81

15. भगवत्कृपाका अनुभव उस साधकको होता है, जिसको उनकी कृपापर पूर्ण विश्वास है। जो हर समय हरेक परिस्थितिमें उनकी कृपाकी ही बाट जोहता रहता है। –संत-सौरभ 135

16. किसी भी साधकको यह नहीं समझना चाहिये कि 'मुझे अमुक प्रकारकी योग्यता प्राप्त नहीं है, इसलिये मुझे भगवान् नहीं मिल सकते'। यह मानना भगवान्‌की महिमाको न जानकर उनकी कृपाका अनादर करना है; क्योंकि भगवान् अपनी कृपासे प्रेरित होकर ही साधकको मिलते हैं। –संत-सौरभ 142

17. अन्तिम साधन जीवका पुरुषार्थ नहीं है। वह तो भगवान्‌की कृपा है, उसीपर साधकको निर्भर रहना चाहिये। –संत-सौरभ 151

18. 'दया' तो हरेक दुःखीपर हो सकती है; परन्तु जिस दयाके साथ अपनत्व और प्रेमका भाव अधिक हो, उसे 'कृपा' कहा जा सकता है। –संत-सौरभ 152

19. अपने बलका अभिमान छोड़कर साधक जब यह विकल्प-रहित दृढ़ विश्वास कर लेता है कि मुझपर भगवान्‌की कृपा अवश्य होगी, मैं उनका कृपापात्र हूँ, उसी समय उसपर भगवान्‌की कृपा अवश्य हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। –संत-सौरभ 160

20. भगवान्‌की कृपापर निर्भर रहे। भगवान्‌की कृपासे ही मनुष्य भगवान्‌को पा सकता है। –संत-सौरभ 197

21. अनन्तकी अहैतुकी कृपाका आश्रय लिये बिना निष्कामताके साम्राज्यमें प्रवेश नहीं होता। –पाथेय 140

22. प्रभु अनन्त हैं, उनकी कृपा भी अनन्त है; अतः उनकी कृपासे जो कुछ मिलता है, वह भी अनन्त मिलता है। प्रभुकी प्राप्तिका साधन भी प्रभुकी कृपासे ही मिलता है। –संत-सौरभ 215-216

23. आप सच मानिये, उस अनन्तकी अहैतुकी कृपा निरन्तर योगकी, ज्ञानकी, प्रेमकी वर्षा कर रही है। परन्तु दुःखकी बात तो यह है कि हम उस कृपाके द्वारा जो वर्षा हो रही है, उसका उपयोग नहीं कर पाते। आप कहें, कैसे उपयोग नहीं कर पाते ? क्या हम थोड़ी-थोड़ी देरके लिये शान्त होते हैं ? यदि शान्त हुए होते तो आपको स्वयं अनुभव होता कि प्रभुकी कृपाशक्ति योग दे रही है, प्रेम दे रही है, ज्ञान दे रही है और हम उससे तद्रूप होकर कृतकृत्य हो रहे हैं। –संतवाणी 4/200-201

गुण-दोष

1. ममता-रहित होते ही निर्विकार जीवन रहता है। –संतवाणी 4/154

2. आप सोचिये कि किसी भी वस्तुको जहाँ आप अपना नहीं मानते हैं तो बताओ, क्या विकार आपके जीवनमें रहता है ? –संतवाणी 4/154

3. तुम भूतकालके आधारपर वर्तमानकी निर्दोषताको क्यों दूषित करते हो ? –संतवाणी 4/158

4. अपना अधिकार छोड़नेसे क्रोधकी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् तब हम राग और क्रोधसे रहित हो जाते हैं। –संतवाणी 3/84

5. जो लोग सही अर्थमें निर्लोभ हो गये, उनकी दरिद्रता मिट गयी। निर्मोह हो गये, उनका भय मिट गया। निष्काम हो गये, उनकी अशान्ति मिट गयी। असंग हो गये, उनकी पराधीनता मिट गयी। –संतवाणी 3/87

6. सभी दोष देहाभिमानसे होते हैं। –मानवकी मांग 115

7. न्याय अपने प्रति तथा प्रेम एवं क्षमा दूसरोंके प्रति करना है। यदि हम ऐसा न करेंगे तो न निर्दोष हो सकेंगे और न निर्वैर। –मानवकी मांग 105

8. भूतकालके दोषको वर्तमानमें मत देखो। –मानवकी मांग 103

9. जब दोष निज विवेकके प्रकाशमें अपना दोष देख लेता है, तब बेचारा दोष सत्ताहीन हो जाता है। यदि उसको न दुहराया जाय तो वह सदाके लिये मिट जाता है। –मानवकी मांग 103

10. जैसा हम जानते हैं, वैसा ही मानें और जैसा मानते हैं, वैसा ही हमारा जीवन हो। ऐसा होते ही हम बहुत ही सुगमता-पूर्वक निर्दोष हो सकते हैं। –मानवकी मांग 100

11. अगर इन्द्रियाँ संसारकी ओर जाती हैं तो अपराध क्या है उनका ? संसारकी जातिकी ही हैं। लेकिन आप क्यों संसारको पसन्द करते हो जी, यह बताओ ? आप तो भगवान्‌की जातिके हैं। –संतवाणी 5/133

12. यदि दोषकी स्वतन्त्र सत्ता है तो उसका नाम दोष ही नहीं। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता होती है, उसमें कोई दोष नहीं होता। –संतवाणी 6/148

13. दोष-जनित सुखका जो प्रलोभन है, उस प्रलोभनकी भूमिमें पुनः दोषकी उत्पत्ति होती है। –संतवाणी 6/148

14. यदि मनुष्य अपने दोषोंका परित्याग कर दे तो गुण कहींसे लाने नहीं पड़ेंगे, वरन् दोषोंके मिटते ही स्वतः चमक उठेंगे। –संत-उद्‌बोधन 142

15. प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्यमात्रको अपने दोष देखनेका विवेक स्वतः प्राप्त है। –मानवकी मांग 21

16. दोषोंकी निवृत्तिका भास न हो, गुणोंकी अभिव्यक्तिका भास न हो, तब समझना चाहिये कि निर्दोषतासे एकता हो गयी। –जीवन-पथ 127

17. गुणोंका अभिमान तब होता है, जब प्राणी स्वाभाविक गुणोंको त्यागकर दोषोंको अपनानेके पश्चात् पुनः बलपूर्वक दोषोंको दबाता है और जीवनमें गुणोंकी स्थापना करता है। –मानवकी मांग 6

18. 'निर्लोभता' के बिना दरिद्रताका, 'निर्मोहता' के बिना भयका, 'निष्कामता' के बिना अशान्तिका, और 'असंगता' के बिना पराधीनताका नाश नहीं होता। यह दैवी विधान है। –संत-उद्‌बोधन 24

19. देहाभिमान रहते हुए कभी भी, कोई भी पराधीनता आदि विकारोंसे रहित नहीं हो सकता। –संत-उद्‌बोधन 24

20. रागकी भूमिमें ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। –मानव-दर्शन 74

21. राग और कामनाओंके कारण अनेक प्रकारके दोष हमारे जीवनमें आ जाते हैं। –संत-उद्‌बोधन 136

22. यदि तुममें कोई दोष हो तो सभी कहेंगे कि 'तुम दोषी क्यों हो ?' परन्तु यदि कोई दोष न हो तो कोई न कहेगा कि 'तुम निर्दोष क्यों हो ?' कारण कि 'क्यों' उसीमें लगता है, जो अस्वाभाविक हो। जो स्वाभाविक है, उसमें 'क्यों' नहीं लगता। –मानवकी मांग 130

23. अविवेकके कारण जब हम अपनेको देह मान लेते हैं, तब कामकी उत्पत्ति होती है। कामकी पूर्त्ति होनेसे लोभ और मोह तथा कामकी पूर्त्तिमें बाधा उत्पन्न होनेसे क्रोध और द्वेष आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। –मानवकी मांग 133

24. गुणोंके अभिमानने ही दोषोंको नाश नहीं होने दिया। –संतपत्रावली 1/26

25. जब हम प्रमादवश उन्हें अपना मान लेते हैं, जो हमारे नहीं हैं, अथवा जब हम उन्हें अपना नहीं मानते, जो हमारे हैं, तभी सभी दोष उत्पन्न होते हैं। –मानवकी मांग 137

26. प्रतीतिके आकर्षणने ही पराधीनता, परिच्छिन्नता आदि विकारोंमें आबद्ध किया है। –मानव-दर्शन 29

27. दोष उसे नहीं कहते, जिसे दोषी स्वयं नहीं जानता। दोष और निर्दोषताका विवेचन निजज्ञानके प्रकाशमें ही सम्भव है। किसी मान्यता तथा प्रथाके आधारपर निर्दोषता तथा दोषका निर्णय करना वास्तविक निर्णय नहीं है। -मानवकी मांग 171

28. समस्त दोषोंका अन्त उनके न दुहरानेमें है। किसी गुणके द्वारा दोषोंका नाश नहीं होता, अपितु निर्दोषतामें ही समस्त गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। दोष-रहित होनेके लिये गुणोंके सम्पादनकी अपेक्षा नहीं है, अपितु वर्तमान निर्दोषताको सुरक्षित रखना है, जो एकमात्र स्वाधीनताकी उत्कट लालसासे ही साध्य है; कारण कि सभी दोष पराधीनतासे ही पोषित होते हैं। -मूक सत्संग.143

29. आंशिक निर्दोषताका अभिमान समस्त दोषोंका मूल है। -मूक सत्संग.172

30. जो किसीका बुरा नहीं चाहता, उसके सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। -चित्तशुद्धि 29

31. प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक दोषमें समस्त दोष निहित हैं। -मूक सत्संग.203

32. किसी-न-किसी गुणके अभिमानसे ही दोषोंकी उत्पत्ति होती है। कारण कि गुण-रहित दोष कभी जीवित नहीं रह सकता। -संतपत्रावली(2) 52

33. यह नियम है कि साधनरूप जीवनसे साधनका और असाधनरूप जीवनसे असाधनका प्रचार स्वतः होता है। यद्यपि असाधन-रूप मान्यताओंको कोई भी अपनी ओरसे घोषित नहीं करता कि 'मैं चोर हूँ, धोखा देना जानता हूँ, मिथ्यावादी हूँ' इत्यादि; परन्तु जीवनके द्वारा उन दोषोंका प्रचार स्वतः होने लगता है। -जीवन-दर्शन 33-34

34. प्राकृतिक नियमके अनुसार ऐसी कोई अशुद्धि है ही नहीं, जो स्वतः न मिट जाय, पर अशुद्धि-जनित जो सुख है, उसका त्याग हम नहीं करते, इस कारण अशुद्धिकी पुनरावृत्ति होती रहती है। -चित्तशुद्धि 15

35. गुणोंका अभिमान सभी दोषोंकी भूमि है। -जीवन-दर्शन 43

36. गुणोंकी पूर्णतामें अभिमानका उदय नहीं होता। -जीवन-दर्शन 261

37. यह नियम है कि वही दोष सुरक्षित रहता है, जिसे हम सहन करते रहते हैं। -जीवन-दर्शन 86

38. यदि दोषोंको न दुहराया जाय तो सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। -जीवन-दर्शन 45

39. सभीको सुख देनेके प्रयासको गुण कहते हैं; किन्तु केवल एक ही शरीरको सुखी रखनेका प्रयास किया जाय तो वह दोष हो जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि गुणको सीमित कर देना दोष हो जाता है। जिस प्रकार प्रकाशकी न्यूनता ही अन्धकार है, अन्धकारका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार गुणकी न्यूनता ही दोष है, दोषका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। -जीवन-दर्शन 260

40. 'यह' को 'मैं' न माननेपर सभी दोष मिट जाते हैं। -जीवन-दर्शन 262

41. जिस गुणके साथ अहम् मिल जाता है, वह गुण भी दोष हो जाता है। -जीवन-दर्शन 272

42. अपने दोषका ज्ञान जिस ज्ञानमें है, वही ज्ञान विधानका प्रतीक है। ज्ञान दोषका प्रकाशक है, नाशक नहीं। निर्दोषताकी माँग दोषकी नाशक है। -दर्शन और नीति 9

43. भूतकालके दोषोंके आधारपर वर्तमानकी निर्दोषतामें दोषका आरोप करना अपने प्रति अन्याय है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भूतकालकी भूलका परिणाम परिस्थितिके रूपमें अपने सामने नहीं आयेगा, अवश्य आयेगा; किन्तु भूतकालके दोषके आधारपर वर्तमानकी निर्दोषतामें दोषका आरोप करना दोषयुक्त प्रवृत्तिको जन्म देना है। -दर्शन और नीति 12-13

44. समस्त दोषोंकी उत्पत्तिका कारण विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वासको अपनाना है, जो वास्तवमें जाने हुए असत्‌का संग है। -दर्शन और नीति 35

45. 'गुण' किसी व्यक्ति विशेषकी वस्तु नहीं है, अपितु अनन्तका स्वभाव है। 'दोष' का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु प्रमादका परिणाम है। -दर्शन और नीति 65

46. जबतक मानव अपने जाने हुए दोषको त्यागकर निर्दोषताकी स्थापना नहीं करेगा, तबतक राष्ट्र ,मत तथा सम्प्रदाय मानव-समाजको सर्वांशमें निर्दोष नहीं बना सकते। -दर्शन और नीति 72

47. यह नियम है कि जो अपनी दृष्टिमें दोषी है, वही दूसरोंसे निर्दोष कहलानेकी आशा करता है। -चित्तशुद्धि 28-29

48. गुणोंका अभिमान रखते हुए कोई भी उन्नतिके पथपर अग्रसर नहीं हो सकता। दबे हुए दोषका प्रकट होना दोष नहीं, अपितु निर्दोषताका साधन है। वास्तविक दोष तो अभिमानयुक्त गुण ही हैं, जिन्हें हम प्रमादवश महत्त्व देते रहते हैं। -चित्तशुद्धि 27

49. वास्तविक गुणोंका प्रादुर्भाव होनेपर उनका भास नहीं होता। अतः जबतक गुणोंका भास हो, तबतक समझना चाहिये कि गुणोंके स्वरूपमें कोई दोष है। -चित्तशुद्धि 28

50. जिन प्रवृत्तियोंसे किसीकी क्षति हो, किसीका अनादर हो, किसीका अहित हो, वे सभी 'दोष' हैं और जिन प्रवृत्तियोंसे दूसरोंका हित, लाभ एवं प्रसन्नता हो, वे सभी 'गुण' हैं। -चित्तशुद्धि 29

51. सर्वांशमें किसी भी दोषके मिट जानेपर सभी दोष मिट जाते हैं और सर्वांशमें किसी भी गुणके अपना लेनेपर सभी गुण स्वतः आ जाते हैं। -चित्तशुद्धि 29-30

52. जब अपनेमें दोषका दर्शन हो, तब उस व्यथाको दबानेके लिये अपना गुण अथवा पराया दोष नहीं देखना चाहिये। -चित्तशुद्धि 34

53. यह सभी जानते हैं कि अन्धकार प्रकाशकी ही न्यूनता है, पर अन्धकार प्रकाश नहीं है। उसी प्रकार दोष गुणकी ही न्यूनता है, पर दोष गुण नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि दोषका कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। -चित्तशुद्धि 63

54. अपनेको दोषी मानना दोषको निमन्त्रण देना है। अतः 'दोषी था, पर अब नहीं हूँ' ऐसा मानते ही निर्दोषताकी अभिव्यक्ति स्वतः हो जायगी। सभी दोष, सभी बन्धन दोषयुक्त मान्यतापर ही जीवित हैं। अपनेमें निर्दोषताकी स्थापना करते ही समस्त दोष तथा बन्धन स्वयं मिट जायँगे। -चित्तशुद्धि 64

55. वस्तुओंकी ममता, विश्वासमें विकल्प, विवेकका अनादर -इन तीन कारणोंसे ही समस्त दोषोंकी उत्पत्ति होती है। -चित्तशुद्धि 79

56. भय और प्रलोभन दोनों ही दोष हैं। किसी दोषकी निवृत्तिके लिये किसी दोषका आश्रय लेना निर्दोषता नहीं है, अपितु निर्दोषताके वेषमें महान् दोष है। -चित्तशुद्धि 141

57. प्रलोभन भी एक बड़ा दोष है। उसका आश्रय लेकर किसी भी भलाईका करना भलाई नहीं है, अपितु भलाईके वेषमें बुराई है; क्योंकि प्रलोभनकी सिद्धि न होनेपर भलाई स्थायी नहीं रह पाती। -चित्तशुद्धि 142

58. यह नियम है कि जाने हुए दोषको अपना लेनेपर व्यक्ति अपनी दृष्टिमें भी अपनेको आदरके योग्य नहीं पाता। जो अपनी दृष्टिमें आदरके योग्य नहीं रह जाता, वही दूसरोंसे आदर पानेकी मिथ्या आशा करता है और उसके लिये अपने दोषको छिपाता है। -चित्तशुद्धि 221

59. निर्दोष कहलानेकी कामना तो एक दोष ही है। उससे तो सदैव सजग रहना चाहिये; क्योंकि निर्दोष कहलानेकी रुचि सीमित अहंभावको पुष्ट करती है, जो समस्त दोषोंका मूल है। -चित्तशुद्धि 224

60. जो गुण देहाभिमानको पुष्ट करता है, वह गुणोंके वेषमें वास्तवमें दोष है; क्योंकि देहाभिमानके रहते हुए सर्वांशमें निर्दोषता सम्भव नहीं है। -चित्तशुद्धि 281

61. यदि जीवनमें निर्दोषता न होती तो दोषका ज्ञान ही न होता; क्योंकि सर्वांशमें प्राणी कभी भी दोषी नहीं होता और यदि कोई सर्वांशमें दोषी है तो उसे दोषका ज्ञान भी नहीं है। -चित्तशुद्धि 318

62. पूर्णतत्त्वका बिना अनुभव किये विकारोंका अन्त नहीं हो सकता। -सन्त-समागम 1/101

63. जिन दोषोंको मिटाना है, उनका सद्भाव मिटा दो। -सन्त-समागम 1/226

64. अपनेमें निर्दोषताका भाव स्थापित करनेपर सभी दोष स्वयं मिट जाते हैं। दोषोंका सद्भाव दोषोंको निमन्त्रण देकर बुलानेके सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। -सन्त-समागम 1/241

65. अभिमानयुक्त बड़े-से-बड़ा गुण भी दोषके समान होता है। -सन्त-समागम 2/165

66. जब प्राणी अनायास मिले हुए आदरको मिथ्या ही अपना आदर मान लेता है अर्थात् दूसरोंकी सज्जनताको अपना गुण समझने लगता है, तो ऐसी अवस्थामें उसकी अपनी दृष्टिसे अपने दोष देखनेकी शक्ति मिटने लगती है। -सन्त-समागम 2/209

67. सभी दोषोंका मूल एकमात्र यही है कि संसार मेरे काम आ जाय। उसको मिटानेका सुगम साधन यही है कि मैं संसारके काम आ जाऊँ। जब प्राणी संसारमें संसारके लिये रहने लगता है, तब अन्तःकरण स्वतः शुद्ध होने लगता है। -सन्त-समागम 2/237

68. सभी दोष दोषीकी सत्ताके बिना निर्जीव होते हैं। कोई भी दोष दोषीकी कृपाके बिना जीवित नहीं रह सकता। अतः जिस कालमें दोषी अपनी दृष्टिसे दोषको देखकर, अपनेको दोषसे असंग कर लेता है, बस उसी कालमें दोष सदाके लिये मिट जाता है। परन्तु जो दोषी दोषको देखकर ऐसा सद्भाव करता है कि मैं दोषी हूँ, उसकी सत्ता पाकर दोष दोषीपर शासन करने लगता है। -सन्त-समागम 2/245

69. यह नियम है कि जिस भावका सम्बन्ध अहंभावसे हो जाता है, उस भावमें सत्यता तथा प्रियता स्वतः उत्पन्न हो जाती है। अतः निर्दोषताकी प्राप्तिके लिये अहंभावमें निर्दोषताका स्थापित होना परम अनिवार्य है। -सन्त-समागम 2/292

70. ऐसा कोई दोष नहीं है, जिसको प्राणीने स्वयं नहीं बनाया है। शरीर आदि वस्तुओंके आधारपर प्रसन्नता खरीदनेकी भावना सभी दोषोंका मूल है। -सन्त-समागम 2/312

71. अपने सुख-दुःखका कारण दूसरेको न मानकर अपने अधिकारका त्याग करनेसे क्रोधका नाश होजाता है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 73

72. अपने बनाये हुए दोषको ही तो मिटाना है। कोई भी दोष प्राकृतिक नहीं है। -संतवाणी 7/135

73. प्रत्येक दोष दोष-जनित सुख-लोलुपताके आधारपर जीवित रहता है, अथवा यों कहो कि उसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। दोष-जनित वेदनामें ही सुख-लोलुपताका नाश निहित है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 35

74. देहाभिमानसे ही प्राणी अपनेमें गुणोंका आरोप कर लेता है। वास्तवमें तो समस्त दिव्य गुण स्वतःसिद्ध हैं, किसीकी उपार्जित वस्तु नहीं हैं। -मानवताके मूल सिद्धान्त 58

75. जो मनुष्य यह समझता है कि मैं सत्यवादी हूँ, उसमें कहीं-न-कहीं झूठ छिपा हुआ है। यदि वह सचमुच सत्यवादी हो तो उसे यह भास ही नहीं होना चाहिये कि मैं सत्यवादी हूँ, अपितु सत्य बोलना उसका जीवन बन जाना चाहिये। जो गुण साधकका जीवन बन जाता है, उसमें साधकका अभिमान नहीं होता। वह उसके कारण अपनेमें किसी प्रकारकी विशेषताका अनुभव नहीं करता। -संत-सौरभ 49-50

76. सच बात तो सह है कि जब विकारका नाश होता है, तब समस्त विकारोंका नाश होता है। और जब समस्त विकारोंका नाश न दिखाई दे, तबतक सोचना चाहिये कि विकारकी कमी हुई है। -संतवाणी 5/223

77. सबसे बड़ा तो अपना यही विकार है कि चित्तके ऊपर, शरीरके ऊपर, प्राणोंके ऊपर, बुद्धिके ऊपर आपने जो ममताका पत्थर लाद दिया है, यह बड़ा भारी अपराध है प्राणीका। -संतवाणी 4/20

78. आप अभी मान लीजिये कि कोई वस्तु हमारी नहीं है। फिर देखें, आपके चित्तमें विकार किस तरह पैदा हो जाय ! कभी विकार पैदा नहीं हो सकता। -संतवाणी 4/166

79. जिसे अपनी पूर्त्तिके लिये समाजके पीछे दौड़ना पड़ रहा है, उसे समझना चाहिये कि अभी मेरे जीवनमें गुणोंका विकास नहीं हुआ। -मानवकी मांग 196

80. जब प्राणी अपनी प्रसन्नता किसी औरपर निर्भर कर लेता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अनेक दोषोंकी उत्पत्ति अपने-आप होने लगती है। -चित्तशुद्धि 128

गुरु

1. जो किसीका भी गुरु बनेगा, वह अपना गुरु नहीं बन सकता और जो अपना गुरु नहीं बन सकता, वह जगत्‌का गुरु नहीं बन सकता। –संतवाणी 4/21

2. वास्तवमें यह सत्य है कि हम अपने गुरु आप बन जाते तो सिद्धि जरूर हो जाती। तो अपना गुरु बननेके लिये क्या करना पड़ता है ? अपने जाने हुए असत्‌का त्याग करना पड़ता है, अपने विश्वासमें अविचल श्रद्धा करनी पड़ती है और मिले हुएका सदुपयोग करना पड़ता है। –संतवाणी 4/173

3. गुरुके मिलनेका मालूम है, फल क्या है ? गुरु हो जाना। –संतवाणी 4/175

4. आज उपदेष्टा गुरुकी लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बातकी है कि कोई ऐसा वीर पुरुष या वीर महिला हो, जो किसी उपदेशको स्वीकार कर सके। –संतवाणी 4/239

5. दुनियाका बड़े-से-बड़ा गुरु, बड़े-से-बड़ा नेता, बड़े-से-बड़ा राष्ट्र जो काम नहीं कर सकता आपके साथ, अगर आप चाहें तो अपने साथ कर सकते हैं। –संतवाणी 3/75

6. विवेक ही वास्तवमें गुरु-तत्त्व है। कोई व्यक्ति किसीका गुरु है –इसके समान कोई भूल ही नहीं है। कोई भी व्यक्ति किसीका सुधारक है –इसके समान कोई भूल नहीं है। मानवका अपना विवेक ही उसका अपना सुधारक है, वही उसका गुरु है, वही उसका नेता है, वही उसका शासक है। –संतवाणी 5/252

7. गुरुकी सबसे बड़ी भक्ति यह है कि गुरु मिलना चाहे और शिष्य कहे कि जरूरत नहीं है; क्योंकि जिसने गुरुकी बातको अपनाया, उसमें गुरुका अवतरण हो जाता है। –संतवाणी 7/149

8. आज आस्तिकवादके प्रचारकको गुरु बननेका जितना शौक है, क्या उतना स्वयं भक्त होनेका है ? यदि है तो उसके जीवनसे स्वयं आस्तिकता विभु हो जायगी। –जीवन-पथ 78

9. कितने उपदेष्टा गुरु अपने शिष्योंके मनकी चंचलता तथा विकारसे दुःखी हैं ? कभी एकान्तमें उन लोगोंके दुःखसे दुःखी होकर व्याकुल हुए ? अथवा जीवनभर उपदेश ही करते रहे ? –जीवन-पथ 78

10. सच्चा गुरु वही है, जिसके जीवनसे साधकोंको प्रकाश मिलता है। सिद्धान्तोंकी चर्चा करनेमात्रसे वास्तवमें गुरु-पद नहीं मिल जाता। –जीवन-पथ 78

11. गुरु तो वह होता है, जो गुरु बनकर नहीं आता है, दोस्त बनकर आता है, सुहृद् बनकर आता है, अपना होकर आता है। वह वास्तवमें गुरु होता है। –जीवन-पथ 102

12. ये जो बाहरके गुरुकी हम जरूरत अनुभव करते हैं या राष्ट्रकी जरूरत अनुभव करते हैं या नेताकी जरूरत अनुभव करते हैं, यह कब करते हैं ? जब विवेकका अनादर करते हैं। –साधन-त्रिवेणी 75

13. विवेकको ही ज्ञान कहते हैं। ज्ञानरूपी जो गुरु है, उसकी बात मान लोगे तो शरीररूपी गुरुकी जरूरत नहीं पड़ेगी। –साधन-त्रिवेणी 76

14. सच्चे गुरुकी पहचान क्या है ? जो स्वयं अपना गुरु, नेता और शासक है और जिसके पीछे चलकर समाज प्रगति करता है। ऐसे गुरुको अपने लिये संसारकी आवश्यकता नहीं होती, संसारको उसकी आवश्यकता रहती है। –संत-उद्‌बोधन 106

15. गुरुजनोंका आदेश-पालन ही वास्तविक गुरु-भक्ति है। जिन्हें गुरु-भक्ति प्राप्त हुई, वे स्वयं गुरु हो गये, ऐसा मेरा अनुभव है। –संतपत्रावली 2/37

16. साधन-तत्त्व ही गुरु-तत्त्व है, जो साधकमें जन्मसिद्ध है, तथापि इस प्राप्त गुरु-तत्त्वका अनादर करनेके कारण किसी अप्राप्त गुरुकी अपेक्षा हो जाती है। –जीवन-दर्शन 180

17. जिस प्रकार नेत्रको कोई शब्द नहीं सुना सकता और श्रोत्रको कोई रूप नहीं दिखा सकता, उसी प्रकार जिस साधनकी सामर्थ्य साधकमें नहीं है, उसको कोई बाह्य गुरु नहीं करा सकता। जिस बीजमें उपजनेकी सामर्थ्य होती है, उसीको पृथ्वी, जल, वायु आदि उपजा सकते हैं। अतः साधकमें विद्यमान साधनाको ही बाह्य गुरु भी विकसित करनेमें सहयोग दे सकते हैं। –जीवन-दर्शन 181

18. कोई भी गुरु और ग्रन्थ हमें ऐसी बात बता ही नहीं सकते, जो कि हमारे विवेकमें निहित नहीं है। –मानवकी मांग 51

19. गुरुका बहाना ढूँढ़ना भी निज विवेकका अनादर ही है। –मानवकी मांग 51

20. कर्तव्य-ज्ञानके लिये विवेकके स्वरूपमें जिसने गुरु प्रदान किया है, वही सत्संग एवं सद्‌ग्रन्थके स्वरूपमें भी गुरु प्रदान कर सकता है। –जीवन-दर्शन 184

21. अपने दोषोंका ज्ञान जितना अपनेको होता है, उतना अन्यको हो ही नहीं सकता।...... अतः दोष देखने और निवारण करनेके लिये साधकको अपने ही ज्ञानको अपना गुरु बना लेना चाहिये। -जीवन-दर्शन 181

22. 'नेता' उसे कहते हैं, जो दोषको देखकर दुःखी हो, 'गुरु' उसे कहते हैं, जो दोषको मिटानेका उपाय जानता हो और 'शासक' उसे कहते हैं, जो जाने हुए उपायपर अमल करानेमें समर्थ हो। -मानवकी मांग 187

23. मानवता तो एक अनूठी प्रेरणा देती है, और वह यह कि अगर हमें 'नेता' होना है तो अपने ही नेता बनें, यदि हमें 'शासन' करना है तो अपनेपर ही शासन करें, और यदि 'गुरु' बननेकी कामना है तो अपने ही गुरु बनें। -मानवकी मांग 22

24. अपना नेता, अपना गुरु तथा अपना शासक वही हो सकता है, जो अपने प्रति न्याय तथा दूसरोंके प्रति क्षमा तथा प्रेम करनेमें समर्थ है। -मानवकी मांग 188

25. गुरु, नेता और शासक बनकर दूसरोंके सुधारकी बात वे ही लोग करते हैं, जो सुधारके नामपर सुखभोगमें प्रवृत्त होते हैं। -दर्शन और नीति 111

26. सेवकोंके गुरु हैं श्रीहनुमन्तलालजी, विचारकोंके गुरु हैं भगवान् शंकर और प्रेमियोंकी गुरु हैं श्रीराधारानी। -सन्त-जीवन-दर्पण 61

27. गुरु माननेका अधिकार सभीको है और शिष्य बनानेका किसीको अधिकार नहीं। -सन्त-जीवन-दर्पण 95

28. ज्ञानका जिज्ञासु ही शिष्य है। शिष्य गुरु होनेके लिये गुरुकी शरणमें जाता है। गुरु वही है जो शिष्यको गुरु बना सके; क्योंकि गुरुके मिलते ही शिष्य गुरु हो जाता है। गुरुकी आवश्यकता गुरु होनेके लिये होती है, शिष्य होनेके लिये नहीं। शिष्य तो उसी समयतक है, जबतक गुरु नहीं मिला। -सन्त-समागम 1/34

29. गुरुके 'गुर' को जीवनका स्वरूप बना लेना ही गुरु-भक्ति है, अथवा गुरुसे अभिन्न हो जाना ही गुरु-भक्ति है, या गुरुकी आज्ञा-पालन ही गुरु-भक्ति है। गुरुका 'गुर' ही प्रेमपात्रसे मिलानेमें समर्थ है, शरीर नहीं। उपासना 'गुर' की होती है, शरीरकी नहीं। उसका सद्भाव करना गुरु-भक्ति है। गुरुका 'गुर' ही वास्तवमें गुरुका स्वरूप है। -सन्त-समागम 1/237-238

30. जो निज-स्वरूपका आदर करता है, वह गुरु, ईश्वर तथा संसार आदिको अपने ही में पाता है। -सन्त-समागम 1/240

31. अगर कहीं गुरु बन जाओ तो भगवान्‌ने कहा कि मेरे प्रेमसे वंचित रहो, चेले-चेलीमें रमण करो। -सन्त-समागम 2/81

32. पूजा-प्रार्थना सब परमात्माके साथ करनेवाली बात है। गुरु परमात्माका बाप हो सकता है, परमात्मा नहीं। हाँ, गुरुवाक्य ब्रह्मवाक्य हो सकता है। गुरु श्रद्धास्पद हो सकता है, प्रेमास्पद नहीं। व्यक्तिको अगर परमात्मा मानना है तो सबको मानो। गुरु साधनरूप हो सकता है, साध्यरूप नहीं। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 7

33. शास्त्रोंमें नेता या गुरु बननेको पतनका हेतु माना है। इससे सिद्ध होता है कि यह काम महापुरुषोंके ही उपयुक्त है। साधकको इस बखेड़ेमें कभी नहीं पड़ना चाहिये। -संत-सौरभ 51

34. श्रद्धा गुरुमें करनी चाहिये और प्रेम भगवान्‌में करना चाहिये। गुरु भी यही सिखाता है। -संत-सौरभ 152

35. मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर श्यामसुन्दर अर्जुनको गीता सुना सकते हैं, तो क्या वे अन्तर्यामीरूपसे हमको-आपको गीता नहीं सुना सकते ? -संतवाणी 7/134

36. गुरु, ग्रन्थ और सत्-चर्चा साधकमें विद्यमान विवेकशक्तिको ही विकसित कर सकते हैं, कोई नयी शक्ति प्रदान नहीं कर सकते। -संत-सौरभ 92

37. अगर बाह्य गुरुके बिना तत्त्व-साक्षात्कार नहीं होता, तो आप यह बताइये कि सबसे पहले तत्त्व-साक्षात्कार कैसे हुआ होगा ? आखिर गुरु-परम्परा चली होगी कि नहीं ? तो जो सबका गुरु होगा, मानना पड़ेगा कि उसका कोई गुरु नहीं होगा। यदि एक व्यक्तिको भी बिना गुरुके तत्त्व-साक्षात्कार हो सकता है, तो यह विधान तो नहीं हुआ बिना गुरुके तत्त्व-साक्षात्कार नहीं हो सकता। -संतवाणी 6/6

38. सच पूछिये, हमारे यहाँ जो गुरुकी महिमाका वर्णन किया जाता है, वह गुरु विवेक ही है। -संतवाणी 4/84

39. गुरु-शिष्यका सम्बन्ध होता है अनासक्तिके लिये। यह नहीं कि दस प्रकारकी आसक्तियाँ तो थीं ही, ग्यारहवीं प्रकारकी और नई पैदा कर ली। -संतवाणी 7/45

चिन्तन

1. तुम होनेवाले चिन्तनको मिटाना चाहते हो करनेवाले चिन्तनसे ! उससे डरते क्यों हो ? देखते रहो, बिल्कुल देखते रहो। अगर तुम 'हाँ' नहीं करोगे तो वह नाश हो जायगा। और उससे लड़ोगे नहीं, तब भी नाश हो जायगा। और उससे अपनेको मिलाओगे नहीं, तब भी नाश हो जायगा। –संतवाणी 5/176

2. मोहजनित सम्बन्ध तथा ममताका त्याग करते ही विषय-चिन्तन मिटकर भगवत्-चिन्तन स्वतः उत्पन्न होता है। जबतक साधकको चिन्तन करना पड़ता है, तबतक उसे समझना चाहिये कि अभी प्रेमास्पदसे सरल विश्वासपूर्वक नित्य सम्बन्धकी स्वीकृति नहीं हुई। –मानवकी मांग 161

3. अशुद्ध भोजनसे शरीर अशुद्ध हो जाता है तथा अशुद्ध चिन्तनसे सूक्ष्मशरीर आदि अशुद्ध हो जाते हैं; क्योंकि जिस प्रकार अन्न आदि स्थूलशरीरका भोजन है, उसी प्रकार स्मरण, चिन्तन, ध्यान आदि सूक्ष्मशरीरका भोजन है। –संतपत्रावली 1/115

4. यह अखण्ड नियम है कि चिन्तनके अनुसार कर्ताका स्वरूप बन जाता है; क्योंकि सभी प्राणी कल्पतरुके नीचे निवास करते हैं। –संतपत्रावली 1/1

5. यदि मानव अपने-आप होनेवाले चिन्तनसे सहयोग न करे, अपितु असहयोग कर निश्चिन्त हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक व्यर्थ चिन्तनका नाश होता है। –मूक सत्संग.84

6. व्यर्थ चिन्तनका समर्थन तथा विरोध न करना उसके मिटानेका अचूक उपाय है। –सफलताकी कुंजी 21

7. होनेवाले चिन्तनसे भयभीत होना और उसे विकार मानना अपनेमें हीनभावको जन्म देना है। चिन्तनको देखना और उससे असहयोग करना चाहिये, वह अपने-आप मिट जायगा। –सफलताकी कुंजी 25

8. चिन्तनका दृश्य देखो, किन्तु उसका समर्थन मत करो और उसकी सत्यता स्वीकार मत करो।......... चिन्तनरूपी दृश्यकी यदि स्थिति स्वीकार न की जाय तो चिन्तन निर्जीव होकर मिट जायगा। –सफलताकी कुंजी 47

9. चिन्तनसे चिन्तन दबता है, मिटता नहीं। इतना ही नहीं, कालान्तरमें किये हुए चिन्तनका भी चिन्तन होने लगता है। –सफलताकी कुंजी 81

10. जिन वस्तुओंकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उनका चिन्तन 'व्यर्थ चिन्तन' है और जिसकी प्राप्ति जिज्ञासा अथवा लालसा-साध्य है, उसका चिन्तन 'सार्थक चिन्तन' है। –चित्तशुद्धि 112

11. क्रिया-जनित सुखसे अरुचि होते ही सार्थक चिन्तन स्वतः जाग्रत् होता है।....... क्रिया-जनित सुखलोलुपतासे ही निरर्थक चिन्तन उत्पन्न होता है। –चित्तशुद्धि 340

12. भूलकर भी किसीकी बुराईका चिन्तन नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसकी बुराई कर्तामें आती है, और उसका भी अनहित होता है कि जिसकी बुराई की जाती है। –सन्त-समागम 1/44

13. जिसको अच्छा बनाना चाहते हो, उसमें अपने मनसे उन्हीं अच्छे गुणोंको स्थापित कर दो अर्थात् जैसा बनाना चाहते हो, उन्हीं भावनाओंको उसमें देखो। बार-बार ऐसा चिन्तन करो कि वह अच्छा है। इससे कालान्तरमें वह उसी प्रकार हो जायगा, जैसा कि चिन्तन किया गया है। –सन्त-समागम 1/44

14. प्रत्येक चिन्तन कर्ताकी तद्रूपतासे ही जीवित रहता है। यदि चिन्तनमें तादात्म्य न किया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिन्तन अपने-आप मिट जाता है। –साधन-तत्त्व 89

15. नीरसताका नाश होनेपर व्यर्थ चिन्तनका नाश हो जाता है। नीरसताका नाश असंगता, उदारता एवं प्रियतासे हो जाता है। –सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 72

16. मानव जिसकी आवश्यकता अनुभव करता है, उसका और जिसको अपना मानता है, उसका चिन्तन स्वतः होने लगता है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 50

17. ऊपरसे अकर्मण्य रहनेपर भी (मनुष्य) व्यर्थ चिन्तन द्वारा मानसिक शक्तिका ह्रास करता रहता है, जो अनर्थका मूल है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 78

18. न चाहनेपर जो चिन्तन उत्पन्न हुआ है, उसका नाश तभी होगा, जब उससे असहयोग कर लिया जाय तथा उससे तादात्म्य तोड़ दिया जाय। असहयोग करते ही उत्पन्न हुआ व्यर्थ चिन्तन निर्जीव हो जाता है और तादात्म्य मिटते ही उसका समूल नाश हो जाता है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 89

19. बलपूर्वक किये हुए सार्थक चिन्तनसे व्यर्थ चिन्तन नष्ट नहीं होता, अपितु व्यर्थ चिन्तनके त्यागसे सार्थक चिन्तन स्वतः जागृत होता है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 90

20. चिन्तन उसीका होगा, जिसकी हम आवश्यकता अनुभव करेंगे और जिसको हम अपना मानेंगे। –संतवाणी 8/143

21. दोष करनेकी अपेक्षा दोषोंका चिन्तन अधिक पतन करनेवाला है। –संत-सौरभ 19

22. आगे-पीछेका चिन्तन उन प्राणियोंको करना चाहिये, जिनको उस वस्तुकी आवश्यकता हो, जो वर्तमानमें नहीं है। –सन्त-समागम 2/203

23. जिसके चिन्तनसे अपनेको मुक्त होना है, उसके अस्तित्वको ही स्वीकार मत करो। –संत-उद्‌बोधन 46

24. व्यर्थ चिन्तनका अन्त एकमात्र सत्संगसे ही होता है। –मूक सत्संग.116

25. व्यर्थ-चिन्तनके नाशके लिये एकमात्र मूक-सत्संग ही अचूक उपाय है अर्थात् श्रमरहित होना है। –मूक सत्संग.115

26. 'नहीं' के चिन्तनसे बचनेका उपाय क्या होगा ? 'है' में आस्था। –जीवन-पथ 73

27. चिन्तन केवल उसका करना चाहिये, जिसे प्राप्त करना हो। इस दृष्टिसे सर्वसमर्थ भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु चिन्तन करनेयोग्य नहीं है। –संतपत्रावली 1/174

जीवन

1. आज जिसे हम जीवन कहते हैं, वह तो जीवनकी साधन-सामग्री है, जीवन नहीं है। -मानवकी मांग 59

2. वास्तविक जीवन हमारा अपना जीवन है। उस जीवनमें किसी प्रकारकी विषमता, अभाव एवं जड़ता आदि विकार नहीं हैं। -चित्तशुद्धि 138

3. यह सभी जानते हैं कि गहरी नींदमें प्राणी प्रिय-से-प्रिय वस्तु और व्यक्तिका त्याग स्वभावसे ही अपना लेता है और उस अवस्थामें किसी प्रकारके दुःखका अनुभव नहीं करता, अपितु जाग्रत्-अवस्थामें यही कहता है कि बड़े सुखसे सोया। प्राकृतिक नियमके अनुसार कोई भी स्मृति अनुभूतिके बिना नहीं हो सकती। गहरी नींदमें कोई दुःख नहीं था, यह अनुभूति क्या साधकको वस्तु, व्यक्ति आदिसे अतीतके जीवनकी प्रेरणा नहीं देती ? अर्थात् अवश्य देती है। .... गहरी नींदके समान स्थिति यदि जाग्रत्में प्राप्त कर ली जाय तो यह सन्देह निर्मूल हो जायगा और यह स्पष्ट बोध हो जायगा कि वस्तु, व्यक्ति आदिके बिना भी जीवन है और उस जीवनमें किसी प्रकारका अभाव नहीं है। -चित्तशुद्धि 82-83

4. 'कर्तव्य-परायणता' के बिना जीवन जगत्के लिये, 'असंगता' के बिना जीवन अपने लिये एवं 'आत्मीयता' के बिना जीवन अपने निर्माताके लिये उपयोगी नहीं होता। -मूक सत्संग.89

5. जीवन स्वयं रक्षा करता है। विचारशील केवल अपने कर्तव्यकी ओर देखते हैं, परिणामपर दृष्टि नहीं रखते हैं। .-संतपत्रावली 1/148

6. साधकको विश्वास रखना चाहिये कि जीवन स्वयं अपनी रक्षा करता है। यदि जीवन शेष है तो जीवनके साधन स्वयं प्राप्त हो जायँगे। -संत-सौरभ 172

7. जिसका जीवन जगत्के लिये उपयोगी सिद्ध होता है, उसका जीवन अपने लिये तथा अनन्तके लिये भी उपयोगी सिद्ध होता है। -दर्शन और नीति 2

8. जो बात व्यक्तिके जीवनमें आ जाती है, वह विभु हो जाती है और उसका प्रभाव अपने-आप बृहत् समाजपर पड़ता है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 70

9. संसारकी सहायतासे जबतक जीवन मालूम होता है, तबतक तो मृत्युके ही क्षेत्रमें रहते हैं। शरीरके रहनेका नाम जीवन नहीं है।...... शरीरसे सम्बन्ध टूटनेके बाद जीवनकी प्राप्ति होती है। -संतवाणी 7/109

10. अगर शरीर नहीं रहता है, अगर वस्तु नहीं रहती है, तो इसका अर्थ यह है कि शरीर और वस्तुसे परे जो जीवन है, उसमें आपका प्रवेश होता है। -संतवाणी 5/261

11. शरीर-रहित जीवन ही सच पूछिये जो जीवन है। शरीर-सहित जीवन तो जीवनकी लालसा है।...... वर्तमान परिवर्तनशील जीवन नित्य जीवनका साधन है, जीवन नहीं। -संतवाणी 6/29

12. चाह-रहित होकर हम सब वर्तमानमें ही वास्तविक जीवनको प्राप्त कर सकते हैं। -संतवाणी 6/33

13. जो 'है', वही जीवन है। जीवन 'है' में है, 'नहीं' में नहीं है। -संतवाणी 5/17

14. श्रम-रहित होनेसे और विकार-रहित होनेसे जिस जीवनमें प्रवेश होता है अथवा जिस जीवनके साथ अभिन्नता होती है, वही वास्तविक जीवन है। -संतवाणी 5/50

15. जिसको लोग जीवन कहते हैं, वह जीवन नहीं है। वह तो मृत्युका ही दूसरा नाम है। एक अवस्थाकी मृत्युको ही दूसरी अवस्थाका जन्म कहते हैं।...... हरेक क्षणमें परिवर्तन होता है। परिवर्तनका ही नाम मृत्यु है। अतः वह जीवन नहीं है। असली जीवन तो वह है, जिसमें मरनेका डर नहीं है। -संत-सौरभ 180

16. 'जीवन' शब्दका अर्थ भी परमात्मा ही है। जीवन माने क्या ? जिसका नाश न हो, जिसमें चेतना हो, जो रसरूप हो। परमात्मा किसे कहते हैं ? जो सत् हो, चित् हो, आनन्द हो। तो जो 'परमात्मा' शब्दका अर्थ है, वही 'जीवन' शब्दका अर्थ है। -संतवाणी 3/116

17. दर्शन अनेक यानी दृष्टिकोण अनेक, पर जीवन एक। जीवन अनेक नहीं है, जीवन एक है। और वही जीवन हम सबको मिल सकता है, और उसीके लिये यह मानव-जीवन मिला है। -संतवाणी 3/117

18. 'क्रिया' का जीवन ही पशु-जीवन है, 'भाव' का जीवन ही मानव-जीवन है और 'ज्ञान' का जीवन ही ऋषि-जीवन है। -सन्त-समागम 2/19

19. जबतक परिवर्तनशील जीवन नित्य जीवनसे अभिन्न न हो जाय, तबतक वर्णाश्रमके अनुसार संस्कार तथा चिह्नको धारण करना परम अनिवार्य है। -सन्त-समागम 2/270

ज्ञान

1. ज्ञानका सर्वोत्तम साधन केवल विचार है। -संतपत्रावली 1/93

2. ठहरी हुई बुद्धिमें श्रुति अर्थात् वेदके ज्ञानका अवतरण होता है। उस ज्ञानके लिये किसी भाषा-विशेषकी अपेक्षा नहीं है। -जीवन-पथ 56

3. 'पर' के द्वारा 'स्व' का बोध न किसीको हुआ है और न होगा। -मानव-दर्शन 65

4. ज्ञान असत्‌का होता है। प्राप्ति सत्‌की होती है। -मानव-दर्शन 95

5. यह नियम है कि असत्‌का ज्ञान असत्‌से असंग होनेपर और सत्‌का ज्ञान सत्‌से अभिन्न होनेपर ही होता है। -जीवन-दर्शन 284-285

6. जिसको आप जानना और समझना कहते हैं, वह तो सीखना है। आपने सीखा है, सुना है। न आपने जाना है, न समझा है। .... जाननेका अर्थ यह है कि जब आप ठीक-ठीक जान लें कि सचमुच इतने बड़े संसारमें मेरा कुछ है ही नहीं और मुझे कुछ नहीं चाहिये। -संतवाणी 7/96-97

7. बुद्धिका जो ज्ञान है, उसका 'प्रभाव' हो जाय जीवनमें और इन्द्रियके ज्ञानका 'उपयोग' हो जाय। -संतवाणी 4/71

8. रुचि-भेदसे, योग्यता-भेदसे, सामर्थ्य-भेदसे बाह्य ज्ञानका प्रभाव एक-सा नहीं रहता; और जबतक प्रभाव एक-सा नहीं रहता, तबतक उसको निःसन्देहता नहीं कह सकते। तात्पर्य क्या निकला ? कि बाह्य ज्ञानके आधारपर हम सब निःसन्देह नहीं हो सकते। -संतवाणी 4/79-80

9. चाहे यहाँ बैठकर ज्ञानका आदर करो, गंगा किनारे बैठकर ज्ञानका आदर करो और चाहे उत्तराखण्डमें बैठकर करो। अगर आप अपने ज्ञानका आदर नहीं करेंगे तो आपको सत्य नहीं मिल सकता। -संतवाणी 3/38

10. आजकल शास्त्रीय ज्ञानको, जो कि विश्वास है, लोग 'ज्ञान' कहते हैं। -जीवन-पथ 54

11. हम सबसे बड़ी भूल यह होती है कि हम अपने जाने हुएसे दूसरोंको समझानेका प्रयास करते हैं। यह रोग जबतक रहेगा, बेसमझी उत्तरोत्तर बढ़ेगी। जब हम अपने जाने हुएसे अपने ही को समझायेंगे, तो मेरा ऐसा विश्वास है कि अपनेमेंसे ही नहीं, विश्वमेंसे भी बेसमझी चली जायगी। -जीवन-पथ 94

12. अल्प ज्ञानका दूसरा नाम अज्ञान है। अज्ञानका अर्थ 'ज्ञानका अभाव' नहीं है। -मानवकी मांग 69

13. साधनरूप ज्ञानकी परावधि प्रेममें है और साधनरूप भक्तिकी परावधि स्वरूप-साक्षात्कारमें है। कारण कि जिसे जानते हैं, उससे प्रेम हो जाता है और जिसे मानते हैं, उसे जान लेते हैं। -मानवकी मांग 130

14. बोध रहता है, बोधवान् नहीं। जबतक यह भासित होता है कि मैं बोधवान् हूँ, तबतक किसी-न-किसी अंशमें बोधसे भिन्नता है। भिन्नता भेदको पुष्ट कर परिच्छिन्नतामें आबद्ध करती है। -मानव-दर्शन 32

15. जिसकी उपलब्धि निज-ज्ञानसे सिद्ध होती है, उसके लिये कोई अभ्यास अपेक्षित नहीं होता। -साधन-निधि 8

16. अपने जाने हुएका आदर करनेपर सभीके ज्ञानका आदर हो जाता है। कारण कि ज्ञानमें एकता है, भिन्नता नहीं। -मूक सत्संग.81

17. अनुभवसे पूर्व मान लेना आस्था है, ज्ञान नहीं। विकल्परहित आस्था ज्ञानके समान प्रतीत होती है। -मूक सत्संग.82

18. असत्‌के ज्ञानमें ही असत्‌के त्यागकी सामर्थ्य निहित है। असत्‌का त्याग तथा सत्‌का संग युगपद है। ज्ञान असत्‌का ही होता है और संग सत्‌का होता है। सत् असत्‌का प्रकाशक है, और असत्‌का ज्ञान असत्‌का नाशक है। अतः असत्‌के ज्ञानसे ही असत्‌की निवृत्ति होती है। -पाथेय 205

19. ज्ञानमें प्रेम और प्रेममें ज्ञान ओत-प्रोत हैं। यदि ज्ञान और प्रेमका विभाजन हो जाय तो ज्ञानरहित प्रेम 'काम' और प्रेमरहित ज्ञान 'शून्यता' में आबद्ध करता है, जो अभावरूप है। वास्तवमें ज्ञान और प्रेमका विभाजन सम्भव ही नहीं है। -मूक सत्संग.169

20. प्राकृतिक नियमके अनुसार इन्द्रिय-ज्ञान सेवाके लिये मिला है, सुखभोगके लिये नहीं और बुद्धिका ज्ञान त्यागके लिये मिला है, विवादके लिये नहीं। -जीवन-दर्शन 256

21. जो साधक अपने ज्ञानका आदर नहीं करता, वह गुरु और ग्रन्थके ज्ञानका भी आदर नहीं कर सकता। जैसे, जो नेत्रके प्रकाशका उपयोग नहीं करता, वह सूर्यके प्रकाशका भी उपयोग नहीं कर पाता। -जीवन-दर्शन 258

22. अपने प्रति होनेवाली बुराइयोंका ज्ञान जिस ज्ञानमें है, वही ज्ञान मानवका वास्तवमें पथ-प्रदर्शक है। -दर्शन और नीति 131

23. ज्ञान उसे नहीं कहते, जो जाननेमें आता है, अपितु उसे कहते हैं, जिससे जाना जाता है। जिससे जाना जाता है, वह किसी मस्तिष्ककी उपज नहीं है अर्थात् ज्ञान कोई भौतिक तत्त्व नहीं है, अपितु अनुत्पन्न अविनाशी तत्त्व है। -सफलताकी कुंजी 119

24. विज्ञानसे प्राप्त सामर्थ्यका उपयोग यदि ज्ञानपूर्वक नहीं किया जायगा तो विज्ञान अहितकर सिद्ध होगा, जो किसीको अभीष्ट नहीं है। -सफलताकी कुंजी 30

25. ज्ञान किसी कर्मका फल नहीं है। कारण कि बिना ज्ञानके कर्मानुष्ठान सिद्ध नहीं होता। जो कर्मकी सिद्धिमें हेतु है, वह कर्मका कार्य नहीं हो सकता। -दर्शन और नीति 78

26. जिस कालमें बुद्धिजन्य ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञानके प्रभावको खा लेता है, उसी कालमें समस्त कामनाएँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही निस्सन्देहता अपने-आप आ जाती है। -चित्तशुद्धि 37

27. ज्यों-ज्यों इन्द्रियजन्य ज्ञानका प्रभाव बढ़ता है, त्यों-त्यों वस्तुओंमें सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता प्रतीत होने लगती है, जो कामनाओंको उत्पन्न करनेमें समर्थ है। -चित्तशुद्धि 71

28. इन्द्रियोंके ज्ञानसे जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है, वही वस्तु बुद्धिके ज्ञानसे उसी कालमें वैसी नहीं प्रतीत होती। इन्द्रियाँ वस्तुमें सत्यता एवं सुन्दरताका भास कराती हैं, पर बुद्धिका ज्ञान उन वस्तुओंमें सतत परिवर्तनका दर्शन कराता है। -चित्तशुद्धि 98

29. चित्तकी अशुद्धिकी प्रतीति जिस ज्ञानसे होती है, उसी ज्ञानमें चित्तकी शुद्धिका उपाय भी विद्यमान है और उस उपायको चरितार्थ करनेका सामर्थ्य भी उसी ज्ञानमें है। -चित्तशुद्धि 144

30. अप्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्यके लिये वे ही प्राणी चिन्तित रहते हैं, जो प्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्यका सदुपयोग नहीं करते।
-चित्तशुद्धि 215

31. इन्द्रियोंके ज्ञानका उपयोग निर्बलोंकी सेवामें और बुद्धिके ज्ञानका उपयोग रागरहित होनेमें अर्थात् वस्तुओंकी सत्यता और सुन्दरताके अपहरणमें निहित है। -चित्तशुद्धि 240

32. जिस वस्तुको इन्द्रियद्वारा जानते हो, उसी वस्तुको बुद्धिके द्वारा भी जानो। -चित्तशुद्धि 250

33. इन्द्रिय-ज्ञानका प्रभाव मिटते ही बुद्धिका ज्ञान उसी प्रकार मिट जाता है, जिस प्रकार औषध रोगको खाकर स्वतः मिट जाती है।. ..... बुद्धिके ज्ञानकी आवश्यकता उसी समयतक रहती है, जिस समयतक इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव अंकित है।
-चित्तशुद्धि 278-279

34. इन्द्रिय-ज्ञानके आधारपर की हुई प्रवृत्ति दुराचारयुक्त और बुद्धि-ज्ञानके आधारपर की हुई प्रवृत्ति सदाचारयुक्त होती है।
-चित्तशुद्धि 279-280

35. जो नहीं है, उससे तद्रूप होकर उसको जान नहीं सकता और जो है, उससे भिन्न होकर उसको जान नहीं सकता अर्थात् 'है' से अभिन्न होकर 'है' को प्राप्त करता है और जो नहीं है, उससे असंग होकर उसकी वास्तविकताको जान सकता है।
-चित्तशुद्धि 285-286

36. यद्यपि बुद्धि और इन्द्रियका ज्ञान भी ज्ञान-जैसा ही प्रतीत होता है; परन्तु इन्द्रिय या बुद्धिका ज्ञान सन्देहरहित नहीं होता अर्थात् बुद्धि या इन्द्रिय-ज्ञानके आधारपर प्राणी निःसन्देह नहीं हो सकता।....... विवेक बुद्धि और इन्द्रियकी अपेक्षा अलौकिक तत्त्व है अथवा यों कहो कि उस अनन्तका विधान है। -चित्तशुद्धि 397

37. जब आप ज्ञानके लिये और किसीको पसन्द न करेंगे, तब आपको ज्ञान अपनेमें मिल जायगा। देखो, जिस प्रकार आप दर्पणमें अपने मुखको देखते हैं, उसी प्रकार महात्माओं तथा किताबोंमें आप अपने शुद्ध ज्ञानको देखते हैं। -सन्त-समागम 1/155

38. बोधका प्रधान हेतु राग-रहित होना है; क्योंकि राग ही अबोधका कारण है। -सन्त-समागम 1/204

39. कर्म ज्ञानका साधन नहीं होता, बल्कि भोगका दाता होता है। -सन्त-समागम 1/216

40. ज्ञानके तीन स्थल हैं –इन्द्रियोंका ज्ञान, बुद्धिका ज्ञान और बुद्धिसे परेका ज्ञान। बुद्धिसे परेके ज्ञानमें सृष्टि नहीं है। त्रिपुटी उसमें नहीं है। त्रिपुटी वहाँ है, जहाँ इन्द्रियों और बुद्धिका ज्ञान है। जहाँ बुद्धिका ज्ञान है, वहाँ आस्था है, चिन्तन नहीं है, और जहाँ इन्द्रियोंका ज्ञान है, वहाँ भोग है, योग नहीं है। -सन्त-समागम 2/72

41. इन्द्रियोंके ज्ञानसे 'भोग' उत्पन्न होता है। बुद्धिके ज्ञानसे 'योग' हुआ और स्वयंके ज्ञानसे 'तत्त्वज्ञान' हुआ, और स्वयं ज्ञानवाला 'तत्त्ववेत्ता' हुआ। -सन्त-समागम 2/73

42. माना हुआ 'मैं' तथा माना हुआ 'मेरा' मिटनेपर ही तत्त्वज्ञान हो सकता है। भक्त तथा जिज्ञासु दोनोंमें ही माना हुआ 'मैं' तथा माना हुआ 'मेरा' शेष नहीं रहता। -सन्त-समागम 2/168

43. असत्य द्वारा सत्यको जाननेका प्रयत्न मत करो, प्रत्युत असत्यको त्यागकर सत्यसे अभिन्न हो जाओ। -सन्त-समागम 2/232

44. आवश्यकतासे अधिक जानने तथा सुननेपर समझको अजीर्ण हो जाता है। अतः जितना जाना हो, उतना कर डालो। जानकारीके अनुरूप जीवन होनेपर जानकारी स्वयं बढ़ जाती है। -सन्त-समागम 2/248

45. यह नियम है कि जबतक अपना ज्ञान अपने काम नहीं आता, तबतक अन्यके द्वारा सुना हुआ ज्ञान भी जीवन नहीं हो पाता। –साधन-तत्त्व 24

46. जिस ज्ञानके द्वारा आप मुक्ति प्राप्त करनेकी साधना कर रहे हैं, उस ज्ञानका दाता तो मेरा प्रभु है। यदि आप ज्ञानस्वरूप हैं तो आपने पहले भूल क्यों की, जो कि आपको जिज्ञासु बनना पड़ा ? –सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 5

47. जो शरीरकी असलियतको देख लेगा, वह संसारकी असलियतको भी समझ लेगा। जो अपनेको देख लेता है अर्थात् मैं कौन हूँ, इसको जान लेता है, वह उस परमेश्वरको भी जान लेता है। –संत-सौरभ 81

48. इन्द्रियदृष्टिसे जिन वस्तुओंमें सत्यता और सुन्दरता प्रतीत होती है, बुद्धिदृष्टिसे उन्हीं वस्तुओंमें मलिनता और क्षणभंगुरताका दर्शन होता है, और विवेकदृष्टिसे किसीने उन प्रतीत होनेवाली वस्तुओंके अस्तित्वका ही दर्शन नहीं किया; क्योंकि विवेकदृष्टि जड़तासे विमुख कर चिन्मयतासे अभिन्न कर देती है। चिन्मय-साम्राज्यमें किसीने न तो कामको पाया और न श्रमको। –चित्तशुद्धि 426

49. ज्ञान अनात्माका होगा, आत्माका नहीं होगा। हाँ, आत्माकी प्राप्ति होगी, आत्मामें प्रियता होगी। –संतवाणी 5/91

50. सन्तोंका ज्ञान, आपका ज्ञान, वेदोंका ज्ञान –इनमें एकता है। –संतवाणी 5/178

51. साइन्स सच पूछिये कर्म है, और आपने अनुवाद कर दिया –विज्ञान। जिसमें ज्ञानकी गन्ध भी नहीं है, उसका नाम – विज्ञान ! …….. जिसे आप 'साइन्स' कहते हैं, जिसका अनुवाद हिन्दीमें 'विज्ञान' करते हैं, उसमें ज्ञानकी गन्ध भी नहीं है। … ….. तो विज्ञान है क्या ? बल है बल। बल जो होता है, वह हमेशा चेतना-शून्य होता है। –संतवाणी 4/87

52. इन्द्रिय-ज्ञानसे अनेक वस्तुएँ सत्य प्रतीत होती हैं, और बुद्धि-ज्ञानसे अनेक वस्तुओंमें एकता और परिवर्तन प्रतीत होता है, और बुद्धिसे अतीतके ज्ञानमें समस्त वस्तुएँ अभावरूप हैं। –संत-उद्‌बोधन 113

53. जो जिज्ञासु चैनसे रहता है, वह जिज्ञासु नहीं है। जिज्ञासुके जीवनमें सुख लेशमात्र नहीं रहता। सुखी प्राणी किसी प्रकार भी जिज्ञासु नहीं हो सकता। –सन्त-समागम 1/193

54. भूल न जाननेमें नहीं है, प्रत्युत जाने हुएको न माननेमें है। –चित्तशुद्धि 197

55. अनुभवसे भिन्न कथन करना ही बोधमें अबोध और अबोधमें बोधका मिलाना है।…….. अनुभव होनेपर अपनेसे भिन्न कुछ शेष नहीं रहता, फिर कौन किसका कथन करे ? –सन्त-समागम 1/200-201

त्याग

1. एक शरीरको लेकर कुटियाके अन्दर बन्द कर दिया और हम त्यागी हो गये। तो मैं कहूँगा कि ऐसे तो तुम्हारे बाप भी त्यागी नहीं हो सकते। यदि पूछो, क्यों त्यागी नहीं हो सकते ? तो कहना होगा कि आपने अपना {अहम्‌का} तो त्याग किया नहीं। भाई मेरे, अगर त्याग करना हो तो अपना त्याग करो। और प्रेम करना हो तो सभीको प्रेम करो। और यदि अपने-आपका त्याग नहीं कर सकते तो आप संसारका कभी त्याग नहीं कर सकते। -प्रेरणा पथ 187

2. त्याग क्या है ? मैं शरीर और संसारसे अलग हूँ। इसका फल क्या है ? अचाह होना, निर्मम होना और निष्काम होना। -संत-उद्‌बोधन 105

3. त्यागका अर्थ है कि किसी वस्तुको अपना मत मानो। स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरसे सम्बन्ध मत रखो। कर्म, चिन्तन एवं स्थिति किसी भी अवस्थामें जीवन-बुद्धि मत रखो। किसीका आश्रय मत लो। किसीसे सुखकी आशा मत करो। -संत-उद्‌बोधन 161

4. ममता, कामना और तादात्म्यके त्यागका नाम ही 'संन्यास' है। -संत-उद्‌बोधन 190

5. केवल गृहत्याग करने एवं वस्त्र रंगनेमात्रसे किसीको योग-बोध-प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यह त्याग नहीं वरन् त्यागके भेषमें अपने कर्तव्यसे पलायन करना है। -संत-उद्‌बोधन 190

6. मानवका अपना हित तो त्यागमें है। -मानव-दर्शन 121

7. जब अपना करके अपनेमें कुछ है ही नहीं, तो त्याग कैसा ! और जो वस्तु जिसकी है, उसे मिल गयी, तो सेवा कैसी ! -साधन-निधि 21

8. अनेक प्रिय वस्तुएँ स्वरूपसे छूट चुकी हैं; किन्तु उनकी सुन्दरता और चाह बाकी है। इसलिये वस्तुओंके त्यागका फल कुछ नहीं मिलता। वास्तवमें तो चाहका त्याग ही त्याग है। -संतपत्रावली 1/40

9. जो बिना किये हो, वही सच्चा त्याग है; क्योंकि सच्चा त्याग करना नहीं पड़ता, हो जाता है। -संतपत्रावली 1/70

10. किसी भी वस्तुको अपना मत समझो। बस, यही त्याग है। किसी वस्तु तथा व्यक्तिसे अलग होनेमात्रसे त्याग नहीं हो जाता। अपना न माननेसे त्याग होता है। -संतपत्रावली 2/35

11. विवेकपूर्वक ममता, कामना तथा तादात्म्यका त्याग ही वास्तविक, जाने हुए असत्‌का त्याग है। -पाथेय 165

12. यह कैसी विडम्बना है कि जिसका त्याग स्वतः हो रहा है, उसके त्यागमें भी असमर्थता प्रतीत होती है। इस असमर्थताके मूलमें छिपी हुई सुख-लोलुपता है, जो एकमात्र दुःखके प्रभावसे ही मिटती है। -दुःखका प्रभाव 97

13. प्रिय-से-प्रिय वस्तु तथा व्यक्तिका त्याग गहरी नींदके लिये भला किसने नहीं किया ? -दुःखका प्रभाव 107

14. जो हमारे बिना रह सकता है, जो बराबर हमारा त्याग कर रहा है, उससे सम्बन्ध बनाये रखना कठिन है या उसका त्याग ? -सफलताकी कुंजी 135

15. अकर्तव्यको अकर्तव्य जानकर ही उसका त्याग करना चाहिये। किसी भयसे भयभीत होकर अकर्तव्यका त्याग कुछ अर्थ नहीं रखता, प्रत्युत मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, जो अनर्थका मूल है। -चित्तशुद्धि 141

16. मृत्यु और त्यागका स्वरूप एक है, और परिणाममें ही भेद है। मृत्युका परिणाम जन्म है, और त्यागका परिणाम अमरत्व है। .... मृत्यु तो वस्तुका नाश करती है, और त्याग वस्तुके सम्बन्धका नाश करता है। -चित्तशुद्धि 204-205

17. यदि कोई साधक अपनेको सेवा करनेमें असमर्थ मानता है तो उसे त्यागको अपना लेना चाहिये। त्यागके अपना लेनेपर सेवा, पूजा तथा प्रेमका सामर्थ्य स्वतः आ जाता है। -चित्तशुद्धि 298

18. शरीर आदि किसी भी वस्तुको अपना न मानना और किसीसे भी किसी प्रकार भी सुखकी आशा न करना अर्थात् चाह-रहित होना अथवा यों कहो कि 'अहम्' और 'मम' का अन्त करना ही त्यागका वास्तविक रूप है। -चित्तशुद्धि 298

19. ईश्वर, धर्म और समाज किसीके ऋणी नहीं रहते। जो इनके लिये त्याग करते हैं, उनका ये अवश्य निर्वाह करते हैं। -सन्त-जीवन-दर्पण 63

20. सभी सत्यकी खोज करनेवालोंने त्याग किया है। -सन्त-समागम 1/32

21. त्याग क्रिया नहीं है, बल्कि असंगता है। -सन्त-समागम 1/140

22. त्याग वर्तमानमें और कर्म भविष्यमें फल देता है। -सन्त-समागम 1/158

23. जो नित्य आनन्द केवल त्यागसे प्राप्त होता है, उसके लिये भविष्यकी आशा करना एकमात्र प्रमादके अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं रखता। -सन्त-समागम 2/9

24. त्याग स्वतः उत्पन्न होनेवाली वस्तु है। -सन्त-समागम 2/129

25. त्याग कुलका होता है, जुज़का नहीं। -सन्त-समागम 2/195

26. जिसकी दृष्टि बिना दृश्यके स्थिर है, जिसका चित्त बिना आधारके शान्त है एवं जिसका प्राण बिना निरोधके सम है, उसीको गृह-त्यागका अधिकार है। -सन्त-समागम 2/264

27. सद्भावपूर्वक मोह-जनित सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर 'मैं भगवान्‌का हूँ' –इस भावमें सत्यता आ जाती है; क्योंकि किसीका त्याग किसीकी एकता हो जाती है। -सन्त-समागम 2/308

28. मोहयुक्त क्षमा और क्रोधयुक्त त्याग निरर्थक है। -सन्त-समागम 2/344

29. त्याग हो जानेपर त्यागका भास नहीं रहता; क्योंकि त्यागकी स्मृति अथवा उसका अस्तित्व तभीतक प्रतीत होता है, जबतक त्याग होता नहीं। -साधन-तत्त्व 85

30. सम्बन्ध-विच्छेदसे किसी वस्तु, व्यक्ति आदिकी क्षति नहीं होती और न प्राप्त वस्तुओंके सदुपयोग और व्यक्तियोंकी सेवामें ही बाधा होती है। -साधन-तत्त्व 95

31. त्याग संसारके चढ़ावकी ओर ले जाता है और कर्म संसारके बहावकी ओर ले जाता है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 42

32. शरीर और संसारके छोड़नेका प्रश्न नहीं है, प्रश्न है कि शरीर और संसारसे हमारा सम्बन्ध न रहे। -संतवाणी 8/151

33. यह नियम है कि जिसको जो देना है, वह देनेपर और जिससे लेना है, उससे न लेनेपर अपने-आप सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। -चित्तशुद्धि 406

34. त्यागसे बढ़कर सुलभ और कोई साधन है क्या दुनियामें ? त्याग किसका करना है ? जो आपके बिना भी रहता है और जो आपका त्याग करता है।...... त्याग करनेवालेका राग कठिन है कि त्याग करनेवालेका त्याग कठिन है ? -संतवाणी 7/171

धन

1. धनके संग्रहसे कोई निर्धनता मिट जाय –यह बात नहीं है। –संतवाणी 5/231

2. जबतक भौतिक मनमें 'अर्थ' का महत्व है, तबतक उसका अपव्यय मनमें खटकता है और उसकी प्राप्ति सुखद प्रतीत होती है। –पाथेय 30

3. क्या कर्ज बाँटनेवाला गरीब नहीं है ? कर्ज लेनेवाला ही गरीब है क्या ? सोचो जरा ईमानदारीसे। –संतवाणी 8/14

4. कुछ लोग तो यही घमण्ड करते हैं कि हमारे पास सम्पत्ति सबसे अधिक है। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि हममें बेसमझी सबसे अधिक है। विचार करें, सम्पत्तिके आधारपर जो तुम्हारा महत्त्व है, शायद उससे अधिक बेसमझी और कहीं नहीं मिल सकती। –संतवाणी 7/122

5. कम-से-कम एक सप्ताहके लिये मानवको नौकरोंकी दासतासे मुक्त रहना चाहिये।....... कुछ लोग अर्थके अधीन श्रमका अनादर कर रहे हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि आज कार्यकुशलता दिन-पर-दिन घटती जा रही है। लोग काम करनेको अच्छा नहीं मानते। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ है कि अर्थका महत्त्व बढ़ गया है, जिसने मानव-समाजमें संग्रहकी रुचि उत्पन्न कर दी है। संग्रह अभिमान तथा विलासको जन्म देता है, जो विनाशका मूल है। –पाथेय 212

6. समाजका वह वर्ग जो उपार्जन करनेमें असमर्थ है, उसीके निमित्त परिग्रह करना आवश्यक है, चाहे उसपर अधिकार व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रगत। –मानव-दर्शन 146

7. संग्रहका अधिकार उन्हीं लोगोंको है, जो अपने लिये संग्रह नहीं करते। –मानव-दर्शन 147

8. व्यक्तिगत सुखभोगके लिये ही परिग्रहके त्यागकी बात है। –मानव-दर्शन 147

9. सिद्धान्ततः सम्पत्ति न राष्ट्रगत है, न व्यक्तिगत। संगृहीत सम्पत्ति उन्हींका भाग है, जो रोगी, बालक तथा सेवा-परायण हैं एवं सत्यकी खोजमें रत हैं। –मानव-दर्शन 147

10. आर्थिक कमी होनेपर भी आवश्यक कार्य स्वतः हो जाते हैं। बुद्धिजन्य विधानके न रहनेपर वह अपने-आप हो जायगा, जो होना चाहिये। –पाथेय 157

11. रोगी, वृद्ध एवं बालक तथा विरक्त संग्रहीत सम्पत्तिके अधिकारी हैं। –पाथेय 14

12. सिक्केसे वस्तु, वस्तुसे व्यक्ति, व्यक्तिसे विवेक एवं विवेकसे सत्यको अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है। –मानवकी मांग 219

13. आवश्यक वस्तुओंका उत्पादन शारीरिक और बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक मूल पदार्थोंके द्वारा ही होता है। किसी सिक्केसे किसी भी वस्तुका सम्पादन नहीं होता। –दर्शन और नीति 53

14. यदि सिक्केका महत्त्व न रहे तो मानव-समाजमेंसे आलस्य, विलास एवं अकर्मण्यता तो बहुत ही कम हो जाय। –दर्शन और नीति 54

15. श्रमको सिक्केमें बदलनेसे श्रमका महत्त्व नहीं बढ़ता। –दर्शन और नीति 54

16. यदि सिक्केका महत्त्व मानवके जीवनसे मिट जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक परस्पर एकता स्थापित हो सकती है। –दर्शन और नीति 54

17. सिक्केकी उपयोगिता एकमात्र सुविधापूर्वक वस्तुओंके आदान-प्रदानमें है। वास्तवमें तो जीवनमें सिक्केकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। जीवनमें आवश्यकता वस्तुकी है। –दर्शन और नीति 60

18. निर्धन वह है, जिसे दूसरेका धन अधिक दिखाई देता है और अपना धन कम दिखाई देता है। –सन्त-समागम 2/72

19. आलस्य, अकर्मण्यता तथा अभिमानके पोषणमें सिक्केका बहुत बड़ा हाथ है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 83

20. जिसके पास धन न हो, उसे दान करनेका संकल्प नहीं उठने देना चाहिये।...... दान तो संग्रह करनेका टैक्स है। –संत-सौरभ 78

21. सट्टेके व्यापारमें जुएकी भाँति किसी एकका नुकसान ही दूसरेका लाभ होता है। इस बातको सभी जानते हैं कि सट्टेमें धन बाहरसे नहीं आता। सट्टा करनेवालोंमें ही एकका नुकसान और दूसरेका लाभ होता है। सट्टा करनेवाले सभी लाभकी आशासे करते हैं; परन्तु सबको लाभ नहीं हो सकता। इस व्यापारमें किसीका दुःख ही दूसरेका सुख है। अतः यह व्यापार उचित नहीं है। –संत-सौरभ 108-109

22. सिक्केसे वस्तुओंका, वस्तुसे व्यक्तियोंका, व्यक्तियोंसे विवेकका और विवेकसे उस नित्य जीवनका, जो परिवर्तनसे अतीत है, अधिक महत्त्व है। –सन्त-समागम 2/91

23. बाहरसे जितना इकट्ठा करोगे, उतने ही भीतरसे गरीब होते चले जाओगे। –संतवाणी 8/17

24. धनका संग्रह करनेकी सामर्थ्य जिसमें होती है, उसमें धनका सदुपयोग करनेकी योग्यता नहीं होती। ऐसा नियम ही है। यदि सदुपयोग करना आ जाय तो वह संग्रह कर ही नहीं सकता। –संतवाणी 7/184

धर्म

1. जिस प्रवृत्तिमें त्याग तथा प्रेम भरपूर है, वही वास्तवमें धर्म है। -सन्त-समागम 2/279

2. जो प्रवृत्ति धर्मानुसार की जाती है, उसमें भावका मूल्य होता है, क्रियाका नहीं। भावको मिटाकर केवल क्रियाको स्थान देना पशुता है। -सन्त-समागम 2/278

3. धर्मका मतलब यह है कि जो नहीं करना चाहिये, उसको छोड़ दो तो जो करना चाहिये, वह होने लगेगा। -संतवाणी 5/179

4. आप जानते हैं, मजहबकी आवश्यकता क्यों होती है ? अपने जाने हुए असत्‌का त्याग करनेके लिये। -जीवन-पथ 131-132

5. धर्म एक है, अनेक नहीं। जिस प्रकार रेलवे स्टेशनपर मुसलमानके हाथमें होनेसे 'मुसलमान पानी' और हिन्दूके हाथमें होनेसे 'हिन्दू पानी' कहलाता है, यद्यपि बेचारा पानी न तो हिन्दू होता है, न मुसलमान, उसी प्रकार जब लोग धर्मात्माको किसी कल्पनामें बाँध लेते हैं, तब उसके नामसे उस धर्मको कहने लगते हैं। -सन्त-समागम 1/58

6. वास्तवमें तो धर्म वह है, जो करनेमें आये, कहनेमें नहीं। -सन्त-समागम 1/58

7. धर्मका मूलमन्त्र केवल दो बातें सिखाता है –किसीके ऋणी बनकर मत रहो, और प्रत्येक कार्य विश्वके नाते अथवा भगवान्‌के नाते करते रहो। -सन्त-समागम 2/87

8. जिस प्रकार लिपि अर्थको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार प्रत्येक धार्मिक चिह्न मूक भाषामें स्वधर्म-निष्ठ होनेके लिये प्रेरित करता है। -सन्त-समागम 2/269-270

9. सभी बन्धन प्राणीमें उपस्थित हैं, परिस्थितिमें नहीं। प्रतिकूल परिस्थितिका भय नास्तिक अर्थात् धर्मरहित प्राणियोंको होता है। धर्मात्मा प्रतिकूल परिस्थितिसे डरता नहीं, प्रत्युत उसका सदुपयोग करता है। -सन्त-समागम 2/280

10. धर्म प्राणीके छिपे हुए बन्धनोंको प्रकाशित कर निकालनेका प्रयत्न करता है, किसी नवीन बन्धनको उत्पन्न नहीं करता। -सन्त-समागम 2/280-181

11. धर्म थोड़ा लेकर बहुत देना सिखाता है। जिसमें ऐसा बल नहीं है, उसमें धर्म नहीं रहता। -सन्त-समागम 2/281

12. धर्मानुसार की हुई प्रवृत्ति स्वाभाविक निवृत्ति उत्पन्न कर देती है। -सन्त-समागम 2/242

13. आपको उपहार-स्वरूप श्रीरामायण इसलिये दी जाती है कि आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति धर्मानुसार सरस तथा मधुर हो। -सन्त-समागम 2/279

14. धर्मकी पूर्णता तब सिद्ध होती है, जब अपनी प्रसन्नताके लिये संसारकी ओर नहीं देखता, प्रत्युत संसारकी प्रसन्नताका साधन बन, अपने ही में अपने प्रीतमको पाकर, नित्य जीवन एवं नित्य रस पाता है। -सन्त-समागम 2/281

15. जिसे पूरा करनेकी स्वाधीनता हो, जिसका वर्तमानसे सम्बन्ध हो, जिससे किसीका अहित न हो, उसको आवश्यक कार्य कहते हैं, उसको कर्तव्य कहते हैं, उसको धर्म कहते हैं। -संतवाणी 8/29-30

16. धर्म माने संसारके काम आ जाओ। और संसारके काम कैसे आओगे ? इस सत्यको स्वीकार करो कि मनसे, वाणीसे और कर्मसे कभी किसीको हानि नहीं पहुँचाऊँगा। -संतवाणी 8/109

17. धर्म तो उसे कहते हैं, जो निषेधात्मक हो। जो विध्यात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, वे मत, मजहब और सम्प्रदाय कहलाते हैं।.....जैसे, मैं किसीको हानि नहीं पहुँचाऊँगा –यह धर्म हो गया और किस-किस प्रकारसे दूसरोंको लाभ पहुँचाऊँगा –यह मजहब हो गया। -संतवाणी 8/110

18. जिसमें सब एकमत हों, वह 'धर्म' कहलाता है और जिसमें भेद हो, वह 'मजहब' कहलाता है। मजहब व्यक्तिगत सत्य होता है और धर्म सार्वभौम सत्य होता है। -संतवाणी 8/110

19. मानवमात्रका धर्म भिन्न नहीं हो सकता। मानवमात्रका धर्म एक ही है। -संतवाणी 8/111

ध्यान

1. ध्यानसे मन इसलिये ऊबता है कि तुम 'करते हो', 'होता' नहीं ध्यान। -संतवाणी 3/70

2. जगत्‌की स्मृतिको सत्ता देकर आप प्रभुका ध्यान करना चाहते हैं, जो सर्वथा असम्भव है। दया करें अपनेपर और ध्यानका प्रयत्न छोड़ दें, तब ध्यान अपने-आप ही हो जायगा। इसका अर्थ उल्टा मत लगा लेना। ध्यान करना छोड़ें उसका, जिसमें ममता है। -जीवन-पथ 24

3. ध्यान क्या है ? जिसकी जरूरत होती है, उसका ध्यान अपने-आप होता है। -संत-उद्‌बोधन 13

4. ध्यान किसका होगा ? जिसकी आवश्यकता आप अनुभव करोगे। जिसकी स्मृति जगेगी, उसका ध्यान होगा। स्मृति उसकी जगेगी, जिसको आप अपना मानोगे। तो एकदम ध्यान कैसे कर लोगे ? पहले तो यह देखो कि जिसका आप ध्यान करना चाहते हैं, वह आपका अपना है या नहीं, वह अभी है या नहीं ? -संत-उद्‌बोधन 16

5. ध्यान किसीका नहीं करना है। किसीका ध्यान नहीं करोगे तो परमात्माका ध्यान हो जायगा। और किसीका ध्यान करोगे तो वह फिर किसी औरका ही ध्यानमात्र रह जायगा। -संत-उद्‌बोधन 17

6. क्या वह ध्यान भी कोई ध्यान है, जिससे उत्थान हो जाय ? यदि ध्यानमें अनन्तका दर्शन होता है तो ध्यानके उत्थानमें किसका दर्शन होता है ? क्या अनन्तसे भिन्न किसी औरकी सत्ता है ? कदापि नहीं। जिसे हम ध्यानमें देखते हैं, उसीको हमें ध्यानसे उत्थान होनेपर भी देखना है। तभी ध्यानीका ध्यान अखण्ड होगा और उसे सर्वत्र अपने प्रीतमका ही अनुभव होगा। -जीवन-दर्शन 277

7. ध्यान किया नहीं जाता, बल्कि हो जाता है। -सन्त-समागम 1/91

8. जिस मनसे शरीर आदि वस्तुओंका ध्यान निकल जाता है, उस मनमें भगवद्ध्यान स्वतः होने लगता है। -सन्त-समागम 2/294-295

9. आवश्यकता और अपनापन ध्यानका मूल है। आँख बन्द करके बैठना अथवा अकड़कर बैठना ध्यानका मूल नहीं है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 87

न्याय

1. अन्यायका वास्तविक प्रतिकार अपने प्रति न्याय और दूसरोंके प्रति प्रेमसे ही होगा। -साधन-निधि 37

2. कभी भी किसीसे न्याय तथा प्रेमकी आशा नहीं करनी चाहिये, अपितु स्वयं अपने प्रति न्याय और दूसरोंके प्रति उदारता तथा प्रियताका व्यवहार करना चाहिये। -संतपत्रावली 2/120

3. अपनेपर किसी अन्य न्यायाधीशकी आवश्यकता अपने प्रति न्याय न करनेसे होती है। कोई भी न्यायाधीश अन्यके प्रति यथेष्ट न्याय नहीं कर सकता अर्थात् दोषके अनुरूप न्याय नहीं कर पाता। यही कारण है कि शासन-प्रणालीके द्वारा समाजमें निर्दोषताकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। -दर्शन और नीति 10-11

4. यह सभीको मान्य होगा कि दो व्यक्तियोंकी भी बनावट सर्वांशमें एक नहीं है। इस कारण किसको कितने दण्डसे कितना दुःख होता है, इसका निर्णय कोई भी न्यायाधीश कर नहीं सकता। -दर्शन और नीति 12

5. प्रत्येक मानवको अपने प्रति स्वयं न्याय करना होगा। न्यायका अर्थ किसीका विनाश करना नहीं है, अपितु किये हुए अपराधकी पुनः उत्पत्ति ही न हो, यही न्यायकी सफलता है। -दर्शन और नीति 12

6. वह न्याय 'न्याय' नहीं है, जो अपराधीको निरपराध बनानेमें समर्थ न हो। -दर्शन और नीति 25

7. जिस प्रकार राष्ट्रका प्रतीक 'न्याय' है, उसी प्रकार मत, सम्प्रदायका प्रतीक 'प्रेम' है। किसी पद्धतिका राष्ट्र हो, उससे 'न्याय' की ही और कोई भी सम्प्रदाय हो, उससे 'प्रेम' की ही आशा की जाती है। -दर्शन और नीति 73

8. माँ-बापकी गोदमें बच्चोंका वास्तविक विकास सम्भव नहीं है; क्योंकि माँ-बापसे प्यार तो मिलता है; किन्तु न्याय नहीं, और नौकरोंके द्वारा न्याय मिलता है, प्यार नहीं। बालकका यथेष्ट विकास तभी सम्भव है, जब उसका पालन प्यार तथा न्यायपूर्वक किया जाय। -सन्त-समागम 2/88

9. संसारसे न्याय तथा प्रेमकी आशा मत करो; परन्तु अपनी ओरसे न्याय तथा प्रेम-युक्त व्यवहार करते रहो। -सन्त-समागम 2/271

10. वास्तविक न्याय किसी अन्यके द्वारा कभी भी सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक भाई-बहनको अपने प्रति अपने द्वारा न्याय करना अनिवार्य है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 36

11. न्यायका अर्थ किसीको दण्डित करना नहीं है, अपितु अपराधी स्वयं अपने अपराधको जान निरपराधी होनेके लिये तत्पर हो जाय। यही वास्तविक न्याय है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 39

परदोषदर्शन

1. हम न बिगड़ते तो दुनिया न बिगड़ती यानी दुनियामें बुराई नहीं दीखती। हमारी ही बुराई दुनियामें दिखाई देती है, ऐसा मैं मानता हूँ। -संतवाणी 3/39

2. अगर आप यह चाहते हैं कि कोई बुरा न रहे तो उसका सुगम उपाय है कि आप किसी को बुरा न समझें। -संतवाणी 5/254

3. सबसे बड़ी सेवा, अपनी और दूसरोंकी, इसीमें है कि हम किसीको बुरा न समझें। -संतवाणी 6/163

4. दुनियाका सबसे बड़ा आदमी वही हो सकता है, जो किसीको बुरा नहीं समझता। दुनियाका सबसे बड़ा आदमी वह भी हो सकता है, जो किसीसे सुखकी आशा नहीं करता और अपने दुःखका कारण किसी औरको नहीं मानता। -संतवाणी 6/164

5. जिसको आप जैसा समझेंगे, जैसा सोचेंगे, जैसा मानेंगे, वैसा वह हो जायगा। इससे क्या सिद्ध हुआ ? हम किसीको बुरा न समझें। -संतवाणी 5/254

6. जो किसीको बुरा समझता है, वह उससे ज्यादा बुरा है, जो बुराई करता है। -प्रेरणा पथ 74

7. मेरा यह विश्वास है और अनुभव है कि आँखों देखी बुराईके विषयमें भी कोई व्यक्ति सही अर्थमें निर्णय नहीं कर सकता कि उसमें बुराईका अंश कितना है। -प्रेरणा पथ 74

8. कभी-कभी तो जैसा हमें दिखाई देता है, वास्तविकता उसके विपरीत होती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि देखने तथा सुननेमात्रसे ही किसीको दोषी मान लेना न्यायसंगत नहीं है। -मानवकी मांग 186

9. बुराई करना छोटी बुराई है, दूसरोंका बुरा चाहना उससे बड़ी बुराई है और किसीको बुरा समझना सबसे बड़ी बुराई है। -साधन-त्रिवेणी 102

10. दूसरोंको बुरा समझनेसे अपनेमें बुराई उत्पन्न हो जाती है। -साधन-निधि 29

11. अधिकतर तो सुनकर अथवा अनुमानमात्रसे ही दूसरोंको बुरा समझ लिया जाता है। इतना ही नहीं, इन्द्रिय-दृष्टिसे किसीकी वास्तविकताका बोध ही नहीं होता। -साधन-निधि 30

12. बुरे-से-बुरे प्राणीको भी बुरा मत समझो। -संतपत्रावली 1/151

13. जिस समय अपने दोषका दर्शन हो जाय, समझ लो कि तुम जैसा विचारशील कोई नहीं। और जिस समय परदोष-दर्शन हो जाय, उस समय समझ लो कि हमारे जैसा कोई बेसमझ नहीं। -प्रेरणा पथ 99

14. जिस ज्ञानसे हम दूसरोंके दोष देखते हैं, उसी ज्ञानसे हम अपने दोष देखें और उनका त्याग कर दें। बस, यही ज्ञानका मतलब है। -संतपत्रावली 2/34

15. अपनेमें गुणोंका भास होना तो अपने लिये अनुपयोगी होना है। कारण कि गुणोंका आश्रय लेकर अहंभाव-रूपी अणु पोषित होता है और गुणोंका भास परदोष-दर्शनको जन्म देता है, जो विनाशका मूल है। -साधन-निधि 56

16. भूतकालके दोषोंके आधारपर किसीको दोषी मानना उसके प्रति घोर अन्याय है। इतना ही नहीं, यदि वह स्वयं अपनेको दोष माने, तब भी उसे यही प्रेरणा देना है कि यदि तुम भूतकालके दोषोंको इस समय नहीं दोहरा रहे हो, तो निर्दोष हो। -पाथेय 101

17. अपना गुण और पराया दोष देखनेके समान और कोई दोष नहीं है। -दुःखका प्रभाव 70

18. पराये दोष देख प्राणी अपने दोषोंको सहन करता रहता है। इस कारण परदोष-दर्शनका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि दोषदर्शी निज दोषोंसे व्यथित नहीं होता। -दुःखका प्रभाव 72

19. परदोषदर्शन करते हुए गुणोंका अभिमान गल नहीं सकता। -जीवन-दर्शन 43

20. मानवकोटिका कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो जन्मसिद्ध निर्दोष हो। सभी दोषोंका मूल एकमात्र राग है और जन्मका हेतु भी राग है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि किसीको जन्मसिद्ध निर्दोष मानना सम्भव नहीं है। निर्दोषता तो साधनयुक्त जीवनका फल है। -जीवन-दर्शन 44

21. बड़े-से-बड़ा दोषी निर्दोष हो सकता है; परन्तु परदोषदर्शीका निर्दोष होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। -जीवन-दर्शन 44

22. अपने दोषका स्पष्ट ज्ञान उन्हींको होता है, जो परदोषदर्शन नहीं करते। इतना ही नहीं, यदि कोई स्वयं अपना दोष स्वीकार करे, तब भी वे यही कहते हैं कि तुम वर्तमानमें तो निर्दोष ही हो। यदि भूतकालमें कोई भूल हुई है तो उसे अब मत करना। -दर्शन और नीति 12

23. दूसरेको बुरा समझना अपनेको बुरा बनानेमें मुख्य हेतु है। -दर्शन और नीति 32

24. वैरभावके समान और कोई अपना वैरी नहीं है, जिसकी उत्पत्ति दूसरोंको बुरा समझनेसे होती है। अतः किसीको बुरा समझना अपना बुरा करना है। -दर्शन और नीति 30

25. महापुरुषोंके दोष नहीं देखने चाहियें। पहाड़का गड्ढा भी जमीनसे ऊँचा होता है। –सन्त-जीवन-दर्पण 90

26. जो किसीको भी दोषी मानता है, वह स्वयं निर्दोष नहीं हो सकता। अपनी निर्दोषता सुरक्षित रखनेके लिये सभीमें निर्दोषताका दर्शन करना होगा। –दर्शन और नीति 40

27. अपने तथा पराये दोष देखनेमें एक बड़ा अन्तर यह है कि पराये दोष देखते समय हम दोषोंसे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, जिससे कालान्तरमें स्वयं दोषी बन जाते हैं। पर अपना दोष देखते समय हम अपनेको दोषोंसे असंग कर लेते हैं, जिससे स्वतः निर्दोषता आ जाती है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 14

28. परदोषदर्शनका त्याग किये बिना निर्दोषताके साम्राज्यमें प्रवेश ही नहीं हो सकता। –दर्शन और नीति 65

29. अपने गुण और पराये दोष न देखनेपर ही सेवा तथा प्रीतिकी अभिव्यक्ति होती है। अतः अपने गुण तथा दूसरोंके दोष देखना संघर्षका मूल है। –दर्शन और नीति 67

30. किसीको बुरा समझना किसी भी बुराईसे कम बुराई नहीं है, अपितु सभी बुराइयोंसे बड़ी भयंकर बुराई है। किसीको बुरा न समझनेका अर्थ यह नहीं है कि आप उसे श्रद्धास्पद बना लें। उसका अर्थ केवल इतना है कि उसे सर्वांशमें दोषी न मानें और उसकी वर्तमान निर्दोषतापर अपनी दृष्टि रखें। उससे ऐसा व्यवहार करें कि वह स्वयं अपने दोषको भलीभाँति जान ले और उसे न दुहरानेके लिये वह स्वयं दृढ़तापूर्वक पूर्त्तिपर हो जाय। –दर्शन और नीति 102

31. जब हम परदोष-दर्शन न करके केवल अपने ही दोषको देखें और उसके मिटानेका उपाय जानकर उसे अपने जीवनमें चरितार्थ करें, तभी हम अपने नेता, गुरु तथा शासक हो सकते हैं। –मानवकी मांग 187

32. किसी भी की हुई, सुनी हुई, देखी हुई बुराईके आधारपर अपनेको अथवा दूसरेको सदाके लिये बुरा मान लेनेसे चित्त अशुद्ध हो जाता है। बुराई-कालमें कर्ता भले ही बुरा हो, पर उससे पूर्व और उसके पश्चात् बुरा नहीं है। फिर भी उसे बुरा मानते रहना उसके प्रति घोर अन्याय है। प्राकृतिक नियमके अनुसार किसीमें बुराईकी स्थापना करना उसे बुरा बनाना है और अपने प्रति बुराईके आनेका बीज बोना है। –चित्तशुद्धि 61-62

33. अपने दोषका दर्शन अपनेको निर्दोष बनानेमें समर्थ है और परदोषदर्शन अपनेको दोषी बनानेमें हेतु है। –चित्तशुद्धि 237

34. समस्त दोषोंकी भूमि गुणका अभिमान है। परदोषदर्शनसे उसमें नित नव वृद्धि होती है और व्यक्तिगत दोषके दर्शनसे गुणका अभिमान गल जाता है। –चित्तशुद्धि 237

35. मानवमें दोष-दर्शनकी दृष्टि स्वतः विद्यमान है, पर प्रमादवश प्राणी उसका उपयोग अपने जीवनपर न करके अन्यपर करने लगता है, जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर एवं दुःखद सिद्ध होता है। पराये दोष देखनेसे सबसे बड़ी हानि यह होती है कि प्राणी अपने दोष देखनेसे वंचित हो जाता है और मिथ्याभिमानमें आबद्ध होकर हृदयमें घृणा उत्पन्न कर लेता है।

–मानवताके मूल सिद्धान्त 13-14

परमात्मा

1. अगर परमात्माके माननेवालोंको परमात्माकी याद नहीं आती, और करनी पड़ती है –यह कोई कम दुःखकी बात है ? यह कम आश्चर्यकी बात है ? अरे, मरे हुए बुजुर्गोंकी याद आती है आपको, गये हुए धनकी याद आती है आपको ! तो परमात्मा इतना घटिया हो गया कि उसकी याद आपको करनी पड़े ? ....याद नहीं आती है इसलिये कि आप उसे अपना नहीं मानते। –संतवाणी 5/174

2. हम परमात्मासे कभी अलग हुए नहीं, हो सकते नहीं और शरीरसे हमारा मिलन हुआ नहीं, हो सकता नहीं। –संतवाणी 7/85

3. जो बलपूर्वक शासन करे, उसे ईश्वर नहीं कहते। ईश्वर बलपूर्वक शासन नहीं करता किसीपर। –प्रेरणा पथ 98

4. आप ऐसा मत सोचिये कि ईश्वर ऐसा ईश्वर है कि जो उसको मानता है, उसका तो दुःख-नाश करता है और जो उसको नहीं मानता, उसका दुःख-नाश नहीं करता है। –जीवन-पथ 9

5. उनके देनेका ढंग कितना अलौकिक है कि जिसे जो देते हैं, उसे वह अपना ही मालूम होता है। क्या उनकी उदारताका यह उपयोग किया जाय कि हम सुने हुए प्रभुमें आस्था नहीं करेंगे ? जाना हुआ तुम्हारे काम आया नहीं, सुने हुएमें आस्था की नहीं और अकेले अपनेमें ही सन्तुष्ट रह पाते नहीं। तो ऐसी दशामें जो दुर्गति होती है, क्या किसीसे छिपी है ? –जीवन-पथ 83

6. परमात्माको 'अभी' न मानना बड़ी भारी भूल होगी, 'अपना' न मानना उससे बड़ी भूल होगी, और 'अपनेमें' न मानना सबसे बड़ी भूल होगी। –साधन-त्रिवेणी 42

7. अगर अपनी चाहको मानते हैं तो प्रभुको नहीं मानते, और प्रभुको मानते हैं तो चाह-रहित होना ही पड़ेगा। –जीवन-पथ 88

8. परमात्मा 'माना' जाता है, 'जाना' नहीं जाता। माना हुआ वह परमात्मा माना हुआ नहीं रहता, प्राप्त हो जाता है। –संत-उद्बोधन 10

9. यदि आपके पास अपना करके कुछ है तो आप भगवान्को अपना नहीं कह सकते। –संत-उद्बोधन 76

10. याद रहे, और कुछ भी अपना है और परमात्मा भी अपना है –ये दोनों बातें एक साथ नहीं होतीं। जबतक हम और कुछ भी अपना मानते हैं, तबतक तो मुखसे कहते हुए भी हमने सच्चे हृदयसे भगवान्को अपना नहीं माना। यही इसकी पहचान है। –संत-उद्बोधन 135

11. सुने हुएमें आत्मीयता हो सकती है। उसपर विचार नहीं किया जा सकता। –मानव-दर्शन 17-18

12. जिन्होंने सगुण कहा, उन्होंने प्राकृतिक गुण नहीं वरन् अलौकिक दिव्य गुणोंकी बात कही, और जिन्होंने निर्गुण कहा, उन्होंने भी प्रकृतिके गुणोंसे अतीत कहा। अपनी-अपनी दृष्टिसे तो दोनोंने ठीक ही कहा है। परन्तु जो गुणोंसे अतीत है, उसीमें अनन्त गुण हो सकते हैं और जिसमें अनन्त गुण हो सकते हैं, वही गुणोंसे अतीत हो सकता है। –मानवकी मांग 96

13. तुम्हारे प्रेमास्पद सदैव तुम्हींमें हैं, तुम्हें देख रहे हैं। वे कभी भी तुम्हें अपनी आँखसे ओझल नहीं करते। तुम भी अपनी दृष्टिमें किसी औरको स्वीकार न करो। बस, और कुछ करना शेष नहीं है। –पाथेय 262

14. समस्त सृष्टि जिससे निर्मित है, वह सभीका अपना है। उसे अपनी सृष्टि अत्यन्त प्रिय है, कारण कि अपना निर्माण अपनेको स्वभावसे ही प्रिय होता है। इतना ही नहीं, उसने तो अपना निर्माण अपनेमेंसे ही किया है। अतः सभी साधक उसे अत्यन्त प्रिय हैं। –पाथेय 233

15. सर्वसमर्थ साधकका भूतकाल नहीं देखते। उसकी वर्तमान वेदनासे ही करुणित हो अपना लेते हैं। –साधन-निधि 41

16. जबसे हमने परिवर्तनशील संगठनको अपना बनाया है, तबसे हम अपरिवर्तनशील आनन्दघन प्रेम-पात्रसे दूर हो गये हैं।..... ..... जब हम उनकी ओर देखेंगे, तब दूरीका अन्त हो जायगा। हमको बस यही करना है कि एक बार उनकी ओर देखें। उनकी ओर तब देख सकते हैं, जब उनके हो जायँ। उनके तब हो सकते हैं, जब किसी औरके न रहें। –संतपत्रावली 1/126-127

17. प्रभुकी महिमाका कोई पारावार नहीं है। उनके सिखानेके अनेक ढंग हैं। जिसने किसी भी प्रकार एक बार भी उन्हें स्वीकार किया, उसका बेड़ा पार हुआ, ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुभव है। –संतपत्रावली 2/99

18. प्रभुसे भिन्न और कोई न देखनेवाला है और न सुननेवाला। वे ही सभीको देख रहे हैं और सभीकी सुन रहे हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। –संतपत्रावली 2/201

19. परमात्मा उसे नहीं कहते, जो किसी वस्तु-विशेषके द्वारा प्राप्त हो अथवा किसी योग्यता-विशेषके द्वारा प्राप्त हो अथवा किसी सामर्थ्य-विशेषके द्वारा प्राप्त हो। परमात्मा उसे कहते हैं कि जिसकी प्राप्ति विश्वाससे होती है। –संतवाणी 3/49-50

20. जो अपने हैं ही, भला वे कभी अपनेको भूल पाते हैं ! उनमें भूलकी गन्ध भी नहीं है। किन्तु उनके दिये हुए सीमित सौन्दर्यको पाकर साधक ही उन्हें भूलता है। –पाथेय 218

21. जिसने एक बार भी प्यारे प्रभुको अपना कहा है, उसका सर्वतोमुखी विकास अनिवार्य है। -पाथेय 181

22. वे अपनी वस्तुको सदैव देखते रहते हैं। उन्होंने कभी भी तुम्हें अपनी आँखसे ओझल नहीं किया।........ साधक भले ही उन्हें भूल जाय, पर वे नहीं भूलते।.......जिसकी जो वस्तुएँ हैं, उसे वह देखता ही है, सम्भालता ही है।.......अपनी रचनासे क्या रचयिता अपरिचित होता है ? कदापि नहीं। -पाथेय 226-227

23. साध्यके सम्बन्धमें जिस किसीने जो कुछ कहा है, वह अधूरा है; अथवा यों कहो कि उतना तो है ही, उससे विलक्षण भी है। -पाथेय 310

24. अविनाशीमें आस्था तथा उसका बोध न होनेपर भी विनाशीका आश्रय त्यागकर प्रत्येक साधक अविनाशीसे अभिन्न हो सकता है। -दुःखका प्रभाव 96-97

25. जिनकी सत्तासे ही सभीको सत्ता मिली हो, उन्हें किसी अस्तित्वकी तो अपेक्षा है ही नहीं। तो फिर हम उन्हें क्या दे सकते हैं ? केवल यही दे सकते हैं कि 'हम सदैव तेरे हैं और तुम सदैव मेरे हो' अर्थात् उनसे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना ही उनके अधिकारकी रक्षा है। -जीवन-दर्शन 32

26. उनकी कृपाका आश्रय लेकर जो एक बार यह कह देता है कि 'मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो', बस, वे सदाके लिये उसके हो जाते हैं। -जीवन-दर्शन 248

27. जिसने अपना निर्माण किया है, वह अपने ही में है और अपना है। इतना ही नहीं, निर्माताने अपनेमेंसे ही निर्माण किया है। उसे स्वीकार न कर दुःख-निवृत्तिमात्रसे सन्तुष्ट हो जाना अपनेको अनन्तरससे वंचित रखना है। अपनेमें सन्तुष्ट होना साधन है, साध्य नहीं। -सफलताकी कुंजी 43

28. उपास्यमें व्यक्तिभाव स्वीकार करना परम भूल है। उपास्यके नाम, रूपकी कल्पना तो केवल शार्टहैण्डके चिह्नके समान है। विचारशील उपासक नाम-रूपमें भी व्यक्तिभाव नहीं देखते। -सन्त-समागम 1/90

29. सत्यके विषयमें कथन करना अपने माने हुए स्वभावका परिचय देनेके सिवाय कुछ अर्थ नहीं रखता; क्योंकि कथन करनेकी सत्ता सीमित है और सत्य असीम है। 'असीम' शब्द सत्यका कथन नहीं है, बल्कि संकेत है। -सन्त-समागम 1/97

30. सत्यके स्वरूपका कथन नहीं किया जा सकता, बल्कि उसका स्वयं अनुभव किया जा सकता है; क्योंकि कथन करनेवाले सभी साधन अपूर्ण हैं। अपूर्ण कभी पूर्णका कथन नहीं कर सकता। -सन्त-समागम 1/148

31. नित्य जीवन अनित्य जीवनपर शासन नहीं करता, प्रत्युत प्रेम करता है। शासन वह करता है, जो सीमित होता है। नित्य जीवन असीम है। अथवा यों कहो कि शासन वह करता है, जिसकी सत्ता किसी संगठनसे उत्पन्न होती है। -सन्त-समागम 2/21

32. प्राकृतिक नियमके अनुसार अनन्त शक्ति निरन्तर प्रत्येक प्राणीको स्वभावतः अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है; परन्तु स्वतन्त्रता नहीं छीनती और न शासन करती है। -सन्त-समागम 2/35-36

33. प्राकृतिक विधान प्रेम तथा न्यायका भण्डार है; अतः वह दण्ड नहीं देता; परन्तु उसके सिखानेके अनेक ढंग है। -सन्त-समागम 2/47

34. भगवान्‌का कोई एक ठिकाना नहीं है। ऐसा नहीं है कि संसार अलग हो, तत्त्वज्ञान अलग हो, भक्ति अलग हो और भगवान् अलग हो। सब मिलकर जो चीज है, उसीका नाम भगवान् है। -सन्त-समागम 2/82

35. जो किसीका नहीं तथा जिसका कोई नहीं, उसके भगवान् अपने-आप हो जाते हैं; क्योंकि वे अनाथके नाथ हैं। -सन्त-समागम 2/103

36. भगवान् क्या हैं ? यह सवाल तभी हल हो सकता है, जब भगवान् मिल जायँ। वैसे तो भगवान्‌के विषयमें यह कहना काफी है कि उसके बिना हम अपूर्ण हैं। अपूर्णको पूर्णकी अभिलाषा होती है। इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि हमारी जो स्वाभाविक इच्छा है, वही भगवान्‌का स्वरूप है और हमारी जो अस्वाभाविक इच्छा है, वही संसारका स्वरूप है। -सन्त-समागम 2/109

37. भगवान्‌के होकर 'भगवान्‌का स्वरूप क्या है ?' यह प्रश्न क्या अर्थ रखता है ? गहराईसे देखिये, प्यासने कभी नहीं पूछा, 'पानी क्या है ?' भूखने किसीसे नहीं पूछा, 'भोजन क्या है ?' पानी पाकर प्यास तृप्त हो गई, भोजन पाकर भूख तृप्त हो गई। तृप्ति होनेपर पानी और प्यासकी भिन्नता तथा भूख और भोजनकी भिन्नता शेष नहीं रहती। -सन्त-समागम 2/124

38. मनुष्य भक्त होकर ही भगवान्‌को जान सकता है और एकमात्र भगवान्‌का होकर ही भक्त हो सकता है। -सन्त-समागम 2/126

39. प्रेमपात्रकी आवश्यकता प्रेमपात्रसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तु है; क्योंकि वह सभी इच्छाओंको मिटाने, सभी सम्बन्धोंका विच्छेद करने एवं सभी परिस्थितियोंसे असंग करनेमें समर्थ है। -सन्त-समागम 2/127

40. भगवान् अनन्त हैं; सविशेष भी हैं, निर्विशेष भी हैं और दोनोंसे परे भी हैं। यह अलौकिकता केवल भगवत्तत्त्वमें ही है कि जिसके विषयमें कोई सीमित धारणा निर्धारित नहीं की जा सकती। –सन्त-समागम 2/152

41. जब हम अपनेमें शरीरभावका अभिनय स्वीकार करते हैं, तब हमारे प्यारे विश्वरूप होकर लीला करते हैं। शरीर होकर किसी भी खिलाड़ी (प्राणी) ने विश्वसे भिन्न कुछ नहीं जाना।........... हम शरीर बनकर तो केवल उनको विश्वरूपमें ही देख सकते हैं। –सन्त-समागम 2/284-285

42. हम अपनेको सीमित कर अपने प्यारेको सीमित भावमें देखनेका प्रयत्न करते हैं। –सन्त-समागम 2/286

43. ईश्वर मानवकी स्वाधीनता छीनना नहीं चाहता, इसलिये मानव जबतक स्वयं अपनी ओरसे ईश्वरके सम्मुख नहीं होता, तबतक ईश्वर उसके पीछे ही रहता है। –सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 79

44. जीव और ईश्वर दोनों ही प्रेमी हैं। इनमेंसे कोई भी भोगी नहीं है। जीवमें जो भोगबुद्धि जाग्रत् होती है, वह केवल देहके सम्बन्धसे होती है, स्वाभाविक नहीं है। –संत-सौरभ 33

45. भगवान्‌का अवतार अपनी रसमयी लीलाके द्वारा भक्तोंको रस प्रदान करनेके लिये और स्वयं उनके प्रेमका रस लेनेके लिये ही होता है। –संत-सौरभ 163

46. जिसने हमारा निर्माण किया है, हम उसमें आस्था न करें, हम उसे अपना न मानें, तो क्या यह बात उस निर्माणकर्त्ताको पसन्द होगी ?...... जिसने हमारा निर्माण किया है, जो सर्वसमर्थ है, उसको भी प्रसन्नता होती है। कब ? जब हम उसे अपना मानते हैं। –संतवाणी 5/85-86

परमात्मप्राप्ति

1. हमें उसको प्राप्त करना है कि जिसका हम त्याग कर ही नहीं सकते। –संतवाणी 4/59

2. संसार परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक नहीं है, बल्कि सहायक है। उसका जो हम सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, वही बाधक है। –संत-उद्‌बोधन 18

3. जगत्‌की सत्ता स्वीकार करके भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं ? नहीं कर सकते। होगा क्या ? भगवान् आयेंगे, लेकिन आप कहेंगे कि मेरी स्त्री बीमार है, अच्छी हो जाय। भगवान् को प्राप्त करना चाहते थे कि स्वस्थ स्त्रीको देखना चाहते थे ? जरा सोचिये। –संतवाणी 4/176

4. परमात्माकी प्राप्तिके लिये शरीरकी सहायता नहीं चाहिये, वस्तुकी सहायता नहीं चाहिये, सामर्थ्यकी सहायता नहीं चाहिये, योग्यताकी सहायता नहीं चाहिये। यानी परमात्माको पानेके लिये आपको कोई सामग्री नहीं चाहिये। जब कोई सामग्री नहीं चाहिये तो शरीरका क्या अचार डालोगे ? यह परमात्माकी प्राप्तिमें तो काम आयेगा नहीं। शरीरके द्वारा परमात्माके संसारकी सेवा कर दो। –साधन-त्रिवेणी 53-54

5. अगर आप कभी भी यह अनुभव करें, कभी भी मानें कि शरीर अलग हो जायगा, तो अभी मान लीजिये कि अभी अलग है। और इस बातमें विश्वास करें कि कभी भी परमात्मा मिल जायगा, तो अभी मान लीजिये कि अभी पास है, अभी भी मिला है। –संतवाणी 5/139

6. परमात्मा ही प्राप्त होता है। और कुछ चीज प्राप्त होती नहीं। और चीजकी तो प्रतीति होती है। –संतवाणी 5/150

7. ब्रह्मको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, जीवको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती। –संतवाणी 3/104

8. परमात्मासे आप तो मिल सकते हैं, लेकिन शरीर द्वारा नहीं मिल सकते। आप अपने द्वारा मिल सकते हैं। हाँ, शरीरद्वारा परमात्माकी सृष्टिका कार्य कर सकते हैं। –संतवाणी 7/86

9. बुद्धिका सहारा छोड़ो, शरीरका सहारा छोड़ो, संसारका सहारा छोड़ो परमात्मासे मिलने के लिये। –संतवाणी 7/99

10. जो परमात्मा शरीरके द्वारा मिलेगा, मनके द्वारा मिलेगा, बुद्धिके द्वारा मिलेगा, वह यन्त्रके द्वारा भी मिलेगा; क्योंकि शरीरके द्वारा जो काम करते हो, वह यन्त्रके द्वारा भी होता है सरकार ! परन्तु परमात्मा आपको अपने द्वारा मिलेगा। –संतवाणी 7/100

11. मिलनकी तीन सीढ़ियाँ हैं –पहली सीढ़ी है समीपता, दूसरी है एकता और तीसरी है अभिन्नता। इसलिये पहली सीढ़ीको 'योग' कहते हैं, दूसरीको 'बोध' और तीसरीको 'प्रेम' कहते हैं। –संतवाणी 7/104

12. भगवान् क्या कोई खेती है कि आज बोयेंगे तो कल उपजेगा और परसों मिलेगा ? क्या भगवान् कोई वृक्ष है, जिसे आज लगायेंगे तो बारह वर्षमें फल लगेगा ? भगवान् ऐसी चीज नहीं है। भगवान् तो वर्तमानमें भी ज्यों-का-त्यों मौजूद है। –संतवाणी 7/116

13. रोटी मिलना दुर्लभ है, पानी पीना दुर्लभ है, सांस लेना दुर्लभ है; लेकिन भगवान्‌का मिलना सुलभ है। मैं दलील और युक्तिके साथ यह कहता हूँ। –संतवाणी 7/117

14. जो लोग यह सोचते हैं कि हमें सत्य नहीं मिल सकता, उन्हें यह सोचना ही उनको सत्यसे विमुख कर देता है। –प्रेरणा पथ 117

15. चाह-रहित होनेमात्र से आपको-हमको वही सत्य मिल सकता है, जो किसीको भी कभी मिला होगा और किसीको भी मिलेगा। –प्रेरणा पथ 117

16. अगर किसीको परमात्माको पाना हो और संसारसे मुक्त होना हो तो उसे ऐसी बात बताओ कि एक बातमें बेड़ा पार हो जाय। कुछ मत चाहो, कुछ मत करो, अपना करके कुछ मत रखो –इन तीन बातोंसे क्या होगा कि परमात्माकी तो प्राप्ति हो जायगी और संसारकी निवृत्ति हो जायगी। –साधन-त्रिवेणी 41

17. प्रभु अपनेमें हैं, अभी हैं और अपने हैं –इससे परमात्मा मिल जायगा। –साधन-त्रिवेणी 42

18. यदि भगवान्‌का दर्शन नहीं होता है, तो इसमें भी एक रहस्य है। यदि दर्शन हो जायें, तो हमलोगोंकी प्रभुके प्रति प्रियता शिथिल हो जायगी। –संत-उद्‌बोधन 64

19. अपनत्वके बलपर ही उनको खरीद सकते हो, और किसी प्रकार नहीं। –संतपत्रावली 1/129

20. राम अपनेमें, अथवा रामायणमें, अथवा रामकी अभिलाषिणी सीतामें, अथवा अपने भक्तोंमें, अथवा पूर्ण दुःखियोंमें मिलते हैं। 'पूर्ण दुःखी' वह है, जिसे संसार प्रसन्नता नहीं दे पाता। 'भक्त' वह है, जो रामसे विभक्त नहीं होता। 'सीता' वही है, जो रामके बिना किसी प्रकार रह नहीं सकती। –संतपत्रावली 1/115

21. अपनत्वका बल गुणोंके बलसे विशेष बल है। भला जिसमें अनन्त गुण हों, उसे सीमित गुणोंसे कैसे पा सकते हैं ! कदापि नहीं।
-संतपत्रावली 1/129

22. जिस प्राणीको अपने कर्तव्यका बल होता है, वह कर्तव्यकी शक्ति समाप्त कर देनेपर भगवत्प्राप्ति कर पाता है। और जिस प्राणीको अपने कर्तव्यका बल नहीं होता, वह भगवत्कृपासे भगवत्प्राप्ति कर लेता है। -संतपत्रावली 1/87

23. उनके मिलनेका तरीका अपने खो जानेमें है। -पाथेय 114

24. प्रेमास्पद अपने हैं, अपनेमें हैं और अभी हैं –यह सद्‌गुरु-वाक्य है, वेदवाणी है। इसमें अविचल आस्था अनिवार्य है। अपने होनेसे अपनेको स्वभावसे प्रिय हैं और अपनेमें होनेसे उन्हें कहीं बाहर नहीं खोजना है। अभी होनेसे भविष्यके लिये प्रतीक्षा नहीं करनी है।
-पाथेय 314

25. और सब कुछ देखना छोड़ दो, भगवान् दीख जायँगे।...... सब कुछ देखना छोड़नेका अर्थ आँखें बन्द कर लेना नहीं है। इसका अर्थ है देखनेमें रुचि न लेना, संसारसे पूर्ण असंगता। -सन्त-जीवन-दर्पण 78-79

26. प्राप्ति तो केवल परमात्माकी होती है। जगत् तो मिलकर बिछुड़ ही जाता है। -सन्त-जीवन-दर्पण 86

27. सत्यका मार्ग इतना तंग है कि उसपर आप अकेले ही जा सकते हैं। इसलिये इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके साथ रहनेका मोह छोड़ दें। इनके साथ रहकर आप उस तंग रास्तेपर नहीं चल सकते। अकेले होनेपर मार्ग अपने-आप दिखाई देगा।
-सन्त-समागम 1/61

28. जिस समय आप अकेले हो जायँगे, वे बिना बुलाये आ जायँगे। यदि उनसे मिलना चाहते हो तो अकेले हो जाओ।
-सन्त-समागम 1/64

29. जब आप अकेले हो जायँगे, तब भगवान्‌की कृपासे ही भगवान्‌को जान लेंगे। प्यारे, कोई भी प्रेमी अपने प्रेमपात्रसे किसीके सामने नहीं मिलता, तो फिर जबतक आप शरीर आदि अनेक सम्बन्धियोंको साथ लिये हुए हैं, आपका प्रेमपात्र आपसे कैसे मिल सकता है ? भगवान् कैसे हैं ? यदि यह जानना चाहते हो तो अकेले हो जाओ। -सन्त-समागम 1/102

30. सभीसे निराश होनेपर ईश्वरका अनुभव होगा; क्योंकि ईश्वरसे भिन्न वस्तुओंकी आशा सिर्फ विषयोंके लिये की जाती है। यहाँतक कि बुद्धि आदि भी विषय-प्राप्ति ही में समर्थ होते हैं। -सन्त-समागम 1/103

31. चेतनका अनुभव होनेपर चेतनसे भिन्न किसी भी सत्ताकी प्रतीति शेष नहीं रहती। -सन्त-समागम 1/105

32. कृपया कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों एवं मन-बुद्धि आदि सभी सम्बन्धियोंसे कह दो कि अब हम अपने प्रेमपात्रसे मिलेंगे। आपलोगोंकी कृपासे विषयोंका यथार्थ अनुभव हो गया। अब हम विषयोंसे तृप्त हो चुके हैं। कृपया आप भी आराम कीजिये।
-सन्त-समागम 1/112-113

33. 'करना' भोगोंकी प्राप्तिके लिये होता है, प्रेमपात्रसे मिलनेके लिये नहीं। जिस कालमें हम सभीको छुट्टी दे देंगे अर्थात् अकेले हो जायँगे, उसी कालमें हमारे प्रेमपात्र हमें अवश्य अपना लेंगे, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। -सन्त-समागम 1/113

34. जिसको प्रसन्नता देनेके लिये संसार असमर्थ है अर्थात् जिसको भोगमें रोग, हर्षमें शोक, संयोगमें वियोग, सुखमें दुःख, घरमें वन, जीवनमें मृत्युका अनुभव होता है, वही सत्यका अधिकारी है। -सन्त-समागम 1/153

35. भोगके लिये भविष्यकी आशा आवश्यक है; क्योंकि वह 'कर्म' से प्राप्त होता है। प्रेम-पात्रके लिये भविष्यकी आशा आवश्यक नहीं; क्योंकि वह 'त्याग' से प्राप्त होता है। -सन्त-समागम 1/241

36. किसीको बुलाओ मत; क्योंकि जो आपका है, वह आपके बिना रह नहीं सकता अर्थात् अपने प्रेम-पात्रको निरन्तर अपनेमें ही अनुभव करो।....... अपने सिवाय अपने लिये अपनेसे भिन्नकी आवश्यकता नहीं है। -सन्त-समागम 1/242

37. जिस प्रकार नींदकी अधिक आवश्यकता बढ़ जानेपर नींदका अभिलाषी बिना किसी औरकी सहायताके स्वयं सो जाता है और यह नहीं समझ पाता कि किस कालमें सो गया, उसी प्रकार अत्यन्त व्याकुलता बढ़ जानेपर सत्यका अभिलाषी बिना किसी औरकी सहायताके स्वयं सत्यका अनुभव कर लेता है और यह नहीं जान पाता कि किस कालमें सत्यका अनुभव हो गया।
-सन्त-समागम 2/182

38. व्याकुलताके बिना किसी प्रकार भी आप अपने अभीष्टको नहीं पा सकते। -सन्त-समागम 2/183

39. उनकी तथा संसारकी चाह मिटनेपर संसार हट जायगा और 'वे' आ जायँगे। -सन्त-समागम 2/188

40. सत्‌की खोज असत्‌के त्यागमें है, असत्‌के द्वारा नहीं। -जीवन-दर्शन 146

41. दर्शनका उतना महत्त्व नहीं है, जितना प्रेमका महत्त्व है।....... यदि प्रेम न हो और दर्शन हो जाय तो दर्शनका कोई लाभ नहीं होता। हमारे और परमात्माके बीच जो दूरी मिटानेवाली चीज है, वह प्रेम है। -संतवाणी 8/22

42. जो सब ओरसे विमुख होकर अपनेमें ही 'अपने' को पा लेता है, उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। -संतवाणी 8/7

43. समाधितक कारणशरीरका तादात्म्य रहता है। बोधमें जाकर करणशरीरकी निवृत्ति होती है, और प्रेममें जाकर परमात्माकी प्राप्ति होती है। –संतवाणी 8/30

44. जिसके मनमें शरीरको बनाये रखनेकी रुचि है, जो शरीरको ही अपना स्वरूप मानता है, वह ईश्वरको प्राप्त नहीं कर सकता। –संत-सौरभ 180

45. ईश्वर-प्राप्तिके लिये वनमें जानेकी जरूरत नहीं है। जो घरमें आरामसे रहकर भजन नहीं कर सकता, वह वनमें कष्ट सहकर कैसे कर सकता है ? वनमें रहना तो तपके लिये आवश्यक होता है। –संत-सौरभ 195

46. तप और सेवा संसारके लिये करे एवं विश्वास, चिन्तन और प्रेम ईश्वरके लिये करे। भगवान्‌की कृपापर निर्भर रहे। भगवान्‌की कृपासे ही मनुष्य भगवान्‌को पा सकता है। –संत-सौरभ 197

47. परमात्मा है तो, पर न जाने कब मिलेगा ? अरे भले आदमी, जब तुम कहते हो कि वह सदैव है, सर्वत्र है, सभीका है; तो कब मिलेगा कि अब मिला है ? कितने आश्चर्यकी बात है ! इससे बड़ा और कोई पागलपन हो सकता है क्या, यह सोचना कि न जाने परमात्मा कब मिलेगा ? जबकि परमात्मासे आप कभी अलग हो सकते नहीं, हैं नहीं। –संतवाणी 7/85-86

48. जिसको तुम प्राप्त करना चाहते हो, उसकी आवश्यकता अनुभव करो। उसको बलपूर्वक पकड़नेकी कोशिश मत करो, केवल आवश्यकता अनुभव करो। –संतवाणी 6/144

49. पसन्द करते हैं कुछ और, और चर्चा करते हैं परमात्माकी, इसीलिये परमात्मा मिलता नहीं। इसमें कुसूर परमात्माका नहीं है कि क्यों नहीं मिलता। यह अपनी ही भूल है; क्योंकि हम उसे पसन्द नहीं करते। –संतवाणी 5/156

50. आप सच मानिये, सिद्धि वर्तमानमें ही होती है। भविष्यमें कभी सिद्धि नहीं होती। भविष्यमें तो उसकी प्राप्ति होती है, जो वर्तमानमें नहीं है अर्थात् जिसकी उत्पत्ति हो।...... जरा सोचिये, साध्य तो हो वर्तमानमें, और साधक यह माने कि हमें भविष्यमें मिलेगा ! जरा ध्यान दीजिये, साध्य तो है वर्तमानमें, और मिलेगा भविष्यमें ! –संतवाणी 4/162-163

51. न कम खर्च करनेसे सत्य मिलता है, और न अधिक खर्च करनेसे सत्य मिलता है। सत्य मिलता है –वस्तुको अपना न माननेसे। –संतवाणी 4/165

52. आपके और परमात्माके बीच संसार पर्दा नहीं है, उससे सम्बन्ध पर्दा है। –संत-उद्‌बोधन 14

53. अल्प-से-अल्प आयु, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य होनेपर भी मानवको वास्तविक जीवनसे निराश नहीं होना चाहिये। कारण कि वास्तविक जीवनसे मानवमात्रकी जातीय तथा स्वरूपकी एकता है। –मंगलमय विधान 42

परिस्थिति (अनुकूलता-प्रतिकूलता)

1. बुद्धिमानूसे सबसे बड़ी भूल यह होती है कि वह सोचता है कि इस समय जो परिस्थिति हमारे सामने है, यदि मैं यह बदल दूँगा तो मेरे उद्येश्यकी पूर्त्ति हो जायगी। -संतवाणी 4/96

2. मानवको प्रभु दण्ड नहीं देता, विधान मानवको दण्ड नहीं देता, तो फिर क्या देता है ? जिस परिस्थितिसे आपका विकास होता है, वही परिस्थिति आपको देता है। -प्रेरणा पथ 95

3. यह दिमागी कौतूहल है कि किसी परिस्थिति-विशेषकी प्राप्तिसे हम वह हो जायँगे, जो हम आज नहीं हैं। सरकार, यहीं रहेंगे, यहीं। अन्तर यही होगा कि आप तीन बटा चार न लिखकर पचहत्तर बटा सौ लिखियेगा। -जीवन-पथ 13

4. परिस्थिति एक प्रकारका प्राकृतिक न्याय है, और प्राकृतिक न्याय अपने विकासके लिये होता है, विनाशके लिये नहीं। -संतवाणी 3/46

5. साधकके लिये क्या उपयोगी है ? प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग। क्या बाधक है ? अप्राप्त परिस्थितिका चिन्तन। -संतवाणी 3/59

6. प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगमें मानव स्वाधीन है, परन्तु परिस्थितिके परिवर्तनमें सभी पराधीन हैं। -संत-उद्‌बोधन 97

7. प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। -संत-उद्‌बोधन 97

8. आयी हुई परिस्थितिका विरोध अपनी व्यक्तिगत रुचिका पोषण है। -पाथेय 168

9. प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय है, इसी ध्रुव सत्यके कारण जो हो रहा है, वही ठीक है। -पाथेय 213

10. प्रत्येक परिस्थिति स्वभावसे ही अपूर्ण तथा अभावयुक्त है। -चित्तशुद्धि 70

11. प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्यायमें किसीका अहित नहीं है; क्योंकि प्राकृतिक न्याय क्षोभ तथा क्रोधसे रहित है। -चित्तशुद्धि 87

12. जो कुछ स्वतः हो रहा है, उसमें प्राणीका कभी अहित नहीं है। अहित होता है प्राप्त परिस्थितियोंका सदुपयोग न करनेसे। -चित्तशुद्धि 91

13. प्रतिकूल परिस्थिति भोगमें भले ही बाधक हो, पर योगमें नहीं। -चित्तशुद्धि 92

14. किसी परिस्थितिके कारण कोई वास्तवमें ऊँचा-नीचा नहीं है, प्रत्युत जो साधक परिस्थितिका सदुपयोग करता है, वही ऊँचा है, और जो दुरुपयोग करता है, वही नीचा है। -चित्तशुद्धि 131

15. ऐसी कोई अनुकूलता है ही नहीं, जिसने प्रतिकूलताको जन्म न दिया हो और न ऐसी कोई प्रतिकूलता ही है, जिसमें प्राणीका हित न हो। -चित्तशुद्धि 185

16. प्राकृतिक नियमके अनुसार जिन इच्छाओंमें प्रवृत्त होना अनिवार्य है, उनकी प्रवृत्तिके लिये परिस्थिति स्वतः प्राप्त होती है, और जिन इच्छाओंकी प्रवृत्ति अनावश्यक है, उनके लिये परिस्थिति प्राप्त नहीं होती। इस रहस्यको न जाननेके कारण बेचारा प्राणी अप्राप्त परिस्थितिका चिन्तन करने लगता है। -चित्तशुद्धि 262

17. अनन्तकी अभिव्यक्ति अनन्तसे भिन्न नहीं है। इस दृष्टिसे भी परिस्थितिका कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत वह जिसकी अभिव्यक्ति है, उसमें उसीकी सत्ता है अथवा वही है। -चित्तशुद्धि 267

18. चित्तकी शुद्धि भौतिक दृष्टिसे परिस्थितिके सदुपयोगमें, अध्यात्म-दृष्टिसे परिस्थितियोंके अभावमें और आस्तिक दृष्टिसे परिस्थितियोंके द्वारा प्रेमास्पदकी पूजामें निहित है। -चित्तशुद्धि 267

19. प्राकृतिक नियमके अनुसार अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही कर्तव्यनिष्ठ होनेके लिये आवश्यक अंग हैं; क्योंकि प्रतिकूलताके बिना वस्तुओंके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान नहीं होता और अनुकूलताके बिना प्राप्त वस्तुओंका उदारतापूर्वक सदुपयोग नहीं होता। -चित्तशुद्धि 413

20. प्राप्त परिस्थितिमें हित है, इस बातको वही जान सकता है, जो अनन्तके मंगलमय विधानपर विश्वास करता है। -चित्तशुद्धि 439

21. केवल परिस्थितिका दुरुपयोग करना ही प्रतिकूलता है। परिस्थिति वास्तवमें प्रतिकूल नहीं होती। -सन्त-समागम 2/48

22. जितने आस्तिक होते हैं, वे प्रत्येक प्रतिकूलतामें अपने परम प्रेमास्पदकी अनुकूलताका अनुभव करते हैं कि अब हमारे प्यारेने अपने मनकी बात करना आरम्भ कर दिया। अब वे हमें जरूर अपनायेंगे। -सन्त-समागम 2/80

23. जो परिस्थितिसे हार स्वीकार करता तथा लक्ष्यसे निराश हो जाता है, वह न तो आस्तिक हो सकता है और न शरणागत। -सन्त-समागम 2/43

24. जब प्रतिकूलताओंमें पूर्ण अनुकूलताओंका अनुभव हो और एक रसताकी उत्पत्ति हो तो समझना चाहिये कि आजसे हमारा नाता भगवान्‌के साथ पक्का हो गया। अगर भगवान्‌का नाम लिया और नौकरी मिल गयी तो समझो भगवान्‌का नाता टूट गया और नाम लेनेकी मजदूरी मिल गयी। -सन्त-समागम 2/80

25. जो मनकी अनुकूलतामें रमण करता है, वह भगवान्‌के प्रेमसे वंचित हो जाता है, इसमें कम-से-कम मुझे सन्देह नहीं है। अनुकूलताने मुझे भगवान्‌से विमुख किया है और किसीने नहीं।......... जो प्रतिकूलताको हृदयसे लगा सकते हैं, वे भगवान्‌के सम्मुख होते हैं, यह भी मेरे हृदयकी बात है। -सन्त-समागम 2/84

26. परिस्थिति-परिवर्तनकी अपेक्षा परिस्थितिका सदुपयोग अधिक मूल्यकी वस्तु है; क्योंकि परिस्थिति-परिवर्तनसे त्यागका अभिमान आता है और परिस्थितिके सदुपयोगसे परिस्थितिसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। त्यागका अभिमान रागका मूल है, इसे विचारशील जानते हैं। -सन्त-समागम 2/130

27. प्रत्येक परिस्थिति स्वरूपसे प्रतिकूल है। हम प्रतिकूलताको अनुकूलता मान लेते हैं। -सन्त-समागम 2/132

28. यद्यपि प्राकृतिक विधानके अनुसार प्रत्येक संयोग बिना ही प्रयत्न वियोगमें विलीन होता है; किन्तु संयोगकी दासताके कारण वियोग होनेपर भी संयोग ही बना रहता है, जो प्राकृतिक विधानका निरादर है। -सन्त-समागम 2/146

29. गहराईसे देखिये, ऐसी कोई परिस्थिति नहीं होती, जिससे उच्च तथा निम्न अन्य परिस्थिति न हो अर्थात् प्रत्येक वस्तु तथा परिस्थितिमें आबद्ध प्राणी अपनेसे उच्च तथा निम्नका स्वतः अनुभव करता है। इसी कारण उच्चको देख दीनतामें और निम्नको देख अभिमानमें आबद्ध हो जाता है। दीनताका बन्धन 'त्याग' से और अभिमानका बन्धन 'सेवा' से मिट जाता है अर्थात् ऐसी कोई निर्बलता नहीं जो त्यागसे, और ऐसा कोई अभिमान नहीं जो सेवासे मिट न जाता हो। -सन्त-समागम 2/223-124

30. प्रतिकूलता ही मनुष्यके जीवनको उन्नत करनेवाली है। जिसके जीवनमें प्रतिकूलताका अनुभव नहीं होता, उसकी उन्नतिकी ओर प्रगति नहीं होती। यदि प्रतिकूल परिस्थिति पैदा न होती तो शरीर और संसारसे अहंता-ममताका दूर होना प्रायः सम्भव ही नहीं था। -संत-सौरभ 17

31. अनुकूल परिस्थितिमें जो सरसता 'उदारता' से आती है, वही सरसता प्रतिकूल परिस्थितिमें 'त्याग' से प्राप्त होती है। इस दृष्टिसे अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति वर्तमानको सरस बनानेमें हेतु नहीं है, अपितु उनका सदुपयोग ही नीरसता मिटानेमें समर्थ है। -चित्तशुद्धि 91

32. प्रतिकूल परिस्थिति विकासका ही साधन है, विनाशका नहीं। -संत-उद्बोधन 120

33. निष्कामताको अपनाते ही प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करनेकी तथा अप्राप्त परिस्थितियोंके चिन्तनसे रहित होनेकी सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। -साधन-निधि 12

प्रवृत्ति-निवृत्ति

1. प्रवृत्तिका सौन्दर्य यही है कि किसीके काम आ जाय; और निवृत्तिका सौन्दर्य यही है कि अपनेमें ही अपने प्रेमपात्रका अनुभव हो जाय। जो प्रवृत्ति किसीके हितका साधन नहीं होती, वह त्याग करनेयोग्य है; और जो निवृत्ति प्रेमपात्रसे अभेद नहीं करती, वह निर्जीव है। -संतपत्रावली 1/132

2. जिस प्रवृत्तिका परिणाम निवृत्ति नहीं है, वह प्रवृत्ति दूषित है, त्याज्य है। व्यक्तिगत सुखकी आशाको लेकर जो प्रवृत्ति आरम्भ होती है, उसका परिणाम निवृत्ति नहीं होता, प्रत्युत प्रवृत्तिके अन्तमें भी प्रवृत्तिकी ही रुचि शेष रहती है। -दुःखका प्रभाव 98

3. प्रवृत्ति वही सार्थक है, जो किसीके लिये अहितकर न हो, अपितु सर्वहितकारी हो। -दुःखका प्रभाव 98

4. संकल्पपूर्वक जिस निवृत्तिका सम्पादन किया जाता है, वह निवृत्ति होनेपर भी घोर प्रवृत्ति ही है। -दुःखका प्रभाव 100

5. सर्वहितकारी प्रवृत्ति ही वास्तविक निवृत्तिकी जननी है। -जीवन-दर्शन 162

6. सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तवमें किये हुए संग्रहका प्रायश्चित्त है, कोई विशेष महत्त्वकी बात नहीं है; और निवृत्ति प्राकृतिक विधान है। उसे अपनी महिमा मान लेना मिथ्या अभिमानको ही जन्म देना है, और कुछ नहीं। -जीवन-दर्शन 163

7. प्रवृत्तिके द्वारा जिस किसीको जो कुछ मिलता है, वह कालान्तरमें स्वतः मिट जाता है। -चित्तशुद्धि 371

8. सर्वहितकारी प्रवृत्ति अथवा देहाभिमानका त्याग वास्तविक निवृत्तिका साधन है। -चित्तशुद्धि 373

9. जीवनमें दुःखकी मात्रा बढ़ जानेपर निवृत्ति सुगम है और सुखकी मात्रा बढ़ जानेपर प्रवृत्ति सुगम है। -सन्त-समागम 1/89

10. प्रत्येक प्रवृत्ति महान् रोग है; क्योंकि प्रवृत्तिके अन्तमें निर्बलता प्राप्त होती है। -सन्त-समागम 2/111

11. जबतक हम अपने लिये अपनेसे भिन्नकी आवश्यकताका अनुभव करते हैं, तबतक किसी-न-किसी प्रकारकी प्रवृत्ति बनी ही रहती है अर्थात् संयोगकी आवश्यकता ही प्रवृत्ति है। -सन्त-समागम 2/119

12. उस प्रवृत्तिका नितान्त अन्त कर देना चाहिये, जो किसी अन्यके हित तथा प्रसन्नताका साधन न हो। -सन्त-समागम 2/148

13. यह भली प्रकार समझ लो कि हठपूर्वक की हुई निवृत्ति प्रवृत्तिका मूल है, और प्रेम-पात्रके नाते अभिनयके स्वरूपमें की हुई प्रवृत्ति निवृत्तिका मूल है। -सन्त-समागम 2/255

14. प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्तिके लिये स्वीकार की जाती है, प्रवृत्तिके लिये नहीं; क्योंकि प्रत्येक संयोगका वियोग परम आवश्यक है। -सन्त-समागम 2/265

15. वही प्रवृत्ति और निवृत्ति साधनरूप हो सकती है, जो सुखकी आशासे रहित है। -साधन-तत्त्व 43

16. सर्वप्रिय प्रवृत्ति संसारका सौन्दर्य है; सर्व प्रवृत्तियोंकी निवृत्ति संसारका अन्त है; निवृत्तिकी निवृत्ति ईश्वरवादका आरम्भ है। -सन्त-समागम 2/103

प्रार्थना

1. प्रार्थना इसलिये नहीं की जाती कि आप कहेंगे, तब परमात्मा सुनेंगे। प्रार्थनाका असली रूप है –अपनी आवश्यकताका ठीक-ठीक अनुभव करना। –संतवाणी 7/151

2. प्रार्थना शब्दों द्वारा नहीं की जाती। प्रार्थनाका मतलब है –अपनी जरूरतकी विस्मृति न हो। –संतवाणी 7/152

3. प्रभुकी महिमा स्वीकार करो, 'स्तुति' हो गयी। प्रभुसे सम्बन्ध स्वीकार करो, 'उपासना' हो गयी। प्रभुके प्रेमकी आवश्यकता अनुभव करो, 'प्रार्थना' हो गयी। –संत-उद्‌बोधन 14

4. जिस प्रकार प्यासका लगना ही पानीका माँगना है, उसी प्रकार अभावकी वेदना ही प्रार्थना है। –मानवकी मांग 216

5. प्रार्थनाका अर्थ दीनता तथा पराधीनता नहीं है, प्रत्युत अपनी वास्तविक आवश्यकताकी जागृति है। –मानवकी मांग 216

6. प्रार्थना ही निर्बलका बल है। प्रार्थीको अवश्य लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। –संतपत्रावली 2/149

7. यदि मानव-समाज व्यथित हृदयसे करुणासागरको पुकारे तो प्रकृतिका क्षोभ मिट सकता है और दुष्काल सुकालमें बदल सकता है। पर इस ओर तो आज दृष्टि ही नहीं जाती। जगकी सहायतासे जगकी समस्याओंका सर्वांशमें समाधान नहीं होता। करुणासागर जगदाधारको पुकारो और उनके द्वारा दिये हुए बलसे क्रियात्मक सेवा करो। –संतपत्रावली 2/136

8. प्रकृति क्षोभित क्यों होती है ? इस सम्बन्धमें मेरा विचार है कि जब जन-समाज न करनेवाली बातें भी करता रहता है, तब दैवी आपत्तियाँ आती हैं। उसकी शान्तिके लिये प्रार्थना और प्रायश्चित्त दोनों ही होने चाहियें, तभी व्यापक संकटकी समस्या हल हो सकती है। प्रायश्चित्त तो यह है कि संगृहीत वस्तु दुःखियोंके काम आ जाय और व्यथित हृदयसे परम कृपालुको पुकारा जाय। –संतपत्रावली 2/136

9. क्या अपनेसे अपनी कोई बात छिपी है, जो उनसे कही जाय ? –पाथेय 282

10. जब साधक लक्ष्यसे निराश नहीं होता और अपने द्वारा उसे पूरा नहीं कर पाता, तब स्वतः एक वेदना जाग्रत् होती है, जो वास्तविक प्रार्थनाका रूप धारण कर लेती है। वैधानिक प्रार्थना अवश्य पूरी हो जाती है, यह सर्वसमर्थ सर्वाधारकी महिमा है। –पाथेय 312

11. 'मेरे नाथ' से सुन्दर शब्द अपनी भाषामें नहीं हैं। –प्रेरणा पथ 165

12. प्रार्थना करनेका अधिकार तब होता है, जब कर्ता अपनी सारी शक्ति समाप्त कर दे; क्योंकि शक्ति रहते हुए सच्ची प्रार्थना नहीं होती। प्रार्थना वास्तवमें दुःखी हृदयकी आवाज है।...... जो प्रार्थी अपनी सारी शक्ति समाप्त कर सर्वसमर्थ इष्टदेवसे प्रार्थना करता है, उसकी प्रार्थना अवश्य सफल होती है। प्रार्थना की नहीं जाती, बल्कि होती है; क्योंकि जब अभिलाषा मिटा पाते नहीं और उसके पूर्ण करनेकी शक्ति नहीं होती, तब जो आवाज हृदयसे उत्पन्न होती है, वही प्रार्थना होती है। –सन्त-समागम 1/123

13. जिस प्रकार माँको शिशुकी सभी आवश्यकताओंका ज्ञान है एवं शिशुके बिना कहे ही माँ वह करती है, जो उसे करना चाहिये, उसी प्रकार आनन्दघन भगवान् हमारे बिना कहे ही वह अवश्य करते हैं, जो उन्हें करना चाहिये। परन्तु हम उनकी दी हुई शक्तिका सदुपयोग नहीं करते और निर्बलता मिटानेके लिये बनावटी प्रार्थना करते रहते हैं। –सन्त-समागम 2/128-129

14. यह नियम है कि असमर्थताकी वेदनामें सर्वसमर्थकी पुकार स्वतः रहती ही है।........ जिस असमर्थतामें वेदना नहीं है, वह असमर्थता निर्जीव है अर्थात् आंशिक सामर्थ्यका सुखभोग है। –साधन-तत्त्व 97

15. यदि अपनी ओरसे पूरा प्रयास करनेपर भी हम सुखके भोग और उसके आकर्षणको छोड़नेमें अपने-आपको असमर्थ पाते हैं तो सरल विश्वासपूर्वक दुःखी हृदयसे सर्वसमर्थ प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये। दुःख अवश्य मिट जायगा। –सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 40

16. दार्शनिक दृष्टि तथा मान्यताओंका भेद होनेपर भी प्रार्थना सभीकी एक है। कारण कि स्वाभाविक आवश्यकता सबकी एक और अस्वाभाविक इच्छाएँ अनेक हैं। –मानवताके मूल सिद्धान्त 1

17. प्रार्थना व्यथित हृदयकी पुकार तथा निर्बलका बल एवं आस्तिकका जीवन है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 32

18. प्राप्त शक्तिका सद्व्यय करनेपर ही प्रार्थना करनेका अधिकार मिलता है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 32

19. प्रार्थना असमर्थका अन्तिम प्रयास, सफलताका अचूक अस्त्र और आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करनेवाला महामन्त्र है। अथवा यों कहो कि यह दुःखियोंकी वास्तविक साधना है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 33

20. प्रार्थनाके सम्बन्धमें जो कुछ कहा जाय, कम है; क्योंकि यह निराशाको आशामें, निर्बलताको बलमें और असफलताको सफलतामें परिवर्तित कर प्राणीको उसका अभीष्ट प्राप्त करानेमें समर्थ है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 33

21. भावात्मक सेवा एकमात्र प्रार्थनासे ही हो सकती है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 94

22. जो तुम्हारे सम्बन्धमें तुमसे भी अधिक जानते हैं, क्या उनसे भी कुछ कहना है ? –पाथेय 76

23. प्रार्थनाके द्वारा मानव प्रत्येक परिस्थितिमें सर्वोत्कृष्ट सेवा कर सकता है और त्याग तथा प्रेमको प्राप्तकर कृतकृत्य हो सकता है।

-मानवताके मूल सिद्धान्त 94-95

24.मानव प्रार्थी है, यह अनुभवसिद्ध सत्य है, यद्यपि प्रार्थ्य प्रार्थीमें भी मौजूद है और प्रार्थनाका पुंज ही मानवका अस्तित्व है।

-मानवताके मूल सिद्धान्त 93

25. प्रार्थना श्रमसाध्य उपाय नहीं है, अपितु व्यथित हृदयकी मूक आवाज है। मूक आवाज विभु होती है, यह वैज्ञानिक तथ्य है।

-मानवताके मूल सिद्धान्त 95

26. प्रार्थनाके अनुरूप यथाशक्ति कार्य भी करना चाहिये। कर्तव्यनिष्ठ प्राणी ही वास्तविक प्रार्थी हो सकते हैं।

-मानवताके मूल सिद्धान्त 95

27. 'मेरे नाथ' -इस वाक्यका उच्चारण करते ही ऐसा हृदयमें भास होता है कि हम अनाथ नहीं हैं, कोई हमारा अपना है। और जो हमारा अपना है, वह कैसा है ? वह समर्थ है और रक्षक है। अब आप सोचिये कि समर्थ और रक्षकके होते हुए हमारे और आपके जीवनमें चिन्ता और भयका कोई स्थान ही नहीं रहता। -संतवाणी 8/35

प्रेम

1. जबतक मिलनमें वियोग न भासे तो प्रेम कैसा ? और वियोगमें मिलन न भासे तो प्रेम कैसा ? -संतवाणी 5/67

2. परस्परमें (शरीरके अंगोंमें) प्रीतिकी कितनी गहरी एकता है कि पैरमें काँटा लगता है तो आँखमें आँसू निकलते हैं। आँखमें जब चोट लगती है तो पैर लड़खड़ाता है। इसी प्रकार समस्त विश्वके साथ हमारी स्नेहकी एकता हो। -संतवाणी 6/57-58

3. जहाँ हमारा अपनापन हो जाता है, वहाँ प्रियता उदय होती है। -संतवाणी 7/158

4. भिन्न-भिन्न साधन जब एकमें विलीन हो जाते हैं, उसको कहते हैं –साधन-तत्त्व। तो समस्त साधन किसमें विलीन होते हैं ? तो मानना पड़ता है कि प्रेमकी प्राप्तिमें, प्रेमकी जागृति में। तो प्रेम हुआ साधन-तत्त्व। -संतवाणी 5/61

5. जो लोग यह कहते हैं कि 'क्या बतायें, उन्होंने तो इतना प्यार किया कि हम मजबूर हो गये', उनसे निवेदन है कि कोई आदमी आपको मजबूर करे, क्या वह भी कोई प्यार है ? 'नहीं महाराज, आज तो खा ही लो। अरे महाराज, खा ही लें', तो यह प्यार है या शासन है ? प्यार है या आसक्ति है ? -प्रेरणा पथ 61

6. प्रेममें एक विलक्षणता है, और वह विलक्षणता यह है कि उसका आरम्भ कहींसे हो, पर वह विभु हो जाता है। -जीवन-पथ 46

7. जो परमात्माको प्रेम नहीं करता, सन्तोंको प्रेम नहीं करता, अपनेको प्रेम नहीं करता; सच पूछो तो वह किसीको प्रेम नहीं करता। -संतवाणी 7/144

8. यह निर्विवाद सत्य है कि प्रेमकी प्राप्तिमें ही जीवनकी पूर्णता है। -संतवाणी 5/25

9. यदि अपनेको अपना प्रिय नहीं हो सकता, तो प्रियताकी प्राप्तिका और कोई उपाय हो ही नहीं सकता। -संत-उद्बोधन 24

10. प्रेमियोंकी सूचीमें नाम लिखाने चलें और कामना साथ लेकर चलें, तो क्या प्रेम होगा ? अपना मन रखकर क्या प्रेम होता है ? कदापि नहीं। -संत-उद्बोधन 63

11. कामना-पूर्त्ति और मोक्ष चाहनेवाला प्राणी ईश्वर-प्रेमी नहीं हो सकता, ईश्वरसे प्रेम नहीं कर सकता। -संत-उद्बोधन 63

12. जहाँ अपने ही लाभका ध्यान है, वहाँ ईमानदारी रह नहीं सकती। ईमानदारीके बिना प्रेमका प्रादुर्भाव होता ही नहीं। -संत-उद्बोधन 112

13. प्रेमका उदय होनेपर एक ही दो मालूम होते हैं। यह नहीं है कि दो होनेपर प्रेम होगा। -संत-उद्बोधन 125

14. कोई भी विचारक यह सिद्ध नहीं कर सकता कि दो होनेपर प्रेम हो सकता है। दोमें तो न्याय हो सकता है, प्रेम नहीं; क्योंकि प्रेमका उदय वहाँ होता है, जहाँ एक ही दो मालूम होते हों। -मानवकी मांग 128

15. जीवन्मुक्त होनेके बाद मनुष्य प्रेम-प्राप्तिका अधिकारी होता है। -संत-उद्बोधन 146

16. जिसके हृदयमें भोग-सुखोंका लालच और काम-क्रोधादि विकार मौजूद हैं, वह प्रेमकी प्राप्ति तो क्या, प्रेमकी चर्चा करने तथा सुननेका भी अधिकारी नहीं है। वास्तवमें तो जिसके हृदयमें ममता, आसक्ति, कामना और स्वार्थकी गन्ध भी न हो, वही प्रेमी हो सकता है। -संत-उद्बोधन 146

17. अहम्‌का नाश हुए बिना भेदका नाश नहीं होता और उसके हुए बिना अनन्तके प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती। -संत-उद्बोधन 165

18. चाह-रहित प्राणी ही प्रेम कर सकता है। -मानवकी मांग 34

19. चाह-रहित हुए बिना मानव प्रियताका अधिकारी नहीं होता। -मानव-दर्शन 102

20. प्रभुकी महिमा सुनकर जो ईश्वरवादी होते हैं, वे कामी हैं, प्रेमी नहीं। -जीवन-पथ 77

21. प्रेमी वह नहीं होते कि भगवान् तो प्यारे लगें और संसार खारा लगे। उसे प्रेमी नहीं कहते। -संतवाणी 5/119

22. प्रेमी हम कब होंगे ? जब हम यह स्वीकार करें कि प्रभु अपने हैं। -संतवाणी 7/37

23. यह प्रेमका स्वभाव है कि प्रेम प्रेमीका सर्वस्व हर लेता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेमीका विनाश हो जाता है। प्रेम और प्रेमीके बीचमें जो दूरी थी, वह मिट जाती है अर्थात् प्रेमी भी गलकर प्रेम ही हो जाता है। -मानवकी मांग 147

24. जिस प्रकार नदीका निर्मल जल किसी गड्ढेमें आबद्ध होनेसे विषैले कीटाणुओंका घर बन जाता है, उसी प्रकार प्रेम-रूपी तत्त्व किसी वस्तु एवं व्यक्ति आदिमें आबद्ध होकर लोभ, मोह आदिका रूप धारण कर अनेक विकार उत्पन्न करता है। -मानवकी मांग 146

25. आसक्तिका अत्यन्त अभाव हुए बिना अनुरक्तिके साम्राज्यमें प्रवेश ही नहीं होता। -मानव-दर्शन 55

26. जिसके जीवनमें प्रेमका प्रादुर्भाव हो जाता है, उसके जीवनमें भोग, मोक्ष आदि कोई भी कामना शेष नहीं रहती। -मानवकी मांग 188

27. बोधमें प्रेम और प्रेममें बोध ओत-प्रोत हैं। -मानव-दर्शन 63

28. प्रीतिके समान और कोई अलौकिक महान् तत्त्व नहीं है। –मानव-दर्शन 94

29. उसकी प्राप्ति उसकी प्रियतामें ही निहित है, जिज्ञासामें नहीं। –मानव-दर्शन 95

30. प्रेम ही भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। वही उनका मानवपर अधिकार है। –मानवकी मांग 60

31. प्रियता प्राप्त करनेके लिये सेवा और त्याग तथा आस्थापूर्वक आत्मीयता अनिवार्य है। –मानव-दर्शन 102

32. प्रेमका आरम्भ किसी भी प्रतीकमें क्यों न हो, किन्तु प्रेम स्वभावसे ही विभु हो जाता है। अतः विश्वप्रेम भी विश्वसे अतीत आत्मरति एवं प्रभु-प्रेमके रूपमें परिणत होता है। कारण कि प्रेम-तत्त्वको किसी सीमामें आबद्ध नहीं किया जा सकता। –मानव-दर्शन 117

33. प्रेमकी अन्तिम भेंट है –'अहम्' और 'मम' को अर्पित करना। –मानव-दर्शन 143

34. जिसे भोग और मोक्ष भी नहीं भाते, उसीको करुणामय अपनी प्रीति प्रदान करते हैं। –साधन-निधि 42

35. जो प्रियता सदैव नहीं रहती, वह वास्तवमें प्रियता नहीं है, अपितु आसक्ति है। –मूक सत्संग.151

36. शरणागत बिना हुए शरण्यकी अगाध प्रियता कैसे मिल सकती है ? कदापि नहीं। –मूक सत्संग.199

37. जबतक जीवित शरीर मृतकके समान न मालूम हो, तबतक प्रेम पैदा नहीं हो सकता –ऐसा मेरा विश्वास है। –संतपत्रावली 1/13-14

38. प्रेमीके हृदयमें कामना तथा क्रोध उत्पन्न नहीं होता, ऐसा मेरा अनुभव है। –संतपत्रावली 1/38

39. जिस प्रकार गंगाका पवित्र जल, जो आनन्दका हेतु है, गड्ढ़ेमें बँध जानेसे अनेक विषैले कीड़ोंको उत्पन्न कर दुःखका कारण होता है, इसी प्रकार पवित्र प्रेम मलमूत्र-पूर्ण शरीरमें बँध जानेसे अनेक वासनारूपी कीड़ोंको उत्पन्न कर महान् दुःखका कारण होता है। –संतपत्रावली 1/44

40. जबतक किसी प्रकारकी वासना शेष है, तबतक समझना चाहिये कि प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि प्रेम उत्पन्न होनेपर हृदय आनन्द तथा समतासे भर जाता है और सब ओर अपना आपा ही नजर आता है। –संतपत्रावली 1/50

41. पवित्र प्रेमको शरीरमें कैद करनेसे मोहकी उत्पत्ति होती है। –संतपत्रावली 1/54

42. बढ़ा हुआ रोग आरोग्यतामें और बढ़ा हुआ प्रेम प्रेमपात्रमें विलीन हो जाता है। –संतपत्रावली 1/57

43. प्रेमीका स्नान क्या है ? –रोना। प्रेमीका ध्यान क्या है ? –अपने-आपको मिटा देना। प्रेमीकी पूजा क्या है ? –सच्ची व्याकुलता। प्रेमीका भोजन क्या है ? –हर्ष और शोक। प्रेमी निवास कहाँ करता है ? –जहाँ और कोई न हो। प्रेमीका पाठ क्या है ? –मौन। –संतपत्रावली 1/75

44. अपने प्रियतमको अपनेसे भिन्न किसी औरमें अनुभव मत करो। - संतपत्रावली 1/103

45. प्रेमरूप धन अधिक-से-अधिक छिपाकर रखना चाहिये। यहाँतक कि मन, इन्द्रियों आदिको भी पता न चले। नहीं तो ये निर्मल प्रेमको गन्दा कर देंगे। –संतपत्रावली 1/178-179

46. प्रेमास्पदसे भिन्नकी अस्वीकृतिके लिये विवेक अपेक्षित है और प्रेमास्पदसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करनेके लिये विश्वास हेतु है। –पाथेय 41

47. प्रीति स्वरूपसे दिव्य, चिन्मय तथा अनन्त है। यह नियम है कि जो चिन्मय है, वह विभु है। जो विभु है, उससे देश-कालकी दूरी तथा भेद रह नहीं सकता। हाँ, एक बात अवश्य है कि प्रीति ऐसा अलौकिक तत्त्व है, जो वियोगमें मिलन और मिलनमें वियोगका भास कराता है। पर इस रहस्यको वे ही प्रेमी जानते हैं, जो भुक्ति और मुक्तिकी दासतासे मुक्त हैं अर्थात् जिन्होंने भोग और मोक्षको ठुकरा दिया है और प्रेम ही को अपना सर्वस्व स्वीकार किया है। –संतपत्रावली 2/55

48. प्रीतिका क्रियात्मक रूप ही सेवा है और प्रीतिका विवेकात्मक रूप ही बोध है और प्रीतिका भावात्मक रूप ही प्रीतमको रस देना है। –संतपत्रावली 2/74

49. जिसका कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिये, वही प्यारे प्रभुको अपना मान सकता है, और उसीको प्रेमकी प्राप्ति होती है। –संतपत्रावली 2/149

50. प्रेमास्पदसे भिन्नकी सत्ता स्वीकार करनेपर प्रीतिमें शिथिलता आती है। प्रीतिको सुरक्षित रखनेके लिये प्रेमास्पदसे भिन्न अन्यका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करना चाहिये। तभी प्रीति सबल तथा स्थायी हो सकती है। –पाथेय 69

51. प्रीतिका उदय तभी होता है, जब अनेक विश्वास एक विश्वासमें, अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्धमें एवं अनेक चिन्तन एक चिन्तनमें विलीन हो जाते हैं। –पाथेय 97

52. प्रीति किसी कर्म और अभ्याससे प्राप्त नहीं होती, अपितु आत्मीयतासे प्राप्त होती है, जो विश्वाससे सिद्ध है। जिसने एक बार 'मेरे नाथ' कह दिया, बस, प्रीति प्राप्त हो गयी। –पाथेय 109

53. क्या प्रीतिको शरीरकी आवश्यकता है ? कदापि नहीं। -पाथेय 93

54. जिसे कुछ नहीं चाहिये, उसीको प्रेमास्पद अपना प्रेम-तत्त्व प्रदान करते हैं। जिसे कुछ और चाहिये, उसे प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती। -पाथेय 355

55. अभ्यासका महत्त्व कार्य-कुशलतामें भले ही हो, परन्तु प्रेमके साम्राज्यमें तो अभ्यासका प्रवेश ही सम्भव नहीं है। -सत्संग और साधन 68-69

56. जिनके सम्बन्धमात्रमें ही देहाभिमान गल जाता है, उनके प्रेमकी प्राप्तिमें भला देहादिकी क्या अपेक्षा होगी ? -सत्संग और साधन 69

57. 'प्रेम' में तो अपने-आपको मिटाना होता है और 'सेवा' के लिये अपना सब कुछ देना होता है। जो अपने-आपको मिटा नहीं सकता, वह प्रेम नहीं कर सकता और जो अपना सर्वस्व दे नहीं सकता, वह सेवा नहीं कर सकता। -जीवन-दर्शन 111

58. कर्म करनेकी सामर्थ्य और विवेक तो अनन्तकी अहैतुकी कृपासे स्वतः प्राप्त हैं; परन्तु प्रेम-प्राप्तिके लिये तो हमें उस अनन्तके समर्पित होना पड़ेगा। -जीवन-दर्शन 247

59. जीवनका मुख्य उद्देय प्रेम-प्राप्ति है। वह प्रेम तभी प्राप्त होगा, जब हम उनकी कृपाका आश्रय लेकर अपनेको उन्हींके समर्पित कर दें। इस बातके लिये चिन्तित न हों कि हम कैसे हैं ? जैसे भी हैं, उनके हैं। वे जैसे भी हैं, अपने हैं। उनकी कृपा स्वयं हमें उनसे प्रेम करनेके योग्य बना लेगी। -जीवन-दर्शन 248

60. प्रेमके साम्राज्यमें प्रेमास्पदसे भिन्न कुछ हुआ ही नहीं। -जीवन-दर्शन 253

61. त्यागरूपी भूमिमें ही प्रेमरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है अर्थात् त्यागका फल ही प्रेम है। -जीवन-दर्शन 276

62. 'अहं' और 'मम' का नाश बिना हुए प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश नहीं हो सकता। -जीवन-दर्शन 280

63. प्रेम-प्राप्ति प्रेमास्पदकी अहैतुकी कृपापर निर्भर है और जिज्ञासाकी पूर्त्ति जिज्ञासाकी पूर्ण जागृतिपर निर्भर है। -जीवन-दर्शन 291

64. प्रेमको स्थायी तथा सबल बनानेके लिये चाहरहित होना अनिवार्य है; क्योंकि चाहकी उत्पत्ति प्रेमको दूषित करती है। यहाँतक कि प्रेम तभी सुरक्षित रह सकता है, जब सद्गतिकी भी चाह न हो। इतना ही नहीं, अचाह होनेकी भी चाह न हो; क्योंकि चाहकी उत्पत्ति भिन्नता उत्पन्न करती है, जो प्रेममें बाधक है। -जीवन-दर्शन 302

65. प्रेम तभी सुरक्षित रह सकता है, जब प्रेमीमें इस भावका उदय भी न हो कि मैं प्रेमी हूँ; क्योंकि प्रेम प्रेमीको खाकर ही पुष्ट होता है। -जीवन-दर्शन 302

66. यह प्रश्न नहीं है कि आपका साध्य क्या है। प्रश्न यह है कि आपकी अपने साध्यमें प्रियता है या नहीं। जीवनमें मूल्य प्रियताका है। -सफलताकी कुंजी 124

67. जिसे अपने लिये किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिकी अपेक्षा है, उसका प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश ही नहीं हो पाता। -दर्शन और नीति 74-75

68. प्रेम वही कर सकता है, जो कामसे रहित हो। जिसकी प्रसन्नता दूसरोंपर निर्भर है, वह प्रेम नहीं कर सकता। -चित्तशुद्धि 53

69. जिसे किसी भी वस्तु, अवस्था आदिकी आवश्यकता है, उसे प्रीति प्राप्त नहीं होती। -चित्तशुद्धि 115

70. प्रेम एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है, जिसकी निवृत्ति, क्षति या पूर्त्ति सम्भव नहीं। निवृत्ति कामनाओंकी और पूर्त्ति जिज्ञासाकी होती है। प्रेमकी तो प्राप्ति ही होती है, पूर्त्ति या निवृत्ति नहीं। इस दृष्टिसे प्रेम प्रेमास्पदकी ही अभिव्यक्ति है, और कुछ नहीं। -चित्तशुद्धि 126

71. प्रेममें निर्दोषता और निर्दोषतामें प्रेम ओतप्रोत है अर्थात् प्रेम और निर्दोषतामें विभाजन नहीं हो सकता। -चित्तशुद्धि 233

72. अपनेको प्रेमी मानकर प्रेमास्पदको रस प्रदान करना साधन और प्रेमास्पदसे कुछ भी माँगना असाधन है। -चित्तशुद्धि 290

73. प्रेम क्षति, पूर्त्ति तथा निवृत्तिसे रहित है। निवृत्ति 'काम' की होती है, प्रेमकी नहीं। पूर्त्ति 'जिज्ञासा' की होती है, प्रेमकी नहीं। क्षति 'सुखभोग' की होती है, प्रेमकी नहीं। प्रेमकी तो उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है। -चित्तशुद्धि 298

74. कामनाओंकी निवृत्ति और जिज्ञासाकी पूर्त्ति होनेपर ही प्रेमकी प्राप्ति होती है। -चित्तशुद्धि 304

75. चाहरहित हुए बिना प्रीतिका उदय होता ही नहीं। इस दृष्टिसे प्रीतिकी भूमि बन्धनसे रहित है अथवा यों कहो कि मुक्ति ही प्रीतिका उद्गम-स्थान है। -चित्तशुद्धि 305

76. प्रीतिमें ही समस्त साधनोंकी समाप्ति है। प्रीतिके बिना कभी किसीको रसकी उपलब्धि हो ही नहीं सकती। उसके बिना खिन्नता, क्षोभ, क्रोध, राग आदि विकारोंका अन्त हो ही नहीं सकता। -चित्तशुद्धि 306

77. प्रीति एकमें दो और दोमें एकका दर्शन कराती है अथवा यों कहो कि एक और दोकी गणनासे विलक्षण है। उसमें भेद और भिन्नताकी तो गन्ध ही नहीं है। -चित्तशुद्धि 332

78. प्रीति ऐसी निर्मल धारा है कि वह किसीमें आबद्ध नहीं रहती, अपितु सभीको पार करती हुई अनन्तमें ही समाहित हो जाती है। -चित्तशुद्धि 336

79. 1) यह (संसार) जो कुछ है, वह उनका है अर्थात् प्रेमपात्रका है –यह प्रेमकी प्रथम अवस्था है। 2) यह जो कुछ है, वह उनका ही स्वरूप है –यह प्रेमकी द्वितीय अवस्था है। इस अवस्थामें सृष्टि मिटकर प्रेमपात्रका स्वरूप प्रतीत होता है अर्थात् संसारका भाव मिट जाता है। 3) प्रेमकी जो तीसरी अन्तिम अवस्था है, वह किसी प्रकार कही नहीं जा सकती। सिर्फ यह संकेत किया जा सकता है कि प्रेमपात्रके सिवाय और कुछ कभी हुआ ही नहीं। -सन्त-समागम 1/33

80. जो अपने प्रेमपात्रको अपनेमें अनुभव करते हैं, उनको वियोगका दुःख उठाना नहीं पड़ता। अपनेसे भिन्न कितना ही समीप क्यों न देखिये, फिर भी वियोग अवश्य होगा। अतः प्रेमपात्रको अपनेमें अनुभव करनेसे उनसे स्थायी संग हो जाता है। प्रेमपात्रको अपनेसे भिन्नमें वही देखते हैं, जो विषयोंकी सत्ताका त्याग नहीं कर सकते। इसी कारण विषयी बेचारा प्रेमपात्रकी खोज करनेके लिये संसारमें भटकता है। -सन्त-समागम 1/145

81. यह भली प्रकार समझ लो कि प्रेम किसी व्यक्तिसे नहीं होता। व्यक्तियोंसे तो राग-द्वेष ही हो सकता है, और त्याग भी किसी व्यक्ति-विशेषका नहीं होता। 'त्याग' कुल संसारका और 'प्रेम' जो संसारातीत है, उससे होता है, अथवा 'त्याग' शरीरका और 'प्रेम' जो शरीरसे परे है, उससे होता है। -सन्त-समागम 1/157

82. एक कालमें, एक हृदयमें दो स्वतन्त्र सत्ताएँ नहीं ठहर सकतीं। प्रेमपात्रके आते ही प्रेमीकी सत्ताका अन्त हो जाता है। प्रेमीके रहते हुए प्रेमपात्र आ नहीं पाता। सिर्फ माने हुए नातेके आधारपर हृदय कभी-कभी भावावेशसे भर जाता है, जो वास्तवमें प्रेम नहीं कहा जा सकता। -सन्त-समागम 1/175

83. अभिलाषी स्वयं अभिलाषाको अपने स्वरूपमें अनुभव करता है, जिस प्रकार एम.ए. का अभिलाषी एम.ए. होनेपर 'मैं एम.ए. हो गया' ऐसा अनुभव करता है, अर्थात् प्रेमी प्रीतमको अपनेमें भिन्न नहीं पाता। प्यारे, प्रीतम जब रुचिके स्वरूपमें होता है, तब प्रेमी कहलाता है। रुचिके पूर्ण होनेपर प्रेमी 'प्रीतम' हो जाता है। प्रेमी और प्रीतमके समान ही 'अपूर्ण' तथा 'पूर्ण' को समझो।....... पूर्णकी अभिलाषा ही अपूर्णता है। -सन्त-समागम 1/228-229

84. गहराईसे देखो, अपने समान और कोई प्रिय नहीं। उस अत्यन्त प्रिय अपनेमें ही अपने प्रेम-पात्रका अनुभव करना सच्चा सम्बन्ध है। क्रिया तथा भाव द्वारा किया हुआ सम्बन्ध केवल व्यापार है, अथवा यों कहो कि मानी हुई अहंताके जीवित रखनेका उपाय है। -सन्त-समागम 1/248

85. जो प्राणी अपनेसे भिन्नमें अपने प्रेम-पात्रको देखते हैं, उनका प्रेम-पात्रसे योग नहीं होता, बल्कि संयोग होता है। -सन्त-समागम 1/253

86. प्रेम-पात्र आनेके लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं; क्योकि वे केवल स्थान न मिलनेके कारण नहीं आ पाते। प्यारे, प्रेमीसे अधिक प्रेम-पात्रको प्रेमीकी आवश्यकता है; क्योंकि प्रेमीके सिवाय और कहीं संसारमें प्रेम-पात्रको स्थान नहीं मिलता। -सन्त-समागम 1/256

87. यद्यपि प्रत्येक प्राणीमें प्यार उपस्थित है, परन्तु स्वीकृतिमात्रको सत्ता मान लेनेसे प्यार-जैसा अलौकिक तत्त्व भी सीमित हो जाता है। सीमित प्यार संहारका काम करता है, जो प्यारके नितान्त विपरीत है; जैसे देशके प्यारने देशोंपर, सम्प्रदायके प्यारने अन्य सम्प्रदायोंपर, जातिके प्यारने अन्य जातियोंपर अत्याचार किया है। -सन्त-समागम 2/38

88. यदि प्रेमपात्रके प्रेमको चाहते हो तो सब प्रकारसे उनके हो जाओ। ऐसा करनेपर भिन्न-भिन्न प्रकारके साधनोंकी खोज नहीं करनी पड़ेगी। -सन्त-समागम 2/137

89. प्रेमी तथा प्रेमपात्रके मिलनके लिये किसी तीसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती अर्थात् प्रेमी स्वतन्त्रतापूर्वक प्रेम-पात्रसे मिल सकता है। -सन्त-समागम 2/157

90. अपनत्व साधन है और प्रेम साध्य है। प्रेमी अपनत्वके बलसे प्रेम-पात्रको पाता है। -सन्त-समागम 2/157

91. त्याग तथा प्रेम –ये दोनों ही एक वस्तु हैं।........ बेचारा कामनायुक्त प्राणी त्याग तथा प्रेमका आस्वादन नहीं कर पाता। -सन्त-समागम 2/162

92. प्रेम अपनेसे होता है, भिन्नसे नहीं। गहराईसे देखो, जिसका किसी प्रकार भी त्याग हो सकता है, उससे प्रेम नहीं हो सकता। प्रीति उसीसे होती है, जिसका त्याग नहीं हो सकता। -सन्त-समागम 2/195

93. मोह द्वारा माने हुए सभी सम्बन्धोंका विच्छेद होनेपर सर्वसमर्थ प्रेमपात्रसे अपनत्व स्वतः हो जाता है। अपनत्व होते ही प्रीतिकी गंगा लहराने लगती है। -सन्त-समागम 2/216-217

94. कामनायुक्त प्राणियोंसे प्रेमकी आशा परम भूल है। -सन्त-समागम 2/238

95. प्रेमी तथा प्रेमपात्रके बीचमें केवल चिन्तन ही रुकावट है, जो दोनोंको मिलने नहीं देता। -सन्त-समागम 2/298

96. जिस प्रकार नदीका शुद्ध जल किसी गड्ढेमें आबद्ध होकर अनेक विकार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार स्नेह किसी शरीर, वस्तु या अवस्थामें आबद्ध होकर मोहयुक्त अनेक विकार उत्पन्न करता है। -सन्त-समागम 2/330

97. भगवत्-प्रेमका महत्त्व है, भगवत्-दर्शनका कोई महत्त्व नहीं। भगवान् रोज दिखें और प्यारे न लगें तो तुम्हारा विकास नहीं होगा। भगवत्-विश्वास, भगवत्-सम्बन्ध और भगवत्-प्रेमका महत्त्व है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 2

98. कामी कामिनीको प्रेम नहीं करता। वे एक-दूसरेको नष्ट करते हैं, खा जाते हैं। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 4

99. एकमात्र प्रभुको अपना मानना और कुछ नहीं चाहना –यही प्रेम प्राप्त करनेका उत्तम साधन है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 51

100. प्रेममें प्रेमका ही आदान-प्रदान है; कारण कि प्रेमके बदलेमें प्रेम ही हो सकता है, कुछ और नहीं। -मानवताके मूल सिद्धान्त 7

101. प्रेमकी प्राप्तिमें जीवनकी पूर्णता निहित है, जो आस्तिकवादकी पराकाष्ठा है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 7

102. प्रियता निष्कामताके बिना विभु नहीं होती। सीमित प्रियता आसक्तियोंकी जननी है और असीम प्रियतामें ही प्रेमका प्रादुर्भाव होता है, जो वास्तविक जीवन है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 68-69

103. प्रेम जो होता है, इस बातपर नहीं होता है कि वह कैसा है, प्रत्युत इस बातपर होता है कि वह अपना है। वह कैसा है –इस बातकी जरूरत तब होती है, जब उससे हमें कुछ लेना हो। यानी, अपने सुखके लिये आदमी सोचता है कि अमुक वस्तु कैसी है, अमुक व्यक्ति कैसा है। -संतवाणी 8/94

104. जिसे कुछ नहीं चाहिये और जिसके पास अपना करके कुछ नहीं है, वही प्रेम दे सकता है। और जिसके पास सब कुछ है, वही केवल प्रेमसे प्रसन्न हो सकता है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो आपके प्रेमका पात्र कौन होगा ? जिसके पास सब कुछ हो और जिसे कुछ नहीं चाहिये। और प्रेम दे कौन सकता है ? जिसके पास कुछ न हो और जिसे कुछ नहीं चाहिये।.......तो प्रेम देनेके लिये दो बातें जरूरी हो गयीं –मेरे पास मेरा करके कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिये। और तीसरी बात –जिसको प्रेम देना है, वही मेरा अपना है, और कोई मेरा अपना नहीं है। -संतवाणी 8/94-95

105. जो सचमुच नित्य वर्तमान है, वह परमात्मा अपनेको और जो सदा-सर्वदा नहीं है, उस (संसार) को भी प्रकाशित करता है। पर परमात्माकी प्रीति, जो वास्तवमें नहीं है, उस (संसार) की निवृत्तिमें और जो है, उस (परमात्मा) की प्राप्तिमें समर्थ है। इसलिये भगवत्-प्रीतिका महत्त्व भगवान्‌से भी अधिक है। -संत-सौरभ 15

106. भोगी मनुष्य प्रेमका अधिकारी नहीं होता। वह तो सेवाका अधिकारी है। -संत-सौरभ 34

107. प्रेमीका मन, इन्द्रियाँ आदि कुछ भी भौतिक नहीं रहते; क्योंकि भगवान् स्वयं जिस चिन्मय प्रेमकी धातुसे बने हैं, उसीसे उनका प्रेमी, उनका दिव्य धाम और सब कुछ बने हैं। -संत-सौरभ 42

108. बोधके बाद प्रेम होना असंगत नहीं है। इसीमें तो सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म लीलामय परमेश्वरके सगुण-साकार रूपकी सार्थकता है। प्रेमके अतिरिक्त सगुण ब्रह्मके होनेमें कोई कारण ही नहीं है। -संत-सौरभ 42

109. प्रेम किसी भी कर्मके अधीन नहीं होता। वह किसी प्रकारकी क्रियामें बँधता नहीं कि अमुक प्रकारकी क्रिया या व्यवहारका नाम ही प्रेम है। -संत-सौरभ 114

110. जहाँ प्रेम प्रकट हो जाता है, वहाँ इन्द्रियोंके दरवाजे बन्द हो जाते हैं। -संत-सौरभ 116

111. प्रेमकी कभी पूर्णता नहीं होती। इस कारण प्रेमीको हरेक अवस्थामें प्रेमकी कमीका बोध होता है। -संत-सौरभ 137

112. जिसपर विश्वास होता है, उससे सम्बन्ध हो जाता है। जिससे सम्बन्ध होता है, उसीका चिन्तन होता है। और जिसका चिन्तन होता है, उसीमें प्रेम होता है। भगवान्‌पर विश्वास और प्रेम स्वाभाविक होना चाहिये, किसी प्रकारका जोर डालकर नहीं; क्योंकि प्रयत्नसाध्य वस्तु स्थायी नहीं होती। -संत-सौरभ 160-161

113. जिस तनसे, धनसे, बुद्धिसे आप संसारमें भले आदमी कहलाये, उसी तन-बुद्धि आदिसे आप परमात्माके प्रेमी हो जायँ, यह सम्भव नहीं है। -संतवाणी 7/99

114. जबतक प्राणीका शरीर और संसारसे सम्बन्ध नहीं छूटता, जबतक वह शरीरको 'मैं' और संसारको अपना मानता है, तबतक गोपी-प्रेमकी बात समझमें नहीं आती। -संत-सौरभ 83

115. जबतक स्थूल, सूक्ष्म या कारण किसी भी शरीरमें अहंभाव है, तबतक मनुष्यको गोपीभाव प्राप्त नहीं होता; अतः वह गोपी-प्रेमका अधिकारी नहीं है। -संत-सौरभ 169

116. गोपीभाव प्राप्त करनेके लिये वस्तुके संयोग और क्रियाजन्य सुखकी तो कौन कहे, चिन्तनतकके सुखका भी त्याग करना पड़ता है। -संत-सौरभ 169

117. जबतक देहभाव रहता है, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ –ऐसा भाव होता है, तबतक गोपी-चरित्र सुनने और समझनेका अधिकार प्राप्त नहीं होता। फिर गोपी-प्रेम क्या है –यह तो कोई समझ ही कैसे ससकता है ? -संत-सौरभ 170

118. व्रजमें प्रवेश हो जानेके बाद भी गोपीभावकी प्राप्ति बहुत दूरकी बात है। दास्यभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभावके बाद कहीं गोपीभावकी उपलब्धि होती है। फिर साधारण मनुष्य उस गोपी-प्रेमकी बात कैसे समझ सकते हैं और कैसे कह सकते हैं ? -संत-सौरभ 171

119. जिसमें जितनी चतुराई-चालाकी होती है, उतना ही वह प्रेमके राज्यसे दूर रहता है और जिसमें जितना भोलापन होता है, उतना ही वह प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश पाता है। -संतवाणी 6/134-135

120. आप अपने निकटवर्ती प्रियजनोंसे पूछिये कि आप हमको बहुत प्यारे लगते हैं, लेकिन हमारे पास जो वस्तु है, वह हम आपको नहीं दे सकते, तो आपको तुरन्त उत्तर मिलेगा कि आपका प्यार भाड़में जाय।....... केवल प्रियतामात्रसे रीझनेमें प्रभु ही समर्थ हैं। ...... संसारभरकी आप खोज कीजिये, एक भी आदमी आपको ऐसा नहीं मिलेगा जो आपको यह कहे कि हम आपको अपना मानते हैं, इतनेमात्रसे आप प्रसन्न हो जाइये। -जीवन-पथ 123

121. प्रेमके साम्राज्यमें कोई भी प्रेमी अपने पास अपनी करके कोई वस्तु नहीं रख सकता। -संतवाणी 5/25

122. प्रेम कोई अभ्यास नहीं है, कोई अनुष्ठान नहीं है, कोई श्रम-साध्य प्रयोग नहीं है, अपितु मानवमात्रमें स्वभावसे मौजूद है। परन्तु उसका बोध कब होता है ? जब मानव आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सुने हुए प्रभुको अपना मान लेता है। -संतवाणी 5/26

123. आप अपने सुखके लिये कुछ आशा रखते हैं, तब सोचते हैं कि वे (प्रभु) कैसे हैं। यदि आप प्रेमी हैं, तो कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे कैसे हैं ! और कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे कहाँ हैं ! कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे क्या करते हैं ! चाहे जैसे हों, चाहे जहाँ हों, चाहे कुछ करें, अपने हैं और प्रिय हैं। यह है प्रेमकी दीक्षा। -संतवाणी 5/64-65

124. अगर किसीके प्रति भी तुम्हारे हृदयमें प्रेमकी कमी होती है या प्रेम तुम नहीं दे सकते हो, तो तुम प्रभुसे तो प्रेम नहीं कर सकते। -संतवाणी 4/45

125. प्रेमीके हृदयमें जब प्रीतिकी वृद्धि होती है तो उसकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें प्रीति आ जाती है। प्रीति कोई ऐसी चीज नहीं है कि आप जब सब काम-धन्धा छोड़ देंगे, तब प्रेम करेंगे। -संतवाणी 3/7

126. यदि किसीको अपने प्रियकी भूख है कि हमारा कोई प्रिय हो, तो इसका अर्थ है कि उसको सिवाय परमात्माके और कोई नहीं मिलेगा। जो सभीका प्रिय हो, ऐसा परमात्मा ही हो सकता है। -संतवाणी 3/140

127. जो मनुष्य भगवान्‌को छोड़कर कुछ भी चाहता है तथा भगवान्‌का भजन करके भगवान्‌से कुछ भी माँगता है, वह भगवान्‌के प्रेमका पात्र नहीं होता, यानी उसको भगवान्‌का प्रेम नहीं मिलता है। उसका कल्याण भी नहीं होता। -संत-उद्‌बोधन 171

128. आत्मीयता वही कर सकता है, जो भोग और मोक्षको फुटबाल बनाकर ठुकरा दे। महँगी है तो इतनी और सस्ती है तो इतनी कि धोखेसे, बिना सोचे, बिना समझे एक बार यह कहके चुप हो जाय कि 'प्रभु, निस्सन्देह तुम सदैव मेरे हो', 'तुम सदैव मेरे हो'। -जीवन-पथ 112

129. अपनेमें अपनेसे भिन्न प्रेमास्पदकी स्वीकृति क्या आवश्यक है ? अवश्य है। कारण कि मानवने अपने ही में पराधीनता, जड़ता, अभाव आदिको स्वीकार किया है, जो वास्तवमें भूलजनित है। भूल अपनेमें है, तत्त्वमें नहीं। भूलका अत्यन्त अभाव तभी हो सकता है, जब अपने ही में अपने प्रेमास्पदको अपनाया जाय। अपनेमें अपने प्रेमास्पदकी स्वीकृति भेदकी जननी नहीं है, अपितु भिन्नताकी नाशक है। -मूक सत्संग.160-161

130. जिस प्रकार देहाभिमान रहते हुए भोगकी रुचि स्वाभाविक है, उसी प्रकार देहाभिमान गल जानेपर प्रीतिकी लालसा स्वाभाविक है। -चित्तशुद्धि 114

131. प्रेमपात्रका संग करके अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा सज्जनताके आधारपर जीवित रहना प्रेमका अधूरापन है, जो किसी भी प्रेमीको शोभा नहीं देता। चिन्तन, ध्यान आदि अथवा 'संग' में बड़ा भेद है। ध्यान आदिसे माना हुआ अहंभाव दब जाता है और 'संग' से मिट जाता है; क्योंकि चिन्तन, ध्यान आदिसे कुछ-न-कुछ दूरी अवश्य रहती है और 'संग' से किसी प्रकारकी दूरी तथा भेद नहीं रहता। -सन्त-समागम 1/162-163

बुराई (दे.परदोषदर्शन)

1. मेरा यह अनुभव है कि यदि हम अपने साथ बुराई न करते, तो संसारकी सामर्थ्य नहीं कि वह हमारे साथ बुराई कर सके। -प्रेरणा पथ 21

2. जब-जब मैं सोचता हूँ, तब-तब मैं इसी निष्कर्षपर पहुँचता हूँ कि हे मानव ! तूने अपने साथ जितनी बुराई की है, कोई दूसरा तेरे साथ उतनी बुराई कभी कर ही नहीं सकता। -प्रेरणा पथ 21

3. बुराई-रहित होते ही भलाई अपने-आप होने लगती है; किन्तु उसका अभिमान नहीं होता। भलाईका अभिमान तो बुराईको जन्म देता है। -प्रेरणा पथ 163

4. जबतक मानव भूलसे अपनेको बुरा नहीं बना लेता, तबतक उससे बुराई नहीं होती। -साधन-निधि 24

5. बुराई-रहित होना सत्संगसे साध्य है और भला हो जाना दैवी विधान है। भलाई सीखी नहीं जाती, सिखाई नहीं जाती। बुराई-रहित होनेसे भलाई स्वतः अभिव्यक्त होती है। -संत-उद्‌बोधन 55

6. अपनी भलाईका भास हो जानेपर भी भलाई 'भलाई' नहीं रह जाती। तब सूक्ष्मरूपसे बुराईका जन्म हो जाता है। -संत-उद्‌बोधन 55

7. हम किसी दूसरेके प्रति कोई भलाई तथा बुराई कर ही नहीं सकते, जबतक कि अपनेको भला या बुरा न बना लें। -मानवकी मांग 132

8. हम किसी औरको कोई हानि पहुँचा ही नहीं सकते, जबतक कि स्वयंका सर्वनाश नहीं कर लेते। -मानवकी मांग 133

9. यदि हम अपना कल्याण तथा सुन्दर समाजका निर्माण चाहते हैं तो यह अनिवार्य हो जाता है कि हम दूसरोंमें तथा अपनेमें बुराईकी स्थापना न करें। -मानवकी मांग 135

10. जो व्यक्ति कभी किसीको किसी प्रकारकी हानि नहीं पहुँचाता, वह प्रकृतिके विधानसे अजातशत्रु हो जाता है। -संतवाणी 6/104

11. जब उसके साथ कोई बुराई करता है, तब अपनेको निर्दोष मानकर बुराईके बदलेमें बुराई करनेके लिये अपनेको बुरा बनाता है। पर उसे इस बातका स्वयं पता नहीं रहता कि बुराईका प्रतिकार करनेके लिये मैं स्वयं बुरा हो गया। -साधन-निधि 30

12. बुराईका चिन्तन बुराईसे अधिक बुरा है; क्योंकि चिन्तनके अनुसार कर्ताका स्वरूप बन जाता है। -संतपत्रावली 1/70

13. प्रत्येक बुराईका उत्तर भलाईसे दो अथवा सहन करो और मौन हो जाओ; क्योंकि बुराईका उत्तर बुराईसे देना पशुता है। -संतपत्रावली 1/165

14. बुराईको बुराई जानकर न करना और भलाईको भलाई जानकर करना साधन है। परन्तु किसी भी प्रलोभनसे प्रेरित होकरकी हुई भलाई और किसी भयसे भयभीत होकर त्यागी हुई बुराई वास्तवमें साधनके रूपमें असाधन है। -सत्संग और साधन 46

15. जो किसीके साथ बुराई नहीं करता, उसका भला अपने-आप हो जाता है। -दर्शन और नीति 87

16. प्राकृतिक नियमानुसार किसीको भला बनानेका उपाय है –उसके प्रति भलाई करना, उसे बुरा न समझना, उसका बुरा न चाहना और उसके प्रति किसी प्रकारकी भी बुराई न करना। -मानवताके मूल सिद्धान्त 42

17. यह नियम है कि जो अपनेको धोखा नहीं देता, वह दूसरोंको धोखा दे ही नहीं सकता अर्थात् जो बुराई प्राणी अपने प्रति करता है, वही दूसरोंके प्रति भी करता है। इतना ही नहीं, यदि हम अपने प्रति कोई बुराई न करें तो दूसरोंकी की हुई बुराईका प्रभाव हमपर हो ही नहीं सकता। -चित्तशुद्धि 316

18. प्राकृतिक नियमके अनुसार कोई किसीके साथ भलाई तथा बुराई करे तो उसका प्रभाव सारे विश्वके साथ हो जाता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्तिका प्रभाव अखिल लोक-लोकान्तरतक पहुँचता है; क्योंकि सब कुछ किसी एकसे ही सत्ता पाकर एकमें ही स्थित है अर्थात् सबका प्रकाशक एक ही है, जो अनन्त है। प्राणी जो कुछ करता है, वह उसीके प्रति होता है और उसकी प्रतिक्रिया भी उसीसे होती है। -चित्तशुद्धि 319

19. अपने प्रति होनेवाली बुराईका ज्ञान यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति बुराईको बुराई जानता है। -चित्तशुद्धि 362

20. बुराईका त्याग होनेपर अच्छाई उत्पन्न होती है। अच्छाई किसीसे सीखी नहीं जाती। -सन्त-समागम 1/170

21. बड़ी-से-बड़ी अच्छाई अभिमान आनेपर बुराईमें बदल जाती है। -सन्त-समागम 2/142

22. जानी हुई बुराई छोड़ दो तो तुम्हें सब कुछ मिलेगा –शान्ति, मुक्ति, भक्ति। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 47

23. बुराई करनेके लिये हमें अपनेको स्वयं बुरा बनाना पड़ेगा। किसीकी की हुई बुराईसे हमारी उतनी क्षति नहीं हो सकती, जितनी स्वयंको बुरा बनानेसे होती है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 42

24. अच्छाई जो है, वह दैवी है, वह मनुष्यकृत नहीं है। बुराई मनुष्यकी भूलसे होती है। -संतवाणी 8/63

25. बुरा कहलानेका भय और सज्जन कहलानेका प्रलोभन जबतक रहेगा, तबतक चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। यदि बुराई हो तो उसका त्याग करना है। हमें कोई बुरा न समझे –इससे हम भले हो नहीं जाते। भले तो बुराईके त्यागसे ही हो सकते हैं। -चित्तशुद्धि 31

26. सबसे बड़ा आदमी, जिसको सुपरमैन, अतिमानव कहें, कौन है ? जिसके जीवनमें किसी प्रकारकी बुराई नहीं है, वह सबसे बड़ा आदमी है। किसके जीवनमें बुराई नहीं होती ? जो सचमुच कभी किसीसे कुछ नहीं चाहता। -संतवाणी 7/32

भक्त

1. भक्त वह है, जो केवल भगवान्‌को ही अपना मानता है। भगवान् मिलें, न मिलें, उनकी इच्छा। उनसे कुछ लेना नहीं है। केवल भगवान्‌को अपना मान लेना ही भगवान्‌को प्रिय है। शान्ति, मुक्तिसे भी बढ़कर भक्ति है। –संत-उद्‌बोधन 112

2. भक्त वह बनता है, जो जीवन्मुक्तिको ठुकरा देता है। –संतवाणी 4/207

3. भक्ति स्वतन्त्र इसलिये है कि जगत्‌का आश्रय उसे नहीं चाहिये। भगवान्‌से भी उसे कुछ नहीं चाहिये। –संत-उद्‌बोधन 142

4. आत्मीयता वही कर सकता है, जो भोग और मोक्षको फुटबाल बनाकर ठुकरा दे। –जीवन-पथ 112

5. प्रेम भी भिन्नसे नहीं होता और मुक्तिमें भिन्नका अस्तित्व ही नहीं रहता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ वास्तविक मुक्ति है, वहीं पूर्ण भक्ति है। –मानवकी मांग 124

6. जिसमें अनन्त सौन्दर्य हो, अनन्त ऐश्वर्य हो, अनन्त माधुर्य हो, उसको रस देनेके लिये किसी गुण-विशेषकी अपेक्षा नहीं होती। केवल इस बातकी अपेक्षा होती है कि वे हमको प्यारे लगें। और किसीको प्यारा लगनेके लिये इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है कि हम उसे अपना मानें। –जीवन-पथ 122

7. भक्ति और मुक्तिका विभाजन नहीं हो सकता। कारण कि जो मुक्त है, वही भक्त हो पाता है और जो भक्त है, वही संसारसे मुक्त है। शरीर और संसारसे मुक्त हुए बिना क्या कोई केवल प्रभुको अपना मान सकता है और क्या प्रभुका होकर रह सकता है ? कदापि नहीं। –संत-उद्‌बोधन 126

8. सिद्धान्त तो यह है कि चाहे मुक्त होकर भक्त हो अथवा भक्त होकर मुक्त हो, वास्तविक प्रेमी न तो भोग चाहता है और न मोक्ष। –मानवकी मांग 128

9. भक्तकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवा और किसीकी सत्ता नहीं रहती। वह सोचता है कि आज हमारे मनकी बात नहीं हुई तो इसका अर्थ है कि वह भगवान्‌के मनकी हुई। –सन्त-समागम 2/79

10. जिसको भगवान्‌का होकर रहना है, उसके लिये भक्त होना अनिवार्य है। यह नियम है कि जो जिसका भक्त हो जाता है, उसको उसके बिना कल नहीं पड़ती। उसमें स्वाभाविक व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। –सन्त-समागम 2/104

11. भक्त तथा जिज्ञासु वर्ण-आश्रममें होते हुए भी वास्तवमें वर्ण-आश्रमसे अतीत ही होते हैं। –सन्त-समागम 2/55

12. जब प्राणी संसारसे विभक्त हो जाता है, तब वह भक्त अपने-आप हो जाता है। –सन्त-समागम 2/150

13. भक्तके हृदयमें जैसी रुचि विद्यमान है, उसके अनुरूप भगवान्‌का प्राकट्य अपने-आप होगा। भक्तका केवल यही परम धर्म है कि वह सद्‌भावपूर्वक उनका हो जाय। –सन्त-समागम 2/151

14. अपनत्वका बल सभी बलोंसे श्रेष्ठ है। अपनत्व हो जानेपर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। अपनत्वका हो जाना ही भक्तिकी दृष्टिसे परम पुरुषार्थ है। –सन्त-समागम 2/158

15. सच्चा भक्त वही है, जो केवल अपने प्रेमपात्रके अतिरिक्त अन्य किसीकी ओर नहीं देखता; क्योंकि भक्तकी दृष्टिमें सृष्टि नहीं रहती, अर्थात् भक्तके हृदयमेंसे संसारके सभी सम्बन्ध मिट जाते हैं। –सन्त-समागम 2/318

16. जो साधक सुने हुए प्रभुको अर्थात् जिसे इन्द्रिय-दृष्टिसे, बुद्धि-दृष्टिसे नहीं देखा है, केवल अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासके आधारपर अपना मान लिया है, उसमें जो आत्मीयता स्वीकार कर ली है, यह मान लिया है कि वे अपने हैं –इसीका नाम 'भक्ति' है। –संतवाणी 5/100

17. जिसको लोग मुक्ति कहते हैं, वह भक्तिका सहयोगी साधन है। –संतवाणी 5/101

18. भक्तका अर्थ यह नहीं है कि भक्तको भगवान्‌से कुछ लेना है। जिसे भगवान्‌से कुछ लेना है, वह तो भक्त है ही नहीं। –संतवाणी 5/104

19. प्रभुको अपना वह मानता है, जिसको भोग और मोक्ष नहीं चाहिये। –संतवाणी 5/111

20. भक्त होनेपर भक्ति आयेगी; क्योंकि अहंताके अनुरूप प्रवृत्ति होती है। –सन्त-समागम 2/275

21. भक्तके जीवनमें भय तथा चिन्ताके लिये कोई स्थान नहीं है। –सन्त-समागम 2/293

भय

1. प्राकृतिक नियमानुसार भयभीत उन्हींको होना पड़ता है, जो अपनेसे निर्बलोंको भय देते हैं। -संत-उद्‌बोधन 106

2. भयभीत प्राणी ही दूसरोंको भयभीत करता है। जो अभय हो जाता है, वह किसीको भयभीत नहीं करता। -सफलताकी कुंजी 103

3. अनादरका भय जीवनमें तभीतक बना रहता है, जबतक हम अपनी दृष्टिमें आदरके योग्य नहीं होते। -मानवकी मांग 207-208

4. भय तथा चिन्तामें आबद्ध प्राणीका विकास नहीं होता, यह प्राकृतिक विधान है। -मूक सत्संग.69

5. चिन्तित तथा भयभीत होनेसे साधककी बड़ी ही क्षति होती है; कारण कि चिन्ता और भयसे प्राप्त सामर्थ्यका ह्रास होता है। -पाथेय 285

6. मानव स्वभावसे ही अभय होनेकी आवश्यकताका अनुभव करता है; किन्तु पराधीनताको पसन्द करनेसे निर्भय हो नहीं पाता। -सफलताकी कुंजी 117

7. किसी भयसे दोषका ऊपरसे त्याग भले ही हो जाय, दोष-जनित सुखका राग नाश नहीं होता। उसीका परिणाम यह होता है कि किसीको भय देकर निर्दोष नहीं बनाया जा सकता। कारण कि भय स्वयं ही एक बड़ा दोष है। -दर्शन और नीति 13

8. यह प्राकृतिक नियम है कि जो किसीको भी भय देता है अथवा दबाता है, उसे स्वयं भी भयभीत होना पड़ता है और उसकी विरोधी शक्ति उसे अवश्य दबाती है। -चित्तशुद्धि 157

9. प्रलोभनके रहते हुए भय-रहित होना असम्भव है; क्योंकि प्रलोभन उस परिस्थितिसे सम्बन्ध जोड़ देता है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। -चित्तशुद्धि 385

10. सुखकी आशामें दुःखका भय निहित है। -चित्तशुद्धि 389

11. जब व्यक्ति यह स्वीकार कर लेता है कि जो कुछ हो रहा है, वह मंगलमय विधानसे हो रहा है, तब प्रत्येक परिस्थितिमें वह निश्चिन्त तथा निर्भय रहता है। -चित्तशुद्धि 447

12. संसारका भय उसी समयतक जीवित रहता है, जबतक अपनी पूर्तिके लिये संसारकी आवश्यकता होती है। -सन्त-समागम 2/196

13. जो अपनेसे निर्बलको भयभीत नहीं करता, उसे अपनेसे सबलका भय कभी नहीं होता; क्योंकि प्राकृतिक विधानके अनुसार व्यक्ति जो देता है, वही पाता है। -सन्त-समागम 2/224

14. संयोगका रस वियोगका भय उत्पन्न करता है। -सन्त-समागम 2/264

15. दुःख डरनेसे दूना और न डरनेसे आधा रह जाता है। -सन्त-समागम 2/307

16. देहाभिमानमें ही समस्त भय निहित हैं। -साधन-तत्त्व 103

17. ममता छोड़नेसे भयका और कामना छोड़नेसे दरिद्रताका नाश हो जाता है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 81

18. भय तो उसको होता है, जो शरीर और संसारपर विश्वास करता है एवं जिसके पास कुछ होता है। जिसके पास अपना कुछ भी नहीं होता, जो सर्वस्व भगवान्‌को सौंप चुका है, उसको भय क्यों होगा ? -संत-सौरभ 76

19. जो यह अनुभव करता है कि संसारमें मेरा कुछ है, वह कभी भी अभय नहीं होगा; उसे तो भय लगा ही रहेगा। जिसने यह स्वीकार कर लिया कि प्रभु मुझमें है, मेरा है, अभी है, उसको भय नहीं होगा। जिसके पास कुछ भी नहीं है, उसको भी भय नहीं होगा; क्योंकि उसके पास कुछ भी नहीं है और उसको कुछ चाहिये भी नहीं। जिसे कुछ नहीं चाहिये, उसे कहाँसे भय होगा ? -संतवाणी 7/95

20. अन्यायकर्ता कितना ही सबल हो, उससे भयभीत नहीं होना है। उसके प्रस्तावको स्वीकार नहीं करना है। यहाँतक कि प्रसन्नता और धीरजपूर्वक अपने प्राणोंतककी आहुति देकर अन्यायकी अस्वीकृतिका परिचय देना है। -दर्शन और नीति 70

21. जब जीवनमें सुखका प्रलोभन नहीं रहता, तब दुःखका भय भी नहीं रहता। -संतवाणी 6/7

भोजन

1.. कुछ महानुभाव जिनसे भोजन बनवाते हैं, उनको (नौकर आदिको) अपने-जैसा भोजन नहीं खिला पाते। भोजन बनानेवालेके मनमें भोजन-पान आदि करनेका रस प्रायः बना रहता है; किन्तु उसे मिलता है नहीं। अतः उस भोजनमें मानसिक दोष आ जाता है। ऐसा भोजन करनेसे मानसिक अवनति होती है। नौकरसे भोजन उनको बनवाना चाहिये, जो अपने समान उसे भी खिला सकें, नहीं तो अपने घरके ही लोगोंसे बनवाना चाहिये, जिससे भोजनमें मानसिक अपवित्रता न आने पावे। भोजन बनाने के लिये वही उचित होता है, जिसका हृदय माताके समान विशाल हो। -सन्त-समागम 1/116

2. जो भोजनका संयम नहीं कर सकता, वह वीर्य-रक्षा नहीं कर सकता। -सन्त-समागम 1/116

3. ब्रह्मचर्य पालनेके लिये अस्वाद-व्रत परम अनिवार्य है। रसना-इन्द्रियपर विजय प्राप्त करनेसे वीर्य-रक्षामें सुविधा होती है। वास्तवमें सर्व इन्द्रियोंका ब्रह्मचर्य ही 'ब्रह्मचर्य' है। अनावश्यक चेष्टाओंका निरोध करनेसे ब्रह्मचर्यव्रत स्वाभाविक हो जाता है।

-संतपत्रावली 1/178

4. रुचिकर और सुखकर भोजनमें केवल इतना अन्तर है कि रुचि षट्रसोंमेंसे किसी रस-विशेषकी होती है और सुखकर भोजनमें वस्तु-विशेषका आग्रह होता है। रुचिकर आहार शरीरकी माँग है और सुखकर आहार स्वादकी आसक्ति है।

-मानवताके मूल सिद्धान्त 73

5. भोजन वास्तवमें यज्ञ है, उपभोग नहीं। -मानवताके मूल सिद्धान्त 74

6. भोजन उन्हीं लोगोंका बनाया हुआ स्वास्थ्यकर होता है, जिनसे कर्म, विचार तथा स्नेहकी एकता हो।

-मानवताके मूल सिद्धान्त 75

7. भोजनकी उत्पत्ति तथा उसके पचानेका सम्बन्ध सूर्यसे है। इसी कारण दिनके दूसरे पहरके भीतर और रात्रिके प्रथम पहरमें भोजन करना हितकर होता है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 75

8. खाद्य पदार्थोंमें कुछ वस्तुएँ ऐसी हो सकती हैं, जो स्थूलशरीरके लिये तो उपयोगी हों, किन्तु सूक्ष्मशरीरके लिये हानिकर हों। .... अतः आहारका सम्बन्ध केवल शरीरके अंगोंको हृष्ट-पुष्ट करना ही नहीं है, अपितु इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको भी स्वस्थ रखना है। वह तभी सम्भव होगा, जब उस आहारका, जो सूक्ष्मशरीरके लिये हितकर नहीं है, त्याग कर दिया जाय। क्षोभ, असहनशीलता आदि दोषोंका सम्बन्ध सूक्ष्मशरीरके अस्वस्थ होनेसे ही है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 73

मन

1. जगत्‌में जो प्रभुका दर्शन नहीं कर सकता, उसका मन संसारसे कभी नहीं हट सकता। -संतवाणी 7/188

2. जबतक हम जगत्‌में प्रभुका दर्शन नहीं कर सकते अथवा यों कहो कि प्रत्येक वस्तुमें प्रभुका दर्शन नहीं कर सकते, तबतक सदाके लिये मन भगवान्‌में लग जाय, यह बात कभी भी सिद्ध नहीं होती। -संतवाणी 7/188-189

3. मनमें कोई खराबी होती ही नहीं है। अपनी खराबी ठीक करो, मन ठीक हो जायगा। -संत-उद्‌बोधन 15

4. अपनेको देह मानकर कभी भी किसीका मन संसारसे अलग नहीं हो सकता। -संत-उद्‌बोधन 124

5. यह तो हमारेमें सुख-भोगकी जो रुचि है, उसीका नाम 'मन' रख दिया है। -संत-उद्‌बोधन 139

6. जो वस्तु हमको रुचिकर होगी, जिसको हम पसन्द करेंगे, चाहेंगे, मन उसीका चिन्तन करेगा। यानी जहाँ हमारी आवश्यकता होगी, मन वहीं जायगा। -संत-उद्‌बोधन 139

7. मन कर्ता नहीं, करण है। गुण-दोष जो होते हैं, वे सब कर्तामें होते हैं, करण तो केवल उनको दिखा देता है।.....मन भी एक दर्पण अथवा थर्मामीटरके समान है। वह तो हमारी असलियतको बताता है। -संत-उद्‌बोधन 139

8. यदि मनको भगवान्‌में लगाना चाहते हो, तो भगवान्‌के होकर रहो। भगवान्‌के सिवाय और कुछ भी पसन्द मत करो, और कुछ भी मत चाहो। देखो, फिर मन भगवान्‌में लगता है या नहीं। -संत-उद्‌बोधन 139

9. यदि हम सब कुछको नापसन्द करके केवल भगवान्‌को ही पसन्द कर लें, और कुछ न चाहकर लेवल भगवान्‌को ही चाहने लग जायें, तो फिर हमारा मन स्वतः भगवान्‌में लग जायगा, हटानेसे भी नहीं हटेगा। -संत-उद्‌बोधन 140

10. यदि विवेकपूर्वक अपनेको देह न स्वीकार किया जाय, तो मन स्वभावसे ही चिन्तन-रहित होकर उस चेतनमें विलीन हो जाता है, जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूपकी एकता है। -संत-उद्‌बोधन 168

11. प्रेमी और तत्त्वज्ञ दोनों ही बेमनके हो जाते हैं; कारण, उनके पास अपना मन नहीं रहता। -मानवकी मांग 203

12. जबतक लेशमात्र भी संसार सुखरूप, सत्यरूप और सुन्दर मालूम होता है, तबतक समझना चाहिये कि अभी इस अभागे मनमें सत्यकी तलाश नहीं हुई। -संतपत्रावली 1/15

13. जबतक कोई भी अपनेसे कम मालूम पड़े, तबतक समझना चाहिये कि मन शुद्ध नहीं हुआ। मन शुद्ध होनेपर गुणहीन पुरुषके प्रति भी आदरके भाव होते हैं, जिस प्रकार सूर्य मल-मूत्रको भी अपना प्रकाश देता है। -संतपत्रावली 1/38

14. अब तुम्हारा मन तुम्हारा नहीं है। अतः उसकी ओर कभी न देखो। न उसके पीछे दौड़ो और न उसको दबाओ। न उसके संकल्पोंको देखो। जब तुम उसकी ओर न देखोगी, तब वह विवश होकर खुद तुम्हारे प्यारेकी प्रीति बन जायगा, जो वास्तवमें तुम्हारी वास्तविक सत्ता है –प्रीति। -पाथेय 35

15. कार्यकी अधिकतासे स्वास्थ्यपर प्रभाव हो सकता है, पर मानसिक स्थितिमें कोई विकृति नहीं होनी चाहिये। मानसिक विकृतिका मूल कारण पराधीनता है अर्थात् जिसकी प्रसन्नता किसी औरपर निर्भर हो जाती है, उसीके मनकी स्थितिमें क्षोभ उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे मानसिक संतुलन नहीं रहता और फिर मस्तिष्कमें अनर्गल ख्याल उठते रहते हैं। -पाथेय 69

16. जबतक हम अपना मन अपने ही पास रखना चाहते हैं, तबतक राग तथा क्रोध आादि दोषोंसे नहीं बच सकते। कारण कि जिनके द्वारा हमारे मनकी बात पूरी होगी, उनसे राग हो जायगा और जो मनकी बात पूरी होनेमें बाधक होंगे, उनपर क्रोध आ जायगा। -जीवन-दर्शन 87

17. जबतक हम केवल अपने ही मनकी बात पूरी करते रहेंगे, तबतक कर्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकेंगे। -जीवन-दर्शन 88

18. चित्तकी चंचलता तथा मलिनताका बोध चित्तकी एकाग्रता तथा निर्मलताका साधन है; क्योंकि जिस ज्ञानसे चित्तके विकारोंका बोध होता है, उसी ज्ञानमें चित्तको निर्विकार बनानेका सामर्थ्य विद्यमान है; क्योंकि वह ज्ञान जिसकी देन है, वह सर्वसमर्थ है। -चित्तशुद्धि 15

19. चित्तमें अशुद्धि सामर्थ्यके दुरुपयोगसे आती है और शुद्धि स्वाभाविक है। -चित्तशुद्धि 18

20. चित्त स्वरूपसे अशुद्ध नहीं है, अपितु व्यक्ति अपनी बनाई हुई अशुद्धिको चित्तकी अशुद्धि मान लेता है और फिर चित्त व्यक्तिके अधीन नहीं रहता। उस स्थितिमें व्यक्ति चित्तकी निन्दा करने लगता है और इस बातको भूल जाता है कि मेरा ही दोष चित्तमें प्रतिबिम्बित हो रहा है। -चित्तशुद्धि 145

21. चित्त स्वरूपसे अशुद्ध नहीं है। कारण कि चित्त स्वयं कर्ता नहीं है। -चित्तशुद्धि 457

22. जबतक प्राणीको चित्त-जैसी कोई वस्तु भासित होती है, तबतक चित्तमें कोई-न-कोई अशुद्धि है। जब चित्त सर्वांशमें शुद्ध हो जाता है, तब उसका भास नहीं होता। -चित्तशुद्धि 418

23. साधक असावधानीके कारण स्वयं तो माने हुए सम्बन्धोंका त्याग नहीं करता, जिस अनन्तसे नित्य सम्बन्ध है, उसको स्वीकार नहीं करता और चित्तसे यह आशा और करता है कि वह कहीं न भटके, एक ही में लगा रहे ! भला इसमें चित्तका क्या दोष है ? -चित्तशुद्धि 157-158

24. कर्मेन्द्रिय क्रियाशक्तिका भाग है और ज्ञानेन्द्रिय इच्छाशक्तिका भाग है। मनमें ये दोनों भाग एकत्रित रहते हैं। क्रियाशक्ति प्राणका भाग है और इच्छाशक्ति ज्ञानका भाग है। मन इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिका समूह है। इसी कारण प्राणके निरोधसे मन में स्थिरता और मनके निरोधसे प्राणका निरोध हो जाता है। प्राण और मनमें बड़ी ही घनिष्ठ एकता है। बुद्धि केवल ज्ञानका प्रतीक है, इसी कारण बुद्धिका निर्णय मनको मान्य होता है। -चित्तशुद्धि 396

25. कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों मनमें एक हो जाती हैं, इसीलिये मनमें क्रिया और ज्ञान दोनों ही मालूम होते हैं। मनमें जो ज्ञानशक्ति है, वह बुद्धिका अंग है और जो क्रियाशक्ति है, वह प्राणका अंग है। -सन्त-समागम 1/54

26. जिनसे द्वेष है, उनसे प्रेम करो। जिनसे राग है, उनका त्याग करो। ऐसा करनेसे मन शान्त हो जायगा। -सन्त-समागम 1/105

27. भाव तथा विचारकी प्रबलतासे मनका निरोध सुगमतापूर्वक होता है। प्राणायाम आदिकी आवश्यकता भावकी कमी होनेपर होती है। -सन्त-समागम 1/174

28. जपसे मनका निरोध नहीं होता, बल्कि मनकी सफाई होती है। -सन्त-समागम 1/186

29. क्रियाजन्य निरोध किसी प्रकारकी शक्ति देनेवाला अवश्य है, पर शान्ति देनेमें असमर्थ है। असंगतापूर्वक स्वाभाविक निरोध शक्ति तथा शान्ति दोनोंके लिये समर्थ है। -सन्त-समागम 1/197

30. हठयोग तथा राजयोगमें केवल यही अन्तर है कि हठयोग प्रथम प्राणका निरोध करनेका प्रयत्न करता है, तथा राजयोग प्रथम मनका। मनके निरोधसे प्राणका निरोध अपने-आप हो जता है और प्राणके निरोधसे मन दब जाता है।.......मनका निरोध होनेपर छिपी हुई शक्तियोंका विकास होने लगता है। -सन्त-समागम 2/153

31. जबतक प्राणी अपनी प्रसन्नताके लिये अपनेसे भिन्नकी खोज करता है, तबतक मनमें स्थायी स्थिरता नहीं आती। -सन्त-समागम 2/299

32. अकेला मन वास्तवमें कभी होता नहीं; क्योंकि मनका जन्म ही तब होता है, जब किसी-न-किसी प्रकारकी वासना उत्पन्न हो जाती है। -सन्त-समागम 2/314

33. मनमें निर्मलता आ जानेपर स्थिरता आ जाती है। -सन्त-समागम 2/319

34. मन दर्पणकी भाँति अपनी दशाका यथार्थ ज्ञान कराता है। अतः उसे बुरा समझना या उसकी निन्दा करना उचित नहीं है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 13

35. संसारसे हटा लेनेपर भगवान्‌में मन अपने-आप लग जायगा। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 21

36. मनुष्य स्वयं अलग रहकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको भगवान्‌में लगाना चाहता है, भूल यहींसे होती है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 22

37. भगवान्‌में आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता करनेपर उनमें प्रीति होगी, तब प्रभुकी स्मृति जगेगी और सहज ही प्रभुमें मन लग जायगा। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 52

38. जबतक हम संसारकी ममता, आसक्ति और कामनाओंका त्याग नहीं करेंगे, तबतक संसार हमारी छातीपर चढ़ा ही रहेगा। हम चाहेंगे चिन्तन करना भगवान्‌का, होगा संसारका। हाथमें माला व मुखसे नाम लेते रहनेपर भी मन संसारमें भटकता रहेगा। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 52

39. मनको जहाँ लगाना चाहते हैं, उसे पसन्द कर लें और जहाँसे हटाना चाहते हैं, उसे नापसन्द कर दें। मनकी चंचलताका भास तभी मिलता है, जब हम पसन्द तो संसारको करते हैं और मन भगवान्‌में लगाना चाहते हैं। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 102

40. स्वप्नमें मनका जैसा स्वरूप है, वैसा सामने आ जाता है। -संत-सौरभ 150

41. संसारके सम्बन्धका जो प्रभाव है, सच पूछो तो उसीका नाम मन है। मन कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। -संतवाणी 7/110

42. वास्तवमें तो भलाई और बुराई कर्त्तामें होती है, करणमें नहीं होती। जब करणमें नहीं होती, तब मन कर्त्ता है ही नहीं, वह तो करण है। जब मन कर्त्ता है ही नहीं, तब हम और आप किस न्यायसे, किस ईमानदारीसे अपने मनको भला और बुरा बतलाते हैं ? हम भले होते हैं, मन भला होता है। हम बुरे होते हैं, मन बुरा होता है। -संतवाणी 4/131

43. यदि परमात्माको तुम अपना मान लो, उनसे सम्बन्ध जोड़ लो तो तुम्हारा मन स्वतः परमात्मामें लग जायगा। -सन्त-जीवन-दर्पण 58

44. श्रीकृष्णमें यही तो चमत्कार है कि वे सबके मनको स्वयं खींचते हैं, यह नहीं कि मनको लगाना पड़े। वे अपने-आप खींच लेते हैं; किन्तु कब ? जब उन्हें कोई अपना मान ले, तब। -संतवाणी 3/3

ममता

1. ममताके नाशसे समताकी अभिव्यक्ति स्वतः होती है। -जीवन-पथ 115

2. सेवा करना और अपना न मानना –इससे ममता-नाश हो जाती है। -साधन-त्रिवेणी 66

3. जिस वस्तुको हम अपना मान लेते हैं, वह दूर हो या समीप, उससे संयोग सिद्ध हो जाता है। -मानवकी मांग 70

4. किसीको अपना न मानना अथवा सभीको अपना मानना एक ही बात है। इसी कारण विचारशील व्यक्ति सुखभोगके लिये किसीको अपना नहीं मानते, और सेवा करनेके लिये सभीको अपना मानते हैं। -मानवकी मांग 116

5. शरीर सृष्टिरूपी सागरकी एक बूँदके तुल्य है। जब सागर व्यक्तिगत नहीं है तो भला उसकी बूँद अपनी कैसे हो सकती है ? अतः शरीरकी ममता भी भूल ही है। -मानव-दर्शन 25

6. असत्‌की ममताके समान और कोई जड़ता नहीं है, और सत्‌की जिज्ञासाके तुल्य और कोई सजगता नहीं है। -मानव-दर्शन 46

7. जो कभी है, कभी नहीं है, उसका सदुपयोग कर सकते हैं, उसकी सेवा कर सकते हैं; किन्तु उसको अपना नहीं मान सकते। -मानव-दर्शन 73-74

8. मिली हुई वस्तुओंमें ममता करना और दाताको अपना न मानना, यह कहाँतक न्याययुक्त है ? -मानव-दर्शन 94

9. ममता मिले हुए ज्ञानके अनादरसे उत्पन्न होती है, प्राकृतिक दोष नहीं है। -साधन-निधि 8

10. ममता तो साधकको सेवासे विमुख ही करती है। शरीरकी ममता परिवारके हितसे, परिवारकी ममता समाजके हितसे, समाज की ममता देशके हितसे, और देशकी ममता विदेशके हितसे विमुख कर देती है। -साधन-निधि 9

11. ममता जिसमें उत्पन्न होती है और जिसके प्रति होती है, दोनों ही के लिये अहितकर है। -साधन-निधि 10

12. यह प्राकृतिक नियम है कि जो अपनी नहीं है, वह अपने लिये भी नहीं है। अपना ही अपने लिये होता है। -साधन-निधि 54

13. मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, यह निर्णय मानवको अपने ही द्वारा करना है। -मूक सत्संग.77

14. प्राप्त वस्तु आदिकी ममता ही अप्राप्तकी कामनाको जन्म देती है और कामनायुक्त मानव ही अहंकृतिमें आबद्ध होता है। -मूक सत्संग.140-141

15. सर्वांशमें ममताका नाश होनेपर कामनाका नाश और कामनाओंके नाशमें ही तादात्म्यका नाश निहित है। -मूक सत्संग.215

16. किसी भी वस्तुको बिगाड़नेका तथा उसको अपना समझनेका किसीको लेशमात्र भी अधिकार नहीं है। -संतपत्रावली 1/152

17. जब तुम अपनेमें अपना कुछ न पाओगी, तब सब कुछ स्वतः हो जायगा। -पाथेय 3

18. जिस वस्तुसे अपनी ममता हट जाती है, वह वस्तु अपने-आप प्रेमास्पदकी सेवाके योग्य बन जाती है; क्योंकि सभी निर्बलताएँ तथा अपवित्रताएँ ममताकी मलिनतासे उत्पन्न होती हैं। -पाथेय 35

19. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समष्टि शक्तियाँ हैं। उनमें ममता कर लेना ही उन्हें दूषित करना है, और उनकी ममतासे रहित हो जाना ही उनको शुद्ध करनेका सुगम, सहज तथा अन्तिम उपाय है। -संतपत्रावली 2/50

20. शान्त तथा मौन होकर एकान्तमें अपने ही द्वारा स्वयं निज ज्ञानके प्रकाशमें अनुभव करो कि किसी भी कालमें मेरा कुछ नहीं है। सर्वांशमें ममताका नाश होते ही निष्काम तथा असंग होनेकी सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। -संतपत्रावली 2/149

21. 'मेरा कुछ नहीं है' –यह ज्ञान 'पर' और 'स्व' में विभाजन कर देता है, जिसके होते ही चिन्मय अविनाशी जीवनसे स्वतः एकता होती है। -संतपत्रावली 2/167

22. जिस वस्तुके प्रति अपनी ममता रहती है, उसमें अनेक दोष आ जाते हैं। ममता करनेयोग्य तो केवल वे ही हैं। -पाथेय 47

23. प्राणी अपनेको देह मानकर ही किसी शरीरके प्रति ममता कर बैठता है, जो वास्तवमें प्रमाद है। अनन्तमें देह और देहीका विभाजन नहीं है। जिसमें देह-देहीका विभाजन नहीं है, उसीमें अपनी ममता करनी है अर्थात् उसीको अपना मानना है और सर्वदा उसीकी प्रीति होकर रहना है। -पाथेय 97

24. जिनसे हमारी ममता होती है, क्या उनका विकास हो सकता है ? कदापि नहीं। -जीवन-दर्शन 141

25. ममता-रहित उदारता भी त्यागको पोषित करती है। परन्तु ममतायुक्त उदारता देनेवालेमें अभिमान और लेनेवालेमें लोभ तथा अधिकार-लालसाको जन्म देती है। -पाथेय 126-127

26. ममताके नाशके लिये ही 'सेवा' की जाती है, और 'अहं' तथा 'मम' का अन्त करनेके लिये ही 'त्याग' अपनाया जाता है। -पाथेय 127

27. ममता करनेमात्रसे शरीरका कोई हित नहीं होता और ममताके त्यागसे कोई अहित नहीं होता। इतना ही नहीं, ममता किसी वस्तुको सुरक्षित भी नहीं रख सकती। -जीवन-दर्शन 96

28. यदि हमने 'शरीर' को अपना न माना होता तो कभी कामकी उत्पत्ति न होती; 'मन' को अपना न माना होता तो कभी अशुद्ध संकल्प उत्पन्न न होते और 'बुद्धि' को अपना न माना होता तो कभी विवेकका अनादर न होता। -जीवन-दर्शन 142

29. जबतक हम किसीसे ममता नहीं करते, तबतक कामनाओंका जन्म ही नहीं होता। देहको अपना माननेपर ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। -जीवन-दर्शन 216

30. जिनसे ममता है, उनके अधिकारकी रक्षा करनेसे ही उनके प्रति रागकी निवृत्ति हो सकती है और अपने अधिकारके त्यागसे ही उनसे असंगता हो सकती है। -जीवन-दर्शन 250

31. यह नियम है कि जिससे अपनी ममता न हो और जिसका उपयोग सभीके हितमें हो, उसको सभी अपना मान लेते हैं। अतः जब हमारी देहमें ममता न रहेगी और देहका उपयोग सभीके हितमें होगा, तब सभी उस देहको अपने देहके समान सुरक्षित रखनेका प्रयत्न करेंगे। उस समय लेना भी देना बन जायगा। देह आदि वस्तुओंसे ममता करके देना भी लेना हो जाता है।

-जीवन-दर्शन 252

32. वस्तुओंकी ममता अपनेको संग्रही बनाती है और समाजमें दरिद्रता उत्पन्न करती है, जो विप्लवका हेतु है। व्यक्तियोंकी ममता अपनेको मोही बनाकर आसक्त कर देती है और जिनसे ममता की जाती है, उनमें अधिकार-लालसा जाग्रत् करती है।

-जीवन-दर्शन 300

33. किसीको भला और बुरा मानकर उसकी ममता मिटाना सम्भव नहीं है। ममता उसीकी मिट सकती है, जिसको भला अथवा बुरा न मानें। किसीको भला-बुरा समझना उससे सम्बन्ध जोड़ना है। -दर्शन और नीति 95

34. जबतक प्राणी अपनेको व्यक्तित्व, कुटुम्ब, वर्ग, जाति और देशकी ममतामें आबद्ध रखता है, तबतक उसका जीवन विश्वके लिये उपयोगी सिद्ध नहीं होता। -दर्शन और नीति 100

35. शरीरकी ममताने विश्वकी आत्मीयताका हनन किया है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ है कि प्रीतिकी एकतापर दृष्टि नहीं रही। -दर्शन और नीति 110

36. जिस वस्तुसे ममता नहीं रहती, वह अनन्तको समर्पित हो जाती है। यह नियम है कि जो वस्तु अनन्तको समर्पित हो जाती है, वह अनन्तकी कृपा-शक्तिसे स्वतः शुद्ध हो जाती है। -चित्तशुद्धि 60

37. जो अपने ही हैं अथवा जो अपनेसे भिन्न नहीं हैं, उनसे 'प्रेम' हो सकता है; और जिनसे मानी हुई एकता है अथवा जो अपनेसे भिन्न हैं, उनकी 'सेवा' की जा सकती है, उनसे ममता नहीं की जा सकती। -चित्तशुद्धि 149

38. अहंताशून्य ममता नहीं होती। -सन्त-समागम 2/162

39. जिन-जिन वस्तुओंको आप अपना न समझेंगी, वे स्वयं पवित्र होकर भगवान्‌की सेवाके योग्य बन जायँगी, यह परम सत्य है।

-सन्त-समागम 2/309

40. जबतक तुम लेशमात्र भी उन सभी सम्बन्धियोंको अपना समझोगी, तबतक उनका सुधार कदापि नही हो सकता।

-सन्त-समागम 2/317

41. ममता सुख लेनेका एक उपायभर है। जिससे जितना अधिक सुख लोगे, उससे ममता तोड़ना उतना ही कठिन होगा।

-सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 24

42. ममताका त्याग करना होगा, जिज्ञासाकी पूर्त्ति विधानसे होगी और प्रियता प्रभु-कृपासे मिलेगी। कर्तव्य न आत्माका है, न ईश्वरका। वह तो आपका है और उसका मूल तन्त्र है –ममताका त्याग। ममताका नाश करनेपर ही हम दूसरा कार्य आरम्भ करेंगे। तभी साधन है और तभी सत्संग है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 107-108

43. संसारमें मेरा कुछ नहीं है –ऐसे निर्मम होनेसे तुम्हारे ऊपर संसारका कोई टैक्स नहीं रहेगा। जिसके पास कुछ नहीं, उसपर कोई टैक्स होता है क्या ? -संतवाणी 8/119

44. जिससे जातीय एकता नहीं है, उसकी सेवा की जा सकती है। उससे ममता नहीं की जा सकती। -संतवाणी 7/161

45. आजकल लोग क्या कहते हैं ? ममता कैसे छूटेगी, कामना कैसे मिटेगी ? अजी, ममता अगर अपने-आप छूटती, तो होती ही नहीं। क्यों ? जो चीज आपने बनायी है, उसको कोई और नहीं मिटा सकता। -संतवाणी 6/15-16

46. सोचने लगते हैं कि किसी पोथीको पढ़ेंगे, तब हमारे जीवनमें निर्ममता आयेगी। किसी गुरुके पास जायँगे, तब हम निष्काम हो जायँगे।....... दूसरे लोग परामर्श दे सकते हैं, इस बातका समर्थन कर सकते हैं। पर आपकी ममता आपको छोड़नी है, न अपने-आप मिटेगी और न उसे कोई छुड़ा पायेगा। -संतवाणी 6/18

47. वह वस्तु तो अपने-आप मिटेगी, जिसमें ममता है। पर, ममता अपने-आप नहीं मिटेगी।......अपनी स्वीकृतिका नाश अपने ही द्वारा होगा। -संतवाणी 5/20

48. निर्ममतासे निष्कामता, और निष्कामतासे असंगता स्वतः प्राप्त होगी। –संतवाणी 5/22

49. अगर किसीकी गाड़ी फँस गयी हो, तो फँस रही है गाड़ी और दुःखी है वह स्वयं। क्यों ? यह ममताका प्रभाव है। –संतवाणी 5/54

50. जिसमें हमारी ममता हो जाती है, वह दूषित हो जाता है। जिसमें हमारी ममता नहीं रहती, वह शुद्ध हो जाता है। –संतवाणी 4/20

51. कोई भी विचारक, कोई भी समाज-विज्ञानी इस बातको सिद्ध कर ही नहीं सकता कि कोई भी वस्तु और व्यक्ति किसी एकका ही है। तो भाई, पंचायती वस्तुपर पूरा अधिकार जमाना क्या ईमानदारी है ? –जीवन-पथ 65

52. जिनसे ममता नहीं है, उनका सुधार दुलार तथा प्यारपूर्वक ही सम्भव है, उपेक्षा द्वारा नहीं। जिनसे ममता है, उनका सुधार मोहरहित होनेसे सम्भव है, क्षुभित होनेसे नहीं। अपने चित्तका सुधार अपने प्रति घोर न्याय तथा असहयोगसे ही सम्भव है, दुलार तथा प्यारसे नहीं। –चित्तशुद्धि 51-52

53. जो व्यक्ति संसारमें किसी भी वस्तुको अपनी मानता है, वह सबसे बड़ा बेईमान, और जो व्यक्ति भगवान्‌को अपना नहीं मानता, वह महामूर्ख। –सन्त-जीवन-दर्पण 80

मानव

1. मानव-जीवनमें सबसे बड़ा कलंक यही है कि मानव होकर अपने लिये किसीकी आवश्यकता अनुभव करे। -संतवाणी 7/119

2. यदि निष्पक्षभावसे हम और आप विचार करें तो मालूम होगा कि पहले मनुष्य बना और पीछे वेद अवतरित हुए।........ वेदोंके प्रादुर्भावसे पूर्व आपके मानव-जीवनका निर्माण हुआ है। -संतवाणी 7/134

3. मानवका निर्माण विधाताने अपनेमेंसे अपनी अहैतुकी कृपासे प्रेरित होकर किया है। इस दृष्टिसे मानवकी उससे जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता है। -प्रेरणा पथ 162

4. यह मानव-जीवनका कलंक है कि उसकी कोई आवश्यकता हो। यह मानव-जीवनका भूषण है कि आप किसीकी आवश्यकता हों। -जीवन-पथ 13

5. मानव-जीवन साधकका जीवन है। मानव कहो अथवा साधक कहो, एक ही बात है। -जीवन-पथ 115

6. मानव जन्मजात साधक है। -साधन-त्रिवेणी 18

7. चाहका जन्म अविवेकसे होता है। इसीका नाम अमानवता है। अतः अविवेक और अमानवता एक ही बात है। चाहकी निवृत्ति विवेकसे होती है, और उसीका नाम मानवता है। -मानवकी मांग 36

8. आप सच मानिये, यह मानवजीवन भोगयोनि नहीं है। यह जीवन प्रेमयोनि है। इस जीवनमें ही मनुष्यको प्रेमकी प्राप्ति होती है। -संतवाणी 6/124-125

9. आत्मा और परमात्माकी 'जिज्ञासा' और अनात्माकी 'कामना' जिसमें है, वही मानव है। -संत-उद्बोधन 83

10. अपनी भूलको मिटानेका दायित्व मानवके रचयिताने मानवपर ही रखा है। -संत-उद्बोधन 153

11. अपनी कामनासे ही मानव आप पराधीन हो गया है। -संत-उद्बोधन 153

12. मानव-जीवन मिलना ही उसकी हमपर अहैतुकी कृपा है। -मानवकी मांग 51

13. अपनेको मानव मानकर जिसे हम मानवता कहते हैं, जिज्ञासु मानकर उसीको तत्त्व-जिज्ञासा कहते हैं, भक्त मानकर उसीको प्रियकी लालसा कहते हैं, और विषयी मानकर उसीको आसक्ति कहते हैं। -मानवकी मांग 54

14. मानव-जीवनमें एक बड़ी अलौकिक बात है। वह यह है कि यह ऐसी बातकी आशा नहीं दिलाता, जिसे आप वर्तमानमें प्राप्त नहीं कर सकते, और न किसी ऐसी आशाकी ओर ही ले जाता है, जिसकी पूर्त्ति दूसरोंपर निर्भर हो। -मानवकी मांग 60

15. वास्तवमें आकृति मानव नहीं है। मानव है –साधनयुक्त जीवन। -मानवकी मांग 76

16. कोई अपनेको मनुष्य कहता है तो उसे विचार करना होगा कि मनुष्य माननेसे जिस कर्तव्यकी प्रेरणा मिलती है, उस कर्तव्यके समूहका नाम ही नाम ही मनुष्य हुआ, किसी आकृतिका नहीं। -मानवकी मांग 78

17. राग-द्वेषसे रहित होनेपर ही मानव वास्तविक मानव हो सकता है। -मानवकी मांग 143

18. जीवनमें दो बातें सभीको अनुभव होती हैं –एक तो 'मैं कर रहा हूँ' और दूसरा 'स्वतः हो रहा है'। इन दोनोंका समूह ही मानव-जीवन है। -मानवकी मांग 189

19. कर्तव्यनिष्ठ जीवन ही मानव-जीवन है। -मानवकी मांग 207

20. प्रेमके प्रादुर्भावमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता निहित है। -मानव-दर्शन 63, 79

21. प्राकृतिक नियमानुसार ऐसी कोई उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि है ही नहीं, जिसके बिना मानव न रह सके और जो मानवके बिना न रह सके। -मानव-दर्शन 73

22. संसार भी आपके सामने अधिकारकी रक्षाके लिये आता है और भगवान् भी आपसे कहते हैं कि तू मेरी शरणमें आ जा। तात्पर्य क्या है ? तुम्हारी माँग संसारको भी है और भगवान्‌को भी। -मानवकी मांग 29

23. किसीसे शासित रहनेके समान मानव-जीवनका और कोई अपमान नहीं है। अपनेपर अपना शासन करनेपर ही मानव 'पर' के शासनसे मुक्त होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है। -मानव-दर्शन 145

24. मानवमें मानवता तभीसे आरम्भ होती है, जब यह सुख-दुःखसे अतीत जीवनकी खोज करता है। इस मौलिक माँगकी जागृतिसे पूर्व मानव प्राणी है, मानव नहीं। -मानव-दर्शन 158

25. आस्था और जिज्ञासा मानवमें ही होती है। -मानव-दर्शन 159

26. दुःख क्या है और क्यों है ? यह प्रश्न मानवका प्रश्न है, प्राणीका नहीं। बेचारे मानवेतर प्राणी तो सुख-दुःख भोगते हैं। -मानव-दर्शन 159

27. मिले हुए शरीरका नाम मानव रखना भूल है; कारण कि शरीर कर्म-सामग्री है, और कुछ नहीं। -साधन-निधि 5

28. मानवमात्र अपनेको साधक स्वीकार करे, यह अनिवार्य है। -साधन-निधि 6
29. मानवकी स्वाधीनता दूसरोंके अधिकारकी रक्षा ही में है; अपने अधिकारको पानेमें मानव स्वाधीन नहीं है। -साधन-निधि 14
30. सत्संग मानवसे भिन्न किसी अन्य प्राणीके लिये सम्भव ही नहीं है अर्थात् मानव-जीवनमें ही सत्संगकी उपलब्धि होती है। -मूक सत्संग.47
31. मानवके निर्माताको मानव अत्यन्त प्रिय है। -मूक सत्संग.79
32. असत्‌की आसक्ति और सत्‌की प्रियता असत् और सत्‌में नहीं हो सकती, अपितु उसीमें होती है, जो जाने हुएका आदर अथवा अनादर, तथा मिले हुएका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग, एवं सुने हुएमें श्रद्धा अथवा अश्रद्धा करता है। उसका यदि नामकरण आवश्यक है तो उसे 'मानव' कह सकते हैं। -मूक सत्संग.103-104
33. मानवका अपना मूल्य किसी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थितिपर निर्भर नहीं है। -मूक सत्संग.207
34. बोल-चाल, रहन-सहन, आने-जानेकी सुविधा-असुविधाके नामपर हम एक साथ नहीं रह सकते, यह बड़ी ही अमानवता है। इस अमानवताका अन्त तभी होगा, जब मानवमें मानवताका संचार हो। -पाथेय 64
35. अधिकार-लालसा और भेदभावकी भावनाने मानवमें मानवता नहीं रहने दी। -पाथेय 65
36. प्रत्येक मानव मानवताके विकसित होनेपर इतना सुन्दर हो सकता है कि उसकी सभीको आवश्यकता हो जाती है और उसे किसीकी आवश्यकता नहीं होती। -पाथेय 102
37. प्रत्येक मानव 'मानव' होनेके नाते बड़े ही महत्त्वका है। पर कब ? जब किसी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, पद आदिके आधारपर अपना मूल्यांकन न करे। -पाथेय 107
38. वस्तु तथा व्यक्तियोंके सम्बन्धने ही मानवको मानव नहीं रहने दिया। -पाथेय 107
39. मानव उन्हींके समान अद्वितीय है। -पाथेय 183
40. निर्माताको मानव अत्यन्त प्रिय है। यह उसका निज खिलौना है। इसका निर्माण उसने अपनी मौजके लिये ही किया है। पर यह दीनतावश उससे विमुख हो उसकी वाटिकामें खेलने लगा है। -पाथेय 185
41. मानव-जीवन सत्संगके लिये ही मिला है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयतासे साध्य है। -पाथेय 197
42. सृष्टिका निर्माण भले ही मानवके लिये हो; किन्तु मानवका निर्माण तो उन्होंने अपने ही लिये किया है। -पाथेय 263
43. प्रत्येक परिस्थितिमें मानव उतना ही बड़ा मानव है, जितना कोई कभी हुआ है। -पाथेय 306
44. मावन-जीवनमें ही धर्मकी चर्चा है; कारण कि मानव ही धर्मात्मा होता है। -पाथेय 337
45. शरीर मानवका स्वरूप नहीं है। कर्तव्य-परायणता, विवेकका प्रकाश और विश्वासका तत्त्व जिसमें है, वही मानव है। -पाथेय 338
46. प्राणी और मानवमें एक भेद है –वह यह कि मानवको मानवके रचयिताने बल, विवेक तथा विश्वासका तत्त्व दिया है; अन्य प्राणियोंमें विवेक और विश्वासका तत्त्व नहीं है। -पाथेय 348
47. मानव अपने ही प्रमादसे बलका दुरुपयोग, विवेकका अनादर और विश्वासमें विकल्प करनेसे सर्वश्रेष्ठ होनेपर भी आज पशु, पक्षी तथा हिंसक जन्तुओंसे भी निम्न कोटिमें चला गया है। -पाथेय 348
48. ऐसा मानना कि हमारा कोई साध्य नहीं है, हमपर कोई दायित्व नहीं है, मानव-जीवनकी घोर निन्दा है। -दुःखका प्रभाव 94
49. जिस किसी मानवको जो कुछ मिला है, वह किसीका दिया हुआ है। -सफलताकी कुंजी 7
50. अहम्‌को मानव मानना युक्तियुक्त है; कारण कि जिसमें कोई माँग है और जिसपर कोई दायित्व है, वही मानव है। -सफलताकी कुंजी 12
51. मानव-जीवन बड़े ही महत्त्वका जीवन है। इसी जीवनमें प्राणी अपने वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है। -सफलताकी कुंजी 57
52. जिसे आप मानव कहते हैं, वह वास्तविक मानव तभी हो सकेगा, जब उसमें देहाभिमान न रहे। -सफलताकी कुंजी 67
53. मानवका निर्माण भी मानवके रचयिताने अपने सहज स्वभावसे ही किया है। इस कारण साधकमें बीजरूपसे उदारता, समता तथा प्रियता विद्यमान हैं। जो विद्यमान है, उसीकी अभिव्यक्ति होती है। -सफलताकी कुंजी 91
54. विवेकका विरोध करनेपर मानवमें अमानवताकी उत्पत्ति हो जाती है। -दर्शन और नीति 7
55. मानवका निर्माण मानवके अपने प्रयासका फल नहीं है; क्योंकि प्रयासका दायित्व मानव होनेके पश्चात् ही आता है। -सफलताकी कुंजी 138
56. उद्‌देश्य-रहित जीवन मानव-जीवन नहीं है। -दर्शन और नीति 44

57. मानवकी माँग सभीको है; क्योंकि उसके द्वारा सभीके अधिकार सुरक्षित होते हैं। इस दृष्टिसे मानव सर्वप्रिय है।
-सफलताकी कुंजी 141

58. अविवेकी मानव मानवके भेषमें अमानव है। अमानवको पशु कहना पशुकी निन्दा है। कारण कि पशुमें विवेक जाग्रत् नहीं है, इससे उसपर विवेकी होनेका दायित्व नहीं है। किन्तु मानवमात्रमें विवेक जाग्रत् है, इस कारण उसपर दायित्व है कि वह विवेकका अनादर न करे। अतः प्रत्येक वर्ग, समाज तथा देशका वही मानव आदरणीय है, जो विवेकी है। -दर्शन और नीति 62

59. अनन्तकी अहैतुकी कृपासे मानव-जीवनका निर्माण हुआ है; क्योंकि विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। इस जीवनमें अपने लिये कुछ भी करनेकी बात नहीं है, यह इसकी महिमा है। -दर्शन और नीति 77

60. मानव-जीवनमें जो कुछ पराधीनता है, वह अपनी ही भूल है। -दर्शन और नीति 79

61. अपनी कमीका अनुभव करना और उसको मिटानेका प्रयत्न करना, यही मानव-जीवनका आरम्भ है। -सन्त-समागम 1/75

62. मानवता व्यक्ति नहीं है, बल्कि जीवनकी एक अवस्था है, जो उन्नतिके लिये एकमात्र सर्वोत्तम अवस्था है। जीवित वही अवस्था रहती है, जो पूर्ण नहीं होती। पूर्ण मानवता होनेपर मानवताका अन्त हो जाता है अर्थात् मानवता 'पूर्ण' से अभिन्न हो जाती है।
-सन्त-समागम 1/75

63. अपनी न्यूनताका अनुभव करना तथा उसे मिटानेका प्रयत्न करना मानवता है। -सन्त-समागम 2/45

64. केवल वस्तुओंके आधारपर जीवन व्यतीत करना मनुष्यके स्वरूपमें पशुता है। -सन्त-समागम 2/88

65. प्रत्येक मानव साधक है; क्योंकि उसमें बीजरूपसे साधन-तत्त्व विद्यमान है। -साधन-तत्त्व 3

66. शान्ति, मुक्ति और भक्तिमें तो मनुष्यका जन्मजात अधिकार है। -संतवाणी 8/73

67. मानवता क्या है ? मानवता है साधन। किस रूपमें ? भाई, जो हमारे पास है, वह हमारा नहीं है। और जो दूसरोंके पास है, उसकी हमें माँग नहीं है। उस मानवताका फल हो जाता है —स्वाधीनता, उदारता और प्रेम। इन तीनोंको इकट्ठा कर दें तो यही मानवतायुक्त मानवका चित्र है। -संतवाणी 7/132

68. आपका मानव-जीवन बड़ा ही अनुपम जीवन है, अद्भुत जीवन है। क्यों ? इसी जीवनमें सद्गति होती है। इसी जीवनमें दुःख-निवृत्ति होती है। इसी जीवनमें परमानन्दकी प्राप्ति होती है। -संतवाणी 5/97

69. मानव-जीवनके विकासकी चरम सीमा योग, बोध और प्रेमकी प्राप्तिमें है और भोग, मोह, आसक्तिकी निवृत्तिमें है। -संतवाणी 7/104

70. जिसका जीवन सभीके लिये उपयोगी है, उसीका नाम है —मानव-जीवन। -संतवाणी 4/93

मानव-सेवा-संघ

1. एकसे अधिक व्यक्ति मिलकर जब अपनी-अपनी निर्बलताओंका अन्त करनेके लिये पारस्परिक सहयोग अर्पित करते हैं और निर्बलताओंसे रहित होते हैं, तब 'संघ' का जन्म होता है। –मानव-दर्शन 139

2. आप अनीश्वरवादियोंकी सूचीमें अपना नाम लिखाना चाहते हैं तो भी कोई आपत्ति नहीं। चाहे मैं भले ही कट्टर ईश्वरवादी हूँ, पर मैं आपको सलाह देता हूँ कि मानव-सेवा-संघमें तुम्हारा उतना ही स्थान है, जितना किसी ईश्वरवादी का। –संतवाणी 3/44

3. मानव-सेवा-संघकी नीतिमें आदेश और उपदेश अपनेको दिया जाता है। –संतवाणी 5/212

4. मानव-सेवा-संघकी नीतिके अनुसार साम्प्रदायिक भेद बुरा नहीं है। लेकिन साम्प्रदायिक भेद में प्रीतिका भेद हुआ, यह बुरा है। इसलिये प्रत्येक साधकका अलग-अलग साधन होनेपर भी यदि प्रत्येक साधकमें प्रत्येक साधकके प्रति प्रीतिकी एकता नहीं है, तो वह साधक नहीं हो सकता। –संतवाणी 5/227

5. मानव-सेवा-संघकी नीतिमें अपना विचार किसीपर लादनेका नियम नहीं है। –संतवाणी 6/162

6. हमने सिद्ध बनकर संस्थाका निर्माण नहीं किया है। हमने तो अपनेको, अपने साथियोंको साधक माना है। –प्रेरणा पथ 76

7. मानव-सेवा-संघ कोई ऐसा संघ नहीं है, जो आपका अपना नहीं है। –प्रेरणा पथ 21

8. मानव-सेवा-संघका अर्थ क्या है ? मानवका अपना संघ। मानव-सेवा-संघकी बात क्या है ? मानवकी अपनी बात। मैं तो लोगोंसे कहता हूँ कि जो लोग मानव-सेवा-संघकी बातको नहीं मानते, वे मानो अपनी बात नहीं मानते। –जीवन-पथ 39

9. मानव-सेवा-संघ किसीकी स्वाधीनताका अपहरण नहीं करता। –जीवन-पथ 45

10. साधक माने मानव-सेवा-संघका मालिक; क्योंकि यह साधकोंका संघ है, किसी व्यक्तिका तो है नहीं। –साधन-त्रिवेणी 19

11. मानव-सेवा-संघ उसी विचारधाराका प्रतीक है, जिसका शरणानन्द। इस दृष्टिसे संघकी सेवा ही शरणानन्दकी सेवा है। –संत-उद्‌बोधन 201

12. संघने मानवमात्रको 'अपनी आँखों देखो और अपने पैरों चलो' की प्रेरणा दी है। –संत-उद्‌बोधन 201

13. आपका जीवन तो यह है कि दूसरे लोगोंको हमारा ही सत्य मानना चाहिये। जब आपका यह जीवन है तो आप माफ कीजिये, आपके द्वारा मानव-जीवन-संघ कलंकित हो सकता है, प्रकाशित नहीं हो सकता। और आप मानव-सेवा-संघके द्वारा अपना विकास नहीं कर सकते। –संतवाणी 4/171-172

14. अब रही मानव-सेवा-संघके प्रचार तथा प्रसारकी बात। इस सम्बन्धमें मेरा निश्चित मत है कि जो बात हमारे जीवनमें आ जायगी, उसका प्रचार तथा प्रसार स्वतः होगा। इस दृष्टिसे प्राप्त सामर्थ्यके सदुपयोगमें ही संघका प्रचार निहित है। –संतपत्रावली 2/41

15. मानव-सेवा-संघ किसी व्यक्ति-विशेषका तथा किसी देश-विशेषका तथा किसी दल तथा वर्ग-विशेषका संघ नहीं है। मानव-सेवा-संघ मानवमात्रका है। अतः उसकी आवश्यकता मानवमात्रकी आवश्यकता है। तो फिर इसका प्रचार क्यों न होगा ? –संतपत्रावली 2/41

16. इस समय आवश्यकता ऐसे कार्यकर्ताओंकी है, जो अपने जीवनसे संघकी विचारधाराका परिचय दे सकें। –संतपत्रावली 2/41

17. मानव-सेवा-संघका कार्यक्रम प्रैक्टिकल है, केवल थ्योरिटिकल नहीं; क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्तिके द्वारा संघकी विचारधाराका प्रचार करना है। –संतपत्रावली 2/41

18. प्रत्येक कार्यमें संघकी विचारधाराका प्रभाव प्रदर्शित होने लग जाय, तब समझना चाहिये कि हम मानव-सेवा-संघके सदस्य हैं। –संतपत्रावली 2/41

19. मानव-सेवा-संघकी विचारधारा मानवमात्रकी माँग है। उस विचारधाराका प्रचार सनातन सत्यका प्रचार है। संघकी साधन-प्रणाली आधुनिक है, पर उद्‌देश्य सनातन है। –संतपत्रावली 2/48

20. कार्यकर्ताओंके अभावमें ही संघका कार्य शिथिल है। सही कार्यकर्ताओंका निर्माण होनेपर संघकी विचारधारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक व्यापक हो सकती है; क्योंकि मानवमात्रको उसकी माँग है। –संतपत्रावली 2/56

21. मानव-सेवा-संघका प्रचार मानवका व्यक्तिगत जीवन है। जो मानव जिस अंशमें अपनेको सुन्दर बनाता है, उसी अंशमें वह संघका प्रचार कर सकता है। –संतपत्रावली 2/63

22. मानव-सेवा-संघका प्रादुर्भाव केवल इस उद्‌देश्यकी पूर्त्तिके लिये हुआ है कि मानवमात्र उस जीवनको पा सकता है, जो किसी भी महामानवको मिला है। –संतपत्रावली 2/143

23. मानव-सेवा-संघ कोई मत, दल तथा संस्था नहीं है। वह तो मानवमात्रकी माँग है। –संतपत्रावली 2/77

24. मानव-सेवा-संघका प्रकाश अपना लेनेपर मानव सभीके लिये उपयोगी हो जाता है। –संतपत्रावली 2/174

25. अपने ज्ञानका आदर करनेका स्वभाव बनाना ही मानव-सेवा-संघकी सत्संग-प्रणाली है। -पाथेय 101

26. मानव-सेवा-संघका सत्संग वर्तमान जीवनकी प्रत्येक समस्याको त्याग तथा प्रेमके द्वारा हल करता है। -पाथेय 102

27. मानव-सेवा-संघके साहित्यका प्रचार अपने-अपने ढंगसे, जिसको जैसा ढंग प्रिय हो, करे। वास्तवमें तो मानवमात्रकी अनुभूति ही मानव-सेवा-संघका साहित्य है। -पाथेय 103

28. संघका दर्शन मानवका अपना दर्शन है। जो अपनी ओर देखता है, वही संघके दर्शनसे परिचित हो जाता है। संघ किसीको कोई ऐसी बात नहीं बताता, जो उसकी अपनी बात नहीं है। -पाथेय 111

29. अहंरूपी अणुका अन्त करनेपर ही संघ-सन्देश विभु हो सकता है।....... अहंका नाश किये बिना संघका सन्देश विभु नहीं हो सकता। -पाथेय 115

30. मानव-सेवा-संघ भी प्रभुका ही है। इस कारण संघकी सेवा प्रभुकी निज सेवा है। -पाथेय 264

31. साधकको जगत्‌के प्रति उदार, प्रभुके प्रति प्रेमी और अपने प्रति अचाह होना है। यही मानव-दर्शनपर आधारित मानव-सेवा-संघकी दीक्षा है। -पाथेय 274

32. मानव-सेवा-संघ साधकोंका संघ है। साधकोंकी सेवा संघकी सर्वोत्कृष्ट सेवा है। -पाथेय 297

33. संघकी मूल नीति है कि संघकी वस्तुओंपर किसीका व्यक्तिगत अधिकार कभी भी न हो। -पाथेय 306

34. अपने-अपने अधिकार-त्यागकी भावना जिन-जिन साधकोंमें हो, वे ही संघकी यथेष्ट सेवा कर सकते हैं। संघकी सेवाका अर्थ मानव-जातिकी सेवा है, किसी वर्ग-विशेषकी नहीं। -पाथेय 306

35. मानव-सेवा-संघका उद्‌देश्य मानवका अपना कल्याण और सुन्दर समाजका निर्माण है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 67

36. सच्चा मानव-सेवा-संघी कभी घर नहीं छोड़ता, बल्कि ममता और अपना अधिकार छोड़ देता है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 109

37. मानवमात्रका जो सत्य है, उसीका नाम मानव-सेवा-संघका सिद्धान्त है। -संतवाणी 8/26

38. संघकी साधन-प्रणालीमें किसी मत, सम्प्रदायकी गन्ध नहीं है और न किसीका विरोध है। क्यों ? भूमि, भला बताओ तो सही, किस पौधेका विरोध करती है और किसका पक्ष करती है ? भूमि न किसी पौधेका विरोध करती है और न किसीका पक्षपात करती है, अपितु प्रत्येक पौधेको विकसित करती है। उसी प्रकारकी साधन-प्रणाली मानव-सेवा-संघकी साधन-प्रणाली है। -संतवाणी 4/16

39. संघकी नीतिमें गुरु एक तत्त्व है और वह गुरु-तत्त्व विवेकके रूपमें आपको प्राप्त है। -संतवाणी 4/84

40. मानव-सेवा-संघकी नीतिमें प्रवचनको भी सत्-चर्चा कहा है, सत्संग नहीं।...... मानव-सेवा-संघमें 'मूक सत्संग' को मुख्य सत्संग माना है। -संत-उद्‌बोधन 21

41. संघकी सर्वोत्कृष्ट सेवा यही है कि अचाह होकर प्राप्त बलका सदुपयोग किया जाय। -संत-उद्‌बोधन 204

मुक्ति (कल्याण)

1. आपका कल्याण किसी बाह्य सहायतासे नहीं होगा, किसी औरके द्वारा नहीं होगा। आपका कल्याण होगा –आपके निज ज्ञानके प्रभावसे। –संतवाणी 7/143

2. सही काम करनेसे समाजमें शान्ति होती है, यानि विश्वमें शान्ति होती है, और न करनेसे अपना कल्याण होता है। –साधन-त्रिवेणी 103

3. जो होती है, उसे मुक्ति थोड़े ही कहते हैं। जो है, उसे मुक्ति कहते हैं। –संत-उद्‌बोधन 8

4. हमें शरीर और संसार दोनोंसे मुक्त होना है। वह तभी सम्भव है जबकि हमारी कोई कामना न रहे, यानी हम अचाह हो जायँ। –संत-उद्‌बोधन 123

5. अपने कल्याणका अर्थ क्या है ? अपनी प्रसन्नताके लिये अपनेसे भिन्नकी आवश्यकता न रहे। –संत-उद्‌बोधन 127

6. जो वस्तु जिस कामके लिये होती है, उसके लिये वह काम कठिन नहीं होता। यह मनुष्यजन्म केवल जीवके कल्याणके लिये ही मिलता है। इसलिये इसको पाकर कल्याणकी प्राप्तिको कठिन मानना भारी भूल है। –संत-उद्‌बोधन 196

7. जबतक हमें कुछ प्राप्त करना शेष है, जबतक हम किसी भी अभावका अनुभव करते हैं, तबतक हमें मानना होगा कि हमारा कल्याण नहीं हुआ। –मानवकी मांग 26

8. भगवत्प्रेमके बिना कल्याण बन नहीं सकता। –मानवकी मांग 30

9. यदि कल्याण चाहनेवाले भाई-बहन यह सोचते हैं कि हमारा कल्याण किसी औरपर निर्भर है तो मानना पड़ेगा कि वे अपना कल्याण नहीं चाहते। आपका कल्याण तो आपपर ही निर्भर है अर्थात् आपके साधनपर निर्भर है। –मानवकी मांग 34

10. कोई मुक्तिके पश्चात् भक्ति मानता है और कोई मुक्तिके पश्चात् मौन हो जाता है; किन्तु मुक्तितक तो सभी साथ हैं। –मानवकी मांग 42

11. अहम् तथा ममरूप जो सम्बन्ध है, उससे मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है। मुक्तिके लिये इसके अतिरिक्त और कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। जिसकी प्राप्ति सम्बन्ध-विच्छेद करनेमात्रसे होती है, उसके लिये भविष्यकी आशा करना प्रमादके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कारण कि भविष्यकी आशा उसके लिये की जाती है, जिसके लिये कोई कर्म अपेक्षित हो। यह नियम है कि कर्म उसीके लिये अपेक्षित होता है, जिससे देश-कालकी दूरी हो अथवा जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त हो। –मानवकी मांग 121-122

12. विजातीयसे मुक्त होना ही वास्तवमें मुक्ति है; क्योंकि भिन्नता उसीसे हो सकती है, जिससे जातीय तथा स्वरूपकी भिन्नता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अपनेमेंसे विजातीयताका निकल जाना ही मुक्त हो जाना है। –मानवकी मांग 123-124

13. अगर हम और आप जाने हुए असत्‌का त्याग कर सकते हैं तो सिद्धि वर्तमानकी वस्तु है। –संतवाणी 4/152

14. मुक्तिमें भक्ति और भक्तिमें मुक्ति ओतप्रोत हैं। कारण कि ज्ञान और प्रेममें विभाजन नहीं होता। –संतपत्रावली 2/141

15. इच्छाएँ रहते हुए प्राण चले जायँ तो, 'मृत्यु' हो गयी, फिर जन्म लेना पड़ेगा। और प्राण रहते इच्छाएँ चली जायँ, 'मुक्ति' हो गयी। जैसे बाजार गये, पर पैसे समाप्त हो गये और जरूरत बनी रही तो फिर बाजार जाना पड़ेगा। और यदि पैसे रहते जरूरत समाप्त हो जाय तो बाजार काहेको जाना पड़ेगा ? –सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 3

16. कर्तव्यपरायणतामें सुन्दर समाजका निर्माण तथा असंगतामें अपना कल्याण निहित है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 63

17. जो जीवनमें मुक्त नहीं होता, वह मरनेके बाद भी मुक्त नहीं होता। और जो ऐसा मानता है कि मुक्ति अभी नहीं मिली, मरनेके बाद मिलेगी, वह अपनेको धोखा देता है। –संतवाणी 8/147

18. ममता और कामनाका नाश करनेके बाद जो गृहस्थ बनता है, वह गृहस्थ जीवन्मुक्त होता है। –संतवाणी 4/207

19. कर्ता-भाव और भोक्ता-भावका मिट जाना ही जीवन्मुक्ति है। –संत-उद्‌बोधन 136

20. जीवन्मुक्त वह होता है, जो निज विवेकका आदर करता है। –संतवाणी 4/207

21. मुक्ति कोई बहुत बड़ी चीज नहीं है। अगर ईमानदारीसे देखा जाय तो जैसे वैराग्य 'योग' का साधन है, ऐसे ही योग 'बोध' का साधन है और बोध 'प्रेम' का साधन है। –संतवाणी 8/158

22. आप कहेंगे कि शुद्ध-बुद्ध-मुक्तमें भी कहीं माँग होती है ? बात तो ठीक है। पर वह काम-रहित है कि माँग-रहित है ? विचार करो।.... मुक्त किसे कहते हैं ? जो काम-रहित है। क्या अनन्तरसकी माँग मुक्तमें नहीं है ? यदि वह मुक्तमें न होती, तो उसे मुक्ति खारी नहीं लगती। मुक्तको मुक्ति भी खारी लगती हैं। कब ? जब अखण्डरसकी भूखको अनन्तरसकी भूखमें बदला हुआ पाता है। –संतवाणी 6/114

23. अगर तुम्हें यह अनुभव हो जाय कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, बस, मुक्त हो गये। –संत-उद्‌बोधन 8

24. मेरे जीवनकी अन्तिम अनुभूति है कि श्रमके बिना, वस्तुके बिना, साथीके बिना हम सबको सिद्धि मिल सकती है।
–संतवाणी 4/222

मूक सत्संग (दे.सत्संग)

1. जिस प्रकार प्रत्येक पौधेके लिये भूमि अनिवार्य है, उसी प्रकार प्रत्येक साधकके लिये मूक सत्संग अनिवार्य है।
-मूक सत्संग.201

2. जिस प्रकार समस्त पौधे भूमिसे उत्पन्न होकर उसीमें स्थित रहते हैं और उसीमें विलीन भी होते हैं, उसी प्रकार मूक सत्संग समस्त साधनोंकी अभिव्यक्तिसे पूर्व भी अपेक्षित है और समस्त साधनोंकी पूर्णता भी मूक सत्संगमें ही निहित है।
-मूक सत्संग.214

3. मूक सत्संगमें सभी साधनोंका समावेश है। -पाथेय 51

4. मूक सत्संग वास्तवमें आदि साधन है अथवा यों कहो कि अन्तिम साधन है। कारण कि जो कुछ किया जाता है, उसके मूलमें 'न करना' ही होता है और करनेके अन्तमें भी 'न करना' ही होता है। इस दृष्टिसे आदि और अन्तमें मूक होनेपर ही सभीको सब कुछ मिलता है। -पाथेय 36

5. मूक सत्संगका आरम्भ शान्तरससे और अन्त अनन्तरसमें होता है। -साधन-तत्त्व 87

6. यह जो शान्त रहना है, यह बहुत बड़ा साधन है। पर इस रहस्यको कोई बिरले ही जानते हैं। -संत-उद्‌बोधन 68

7. हम बड़े-बड़े कार्य कर सकते हैं, बड़े-बड़े अभ्यासी हो सकते हैं, बड़े-बड़े पुरुषार्थी हो सकते हैं, लेकिन दो-तीन मिनट भी शान्त नहीं हो सकते ! -संतवाणी 4/201

8. प्रत्येक साधकके लिये यह अत्यन्त अनिवार्य है कि वह प्रत्येक कार्यके आदि और अन्तमें स्वभावसे ही शान्त होकर मूक सत्संग करनेका स्वभाव बना ले।...... जब हम मूक सत्संग करनेका स्वभाव बना लेंगे, तो आप सच मानिये कि जो सत्य किसीको भी मिला है, वह हमें और आपको मिलेगा। -प्रेरणा पथ 128-129

9. मौनका अर्थ खाली चुप होना नहीं है, बल्कि न सोचना भी है, न देखना भी है अपनी ओरसे। मुझे जो चाहिये, सो तो मुझमें है, फिर इन्द्रियोंकी क्या अपेक्षा ? मौनके पीछे एक दर्शन है कि हमको जो चाहिये, वह अपनेमें है, अपना है और अभी है।
-संत-उद्‌बोधन 18-19

10. प्रत्येक संकल्पकी उत्पत्तिसे पूर्व और प्रत्येक संकल्पकी पूर्त्तिके पश्चात् स्वभावसे निर्विकल्पता रहती है। इस निर्विकल्पताका नाम ही 'मूक सत्संग' है, जिससे आवश्यक शक्तिका विकास होता है। -संत-उद्‌बोधन 68

11. किसी कार्यके करते हुए किसी ऐसी बातकी स्मृति आना, जिसका सम्बन्ध उस कार्यसे नहीं है, यही 'जाग्रत्‌का स्वप्न' है। और वर्तमान कार्यसे सम्बन्ध न रहे तथा अन्य कार्यकी भी स्मृति न आये, यह भीतर-बाहरका मौन ही 'जाग्रत्‌की सुषुप्ति' है।
-मानवकी मांग 93

12. मूक सत्संग वास्तविक सत्संग है। विचार-विनिमय आदिका प्रयास वास्तविक सत्संगका सहयोगी अंग है अर्थात् विचार-विनिमयसे मूक सत्संगकी सामर्थ्य आती है। -मूक सत्संग.31

13. मूक सत्संग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु समस्त साधनोंकी भूमि है। मूक सत्संग किया नहीं जाता, आवश्यक कार्यके अन्तमें स्वतः होता है। -मूक सत्संग.32

14. जो स्वयं करना है, वही सत्संग है। निर्मम तथा निष्काम होते ही मूक सत्संग स्वतः सिद्ध हो जाता है। -मूक सत्संग.36

15. मूक सत्संगसे ही सर्वतोमुखी विकास होता है। -मूक सत्संग.36

16. मूक सत्संगसे विस्मृति नाश होती है। -मूक सत्संग.131

17. मूक सत्संग कल्पतरुके समान है अर्थात् आवश्यक सामर्थ्य, विचारका उदय, प्रीतिकी जागृति मूक सत्संगमें ही निहित है।
-मूक सत्संग.142

18. मूक सत्संग कोई उपाय नहीं है, अपितु वास्तविक जीवनका एक पहलू है। -मूक सत्संग.143

19. देहाभिमानका अन्त करनेके लिये सहज निवृत्तिपूर्वक मूक सत्संग अनिवार्य है। -मूक सत्संग.168

20. मूक सत्संगके बिना देहाभिमानका नाश सम्भव नहीं है। -मूक सत्संग.175

21. मूक सत्संग विश्वास तथा विचार दोनों ही पथोंके लिये समान है। कारण कि विचारका उदय तथा प्रीतिकी जागृति मूक सत्संगसे स्वतः होती है। -मूक सत्संग.170

22. मूक सत्संग मानवको किसी स्थितिमें आबद्ध नहीं करता, अपितु सभीसे असंग करता है। -मूक सत्संग.197

23. मूक सत्संग अकर्मण्यता, जड़ता एवं अभावमें आबद्ध नहीं होने देता, अपितु कर्तव्य-परायणता, चिन्मयता एवं पूर्णता से अभिन्न करता है। -मूक सत्संग.190

24. मूक सत्संगसे निर्मम, निष्काम एवं असंग होनेकी सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। -मूक सत्संग.215

25. सत्-चर्चा तथा सत्-चिन्तन करते हुए आंशिक असत्का आश्रय रहता है; किन्तु मूक सत्संगसे सर्वांशमें सत्संग होता है अथवा यों कहो कि मूक सत्संग ही सत्संग है। -मूक सत्संग.215

26. मूक सत्संग तथा नित्ययोग एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। इन दोनोंमें स्वरूपसे विभाजन नहीं है, अपितु मूक सत्संगमें ही नित्ययोग और नित्ययोगमें ही मूक सत्संग ओतप्रोत है। -मूक सत्संग.216

27. यह नियम है कि जब मानव वस्तु, अवस्था, परिस्थितिके आश्रयसे रहित होता है, तब सर्वाधारका आधार स्वतः प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टिसे आस्थामें सजीवता मूक सत्संगसे ही साध्य है। -मूक सत्संग.216

28. मूक सत्संग कोई अभ्यास, अनुष्ठान एवं श्रमसाध्य प्रयोग नहीं है, अपितु सहज तथा स्वाभाविक स्वतःसिद्ध तथ्य है। नित्यप्राप्तकी प्राप्ति और पराश्रयकी निवृत्ति मूक सत्संगमें ही निहित है। -मूक सत्संग.216

52. अगर हम थोड़ी-थोड़ी देरके लिये विश्राम करनेका स्वभाव बना लें, अकेले होनेका स्वभाव बना लें, तो हमें अपनेमें ही, कहीं बाहर नहीं, प्रीतमकी प्राप्ति हो जायगी। -संतवाणी 6/176

30. अकेला होना बड़ा ही उत्तम है; परन्तु शरीरसे अकेला होना 'अकेला होना' नहीं है। जब प्राणी माने हुए सम्बन्धोंसे तथा स्वीकृतिजन्य सत्तासे अपनेको अतीत कर लेता है, तब अकेला हो पाता है। -संतपत्रावली 1/128

31. अचाहरूपी भूमिमें ही मूक सत्संगरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और सम्बन्ध-विच्छेदरूपी जलसे ही उसे सींचा जाता है। वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग ही उस वृक्षकी रक्षा करनेवाली बाड़ है। उनकी मधुर स्मृति उस वृक्षका बौर है और अमरत्व ही उस वृक्षका फल है, जिसमें प्रेमरूपी रस भरपूर है। -पाथेय 46

32. मूक सत्संगमें आलस्य तथा श्रम दोनोंका अभाव है। इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदिकी चेष्टाओंसे पूर्ण असंगता तथा असहयोग है। -पाथेय 54

33. बलका सदुपयोग होनेपर जो स्वाभाविक विश्राम है, वह भी मूक सत्संग है और अपने-आपको अनन्तकी अहैतुकी कृपापर निर्भर कर देना भी मूक सत्संग है और सब ओरसे विमुख होकर अपनेमें ही सन्तुष्ट हो जाना भी मूक सत्संग है। -पाथेय 63

34. अब रही वैज्ञानिक दृष्टि, जिससे निश्चित समयपर मूक सत्संग करनेकी योजना है –प्रातः 3.30 बजेसे लेकर 5 बजेतकका समय बहुत ही उपयुक्त है।........ वास्तवमें तो प्रत्येक प्रवृत्तिका उदय और अन्त मूक सत्संगमें ही होना चाहिये। मूक सत्संग अखण्ड साधन है, यह कोई अभ्यास नहीं है, अपितु सब प्रकारसे उस अनन्तका हो जाना है, जो सभीमें है, सभीसे अतीत है, जिससे देश, काल आदिकी दूरी ही नहीं है। -पाथेय 63

35. असत्के संगका प्रभाव प्रकट हुए बिना नाश नहीं होता। श्रम-साध्य साधन उस प्रभावको दबाता है, प्रकट नहीं होने देता। मूक सत्संग उस प्रभावको प्रकट करता है। -सत्संग और साधन 80

36. 'है' का संग श्रम-साध्य नहीं है। अतः मूक सत्संगसे ही 'है' का संग साध्य है। मूक सत्संग वर्तमान दशाका बोध करानेमें अचूक मन्त्र है। -सत्संग और साधन 82

37. मूक सत्संगके बिना सत्का संग सम्भव नहीं है। -सत्संग और साधन 82

38. जो साधक असमर्थताका अनुभव करता है, वह मूक सत्संग द्वारा कर्तव्यनिष्ठ होता है और जो साधक मिली हुई सामर्थ्यका पवित्र भावसे सद्व्यय करता है, वह कर्तव्यनिष्ठ होकर मूक सत्संग प्राप्त करता है। -सत्संग और साधन 83

39. भौतिकवादकी दृष्टिसे कर्तव्यपरायणता, अध्यात्मवादकी दृष्टिसे असंगता और आस्तिकवादकी दृष्टिसे शरणागति ही अन्तिम प्रयास है। इन तीनों प्रयासोंकी पूर्णता मूक सत्संगमें निहित है। -सत्संग और साधन 84

40. मूक सत्संग सिद्ध होते ही 'करना' 'होने' में और 'होना' 'है' में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही अमरत्वसे अभिन्नता होती है। -सत्संग और साधन 85

41. अहम्का नाश श्रम-साध्य नहीं है। श्रमके मूलमें बीजरूपसे अपना सुख छिपा रहता है। मूक सत्संग साधकको सुखकी दासता और दुःखके भयसे रहित कर देता है, जिसके होते ही अहम् अपने-आप गल जाता है। -सत्संग और साधन 90

42. जीवनकी पूर्णता जो विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेममें निहित है, मूक सत्संगसे ही सिद्ध है। -सत्संग और साधन 90

43. मूक सत्संगके लिये तो किसी परिस्थिति-विशेषकी अपेक्षा ही नहीं है। अतः साधक चाहे जिस परिस्थितिमें हो, मूक सत्संग स्वाधीनतापूर्वक हो सकता है। -सत्संग और साधन 91

44. योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्यका भेद होनेपर भी मूक सत्संग सभीके लिये समान है। मूक सत्संगके द्वारा समस्त असाधनोंका नाश हो सकता है और योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्यके अनुरूप व्यक्तिगत साधनकी अभिव्यक्ति भी हो सकती है। -सत्संग और साधन 91

45. मूक सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु जीवनका सहज, स्वाभाविक एवं अविभाज्य अंग है। उसका कोई भी साधक त्याग नहीं कर सकता; किन्तु उसे सत्संगका रूप कोई विरले ही दे पाते हैं। –सत्संग और साधन 91

46. भीतर-बाहरसे अकेले रहनेका स्वभाव बनाओ। ऐसा करनेसे आपको वह (आनन्द) मिल जायगा, जो आपके बिना नहीं रह सकता अथवा यों कहो 'जो आपकी आवश्यकता है'। –सन्त-समागम 2/107

47. मूक सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु चिर-विश्राम है, जिसकी माँग स्वभावसे ही प्रत्येक साधकको है। –साधन-तत्त्व 87

48. भौतिकवादकी दृष्टिसे 'कर्तव्यपरायणता' का, अध्यात्मवादकी दृष्टिसे विवेकपूर्वक 'असंगता' का और आस्तिकवादकी दृष्टिसे 'समर्पण' का परिणाम मूक सत्संग है। कर्तव्यपरायणता, असंगता और समर्पणसे मूक सत्संग स्वतः हो जाता है। –साधन-तत्त्व 87

49. मूक सत्संगके बिना अहम् भावका अन्त हो ही नहीं सकता। अतः प्रत्येक साधकको सब कुछ करनेपर भी मूक सत्संगको अपना लेना अनिवार्य है; क्योंकि बिना उसके अपनाए अचाह, अप्रयत्न एवं अभिन्नता सम्भव नहीं है। –साधन-तत्त्व 90

50. जब आपकी सुषुप्ति जागृतिमें बदले तो उसी समय बिस्तरमें उसी दशामें, जैसे आपको सुख मिले, थोड़ी देरके लिये जाग्रत् अवस्थामें ही सुषुप्तिवत् विश्राम कीजिये। उसका परिणाम यह होगा कि अगर आपको दो-तीन मिनटकी आदत विश्राम करनेकी आ जायगी, तो आपका ध्यान स्वतः हो जायगा, अपने-आप हो जायगा। दस-बारह मिनटमें धारणा हो जायगी; आधे घण्टेमें समाधि हो जायगी। –संतवाणी 4/129-130

51. हम थोड़ी देरके लिये, दो, चार या दस मिनट, इससे ज्यादा नहीं, बिना कोई काम करे अकेले रहनेका स्वभाव बनायें। यह कोशिश करें कि दस मिनटतक हम कोई काम नहीं करेंगे, अकेले रहेंगे, बिना सामान और बिना साथीके रहेंगे, शरीरको लेकर नहीं। हमें जो अपने बहुत-से साथी मालूम होते हैं, बहुत-सा सामान मालूम होता है, उसके बिना रहेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम साथियोंको नाराज कर दें या सामानको बरबाद कर दें। ऐसा मेरा मतलब नहीं है। लेकिन थोड़ी देरके लिये ऐसा अनुभव करें कि मान लो, हमारे पास हमारा शरीर भी नहीं रहेगा, तब हम होंगे कि नहीं ? ऐसा प्रश्न अपने सामने रखें। –सन्तवाणी 6/174-175

मृत्यु

1. जबतक जीनेकी आशा है, तबतक मरनेका भय नहीं मिट सकता; और करनेलायक काम बाकी बना रहनेसे जीनेकी आशा नहीं मिटती। -संत-उद्‍बोधन 163

2. मृत्युके समान और कोई हितकर वस्तु नहीं है। उसके आनेपर ही आस्तिक प्राणी अपने इष्टलोक अथवा विदेह-मुक्तिको पाता है, जो मानवका परम लक्ष्य है। -संतपत्रावली 2/14

3. मोहवश मृतक मनुष्यका स्मरण कर दुःखी होनेसे मृतकके सूक्ष्मशरीरको दुःख अधिक होता है; क्योंकि जबतक सम्बन्ध शेष रहता है, तबतक उसे दूसरी योनि धारण करनेमें विलम्ब होता है। यदि सद्‍भावसे, प्रसन्नतापूर्वक मृतक मनुष्यसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाय, तो फिर वह अपने कर्मोंके अनुसार शीघ्र, सुगमतासे दूसरी योनि धारण कर लेता है।......... जब-जब मोहके आवेशके कारण उनका स्मरण हो, तब-तब हृदयमें यह भावना करो कि आपका हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। -संतपत्रावली 1/45

4. संयोगमें ही वियोगका, जीवनमें ही मृत्युका दर्शन करनेसे उस दिव्य जीवनसे अभिन्नता होती है, जो जीवन किसीके लिये भी दुःखकर नहीं होता, अपितु सभीके लिये हितकर ही होता है। -संतपत्रावली 2/78

5. प्राणोंके रहते हुए कामनाओंका अन्त हो जानेपर जब मृत्यु होती है, तब उसे 'काल मृत्यु' समझना चाहिये। कामनाओंके रहते हुए प्राणोंका अन्त होना 'अकाल मृत्यु' है। वह चाहे जिस प्रकारसे हो, चाहे जितनी आयुमें हो। -संतपत्रावली 2/77

6. मृतक प्राणीकी सर्वोत्कृष्ट सेवा यही है कि उनसे विचारपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जाय और जब-जब उनकी स्मृति आये, तब-तब प्रार्थना की जाय। उनके निमित्त यथाशक्ति अपने विश्वासके अनुसार पुण्यकर्म आदि भी किया जा सकता है; किन्तु उनको अपना मानना, उनका चिन्तन करना अपने और उनके लिये अहितकर ही सिद्ध होता है। -संतपत्रावली 2/142

7. वर्तमान जीवन क्या है ? जीवनशक्ति, प्राण और इच्छाओंका समूह है। मृत्यु क्या है ? प्राणशक्तिका व्यय हो जाना और इच्छाओंका शेष रह जाना।........ जीवनमें ही मृत्युका अनुभव करनेके लिये साधकको प्राणोंके रहते हुए ही इच्छाओंका अन्त करना होगा। जीवनमें ही मृत्युका अनुभव किये बिना कोई भी योगी, विवेकी और प्रेमी नहीं हो सकता। -जीवन-दर्शन 188

8. सबसे बड़ी निर्बलता जीवनमें कब आती है ? जब मानव प्रसन्नतापूर्वक मृत्युको नहीं अपनाता, अपितु सबलके अत्याचारको स्वीकारकर जीना चाहता है। इस निर्बलताने ही सबलकी बलके दुरुपयोग करनेकी प्रवृत्तिको पोषित किया है। -साधन-निधि 35

9. मृतकके साथ सबसे बड़ा कर्तव्य यही है कि उससे हमको अपना सम्बन्ध तोड़ देना चाहिये और हृदयसे सद्‍भावपूर्वक मूक प्रार्थना करनी चाहिये कि उस प्राणीका कल्याण हो।........ यदि आप उसके साथ सम्बन्ध रखेंगे तो उसको योनि धारण करनेमें देर अवश्य होगी। -सन्त-समागम 1/45

10. जो कामनाएँ शेष रह जाती हैं, उनकी पूर्तिके लिये मृत्यु एक अवस्था है और कोई वस्तु नहीं। -सन्त-समागम 1/45

11. जिस प्रकार थके हुए प्राणीको थकावट दूर करनेके लिये नींद आवश्यक है, उसी प्रकार इच्छाओंके शेष रहनेपर प्राणीको जीवनके लिये मृत्यु आवश्यक है। -सन्त-समागम 1/45

12. गहराईसे देखो, जिसको आप मृत्यु कहते हैं, वह तो नवीन जीवनको उत्पन्न करनेके लिये एक विशेष अवस्था है। -सन्त-समागम 1/76

13. मरनेसे डरो नहीं और कुछ चाहो नहीं तो मरनेसे पहले अमर जीवन मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 81

14. यदि जन्मके साथ मृत्यु, संयोगके साथ वियोग, उत्पत्तिके साथ विनाश और प्रवत्तिके साथ असमर्थता न होती तो न जाने कितनी भयंकर दुर्दशा मानव-समाजकी हो जाती। -मंगलमय विधान 11

15. एक मृत्यु ही दूसरे नवीन जीवनका कारण बनती है। यदि संसारमें कोई न मरे तो जनसंख्या इतनी बढ़ जाय कि रहनेके लिये पृथ्वीपर कोई जगह ही न मिले और इतना दुःख बढ़ जाय कि कोई जीना पसन्द न करे। अतः मृत्युकी भी आवश्यकता है और वह बहुत महत्त्वकी चीज है। एक शरीरका नाश होकर दूसरा नया शरीर मिलता है। अतः मृत्यु ही नवीन जीवन प्रदान करती है। यह समझनेवाला बुद्धिमान् मनुष्य कभी मृत्युसे नहीं डरता, वरं उसका स्वागत करता है। -संत-सौरभ 139

16. जहाँतक हमारे विश्वासकी बात है, वह यह है कि मरनेमें कोई कष्ट नहीं होता। कष्ट जो होता है, वह इस बातका होता है कि हम जीना चाहते हैं और मरना पड़ रहा है।..... अगर हम जीना न चाहें तो मरनेमें कोई कष्ट नहीं है। -संतवाणी 3/93

योग

1. योग कब होता है ? कि जब आपका शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता। –संतवाणी 5/203

2. रागरहित होते ही सबको योग मिल जायगा। –संतवाणी 4/119

3. योगकी इस परिभाषापर गौर कीजिये कि सृष्टिका अपने लिये उपयोग करना भोग, सृष्टिकी सेवामें शरीरको लगा देना योग। परमात्माको अपना मानना योग, परमात्मासे कुछ माँगना भोग। –संतवाणी 7/77

4. योग अपने लिये और कर्तव्य 'पर' के लिये निर्मित है। योगकी प्राप्तिके लिये किसी कर्म-सामग्रीकी अपेक्षा नहीं है, केवल करनेकी राग-निवृत्तिमात्रसे ही योगके साम्राज्यमें प्रवेश होता है अर्थात् योग-प्राप्तिमें श्रम अपेक्षित नहीं है। इस कारण योग अपने लिये और कर्तव्य 'पर' के लिये विकासका मूल है। –मानव-दर्शन 116

5. योगकी अभिव्यक्तिके लिये किसी प्रकारकी प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है, अपितु मूक सत्संग ही अपेक्षित है। –मूक सत्संग.123

6. राग-रहित भूमिमें ही 'योग'रूपी वृक्षका प्रादुर्भाव होता है, जो कल्पतरुके समान है अर्थात् उसमें समस्त विकास होते हैं। इतना ही नहीं, 'योग'रूपी वृक्षपर ही 'तत्त्वज्ञान'रूपी फल लगता है, जो 'प्रेम'रससे परिपूर्ण है। –दुःखका प्रभाव 74

7. भोगकी रुचि रहते हुए योगकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। –चित्तशुद्धि 247

8. भोगका अत्यन्त अभाव हो जाना ही वास्तवमें योग है। –सन्त-समागम 1/54

9. योगसे शक्ति संचय होती है, तत्त्व-साक्षात्कार नहीं। –सन्त-समागम 1/249

10. जो संयोगमें ही वियोगका अनुभव कर लेता है, उसका नित्ययोग होना परम अनिवार्य है। –सन्त-समागम 2/164

11. भोगकी ओर जानेमें सद्भाव क्रियामें विलीन हो जाता है, और योगकी ओर जानेमें क्रिया भावमें विलीन हो परमतत्त्वसे अभिन्न हो जाती है। –सन्त-समागम 2/194

12. योगसे शक्ति संचित होती है, पर शान्ति नहीं। स्वाभाविक पूर्ण असंगता होनेपर निज-स्वरूपका स्वयं बोध हो जाता है। बोध होनेपर परमशान्ति बिना बुलाये आ जाती है।.......... योगके बिना शक्तिहीनता नहीं मिटती और यथार्थ बोधके बिना शान्ति नहीं आती। –सन्त-समागम 2/197

13. भोग-बुद्धिका अन्त होते ही योग बिना ही प्रयत्न हो जाता है। –सन्त-समागम 2/267

14. निष्कामताकी अभिव्यक्ति होते ही भोग स्वतः 'योग' में विलीन हो जाता है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 67

15. पराश्रय और परिश्रमसे रहित तथा हरि-आश्रय और विश्रामके द्वारा जो जीवन है, वह जीवन जिसे पसन्द है, वह योगी है। योगका उपाय क्या है ? हरि-आश्रय और विश्राम। –संतवाणी 3/123

16. योग तो शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान –इन दोनोंसे परे है। –संतवाणी 2/39

राग-द्वेष

1. आपका एक अपना बड़प्पन है। आपका एक अपना महत्त्व है। आपकी एक अपनी सुन्दरता है। और वह सुन्दरता राग-द्वेषरहित हुए बिना प्राप्त नहीं होती। -संतवाणी 4/57

2. संसारकी बड़ी-से-बड़ी वासना हमें उसी समयतक अपनी ओर आकर्षित करती है, जबतक कि हमारे मनमें किसी प्रकारका राग है। -मानवकी मांग 29

3. रागके बिना द्वेष उत्पन्न ही नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वेष मिटानेके लिये रागका मिटाना अनिवार्य है। -मानवकी मांग 115

4. सीमित 'मैं' और सीमित 'मेरा' ही राग-द्वेषका मूल है, जो वास्तवमें अविवेक है। -मानवकी मांग 142

5. किसीकी वास्तविकताका बोध तभी सम्भव होगा, जब उसके प्रति राग तथा द्वेष लेशमात्र भी न हों। -मानव-दर्शन 54

6. राग और द्वेष दोनों ही सम्बन्ध पुष्ट करते हैं। सम्बन्धके रहते हुए बोध सम्भव नहीं है। -मानव-दर्शन 55

7. जिस अंशमें भिन्नता प्रतीत होती है, उस अंशमें त्यागको अपनाना है, द्वेषको नहीं और जिस अंशमें एकता प्रतीत होती है, उस अंशमें सेवाको अपनाना है, रागको नहीं। -मानव-दर्शन 127

8. द्वेषके नाशमें प्रेमकी अभिव्यक्ति और रागके नाशमें बोधकी अभिव्यक्ति स्वतःसिद्ध है। -मानव-दर्शन 127

9. राग तथा द्वेष जबतक बाकी हैं, तबतक किसी वस्तुको यथार्थ समझना तथा जान पाना कठिन है। -संतपत्रावली 1/49

10. राग और द्वेष मिटानेके लिये शरीर-भावका अत्यन्त अभाव करना होगा। जबतक यह स्वाभाविक न हो जाय कि मैं शरीर किसी भी कालमें नहीं हूँ ,तबतक राग और द्वेष कदापि नहीं मिट सकते। -संतपत्रावली 1/50

11. राग एक ऐसा मधुर विष है, जो सदैव मृत्युकी ओर ही गतिशील करता रहता है अर्थात् रागके रहते हुए हम अमर नहीं हो सकते और न बन्धनरहित ही हो सकते हैं; क्योंकि राग त्यागकी सामर्थ्यका अपहरण कर लेता है और त्यागके बिना कर्तव्यपालन सम्भव ही नहीं है। -जीवन-दर्शन 88

12. यह द्वेषकी महिमा है कि गुणका दर्शन नहीं होने देता। यह नियम है कि किसीका द्वेष किसीका राग बन जाता है। जिस प्रकार द्वेष गुणका दर्शन नहीं होने देता, उसी प्रकार राग दोषका दर्शन नहीं होने देता। -दर्शन और नीति 30

13. राग 'त्याग' से और द्वेष 'प्रेम' से नष्ट होता है। त्याग विवेकमें और प्रेम आत्मीयतामें निहित है। -दर्शन और नीति 144

14. स्वप्नकी घटना स्वप्नकालमें तो जाग्रत्के ही समान सत्य है और जाग्रत्में भूतकालकी घटनाएँ वर्तमानमें स्वप्नके समान ही मिथ्या हैं। इस दृष्टिसे स्वप्न और जाग्रत्की घटनाएँ समान ही अर्थ रखती हैं; परन्तु प्राणी जाग्रत्की घटनाको सत्य मानकर उनके राग-द्वेषमें आबद्ध हो चित्तको अशुद्ध कर लेता है। -चित्तशुद्धि 106

15. रागरहित होनेमें ही योगीमें योग, जिज्ञासुमें तत्त्वज्ञान और प्रेमीमें प्रेमकी अभिव्यक्ति निहित है, अथवा यों कहो कि समस्त विकास रागरहित होनेमें ही निहित है; क्योंकि रागरहित हुए बिना न तो चित्तका निरोध ही हो सकता है, न देहाभिमान ही गल सकता है और न समर्पित होनेकी सामर्थ्य ही आती है। -चित्तशुद्धि 440

16. यदि राग व द्वेष न किया होता तो त्याग व प्रेम न करना पड़ता। -सन्त-समागम 1/20

17. राग त्यागसे और द्वेष प्रेमसे मिट जाता है। -सन्त-समागम 1/140

18. यदि जगत्के वास्तविक स्वरूपको जानना चाहते हो तो रागका अन्त कर दो; क्योंकि राग होनेसे यथार्थ दृष्टि उत्पन्न नहीं होती। -सन्त-समागम 1/121

19. देखनेवाला जबतक देखनेकी अभिलाषा करता है, तबतक देखनेका राग है; दीखनेवाली सत्ता सत् हो अथवा असत्। असत् सिनेमाकी आसक्ति भी बन्धन है। -सन्त-समागम 1/220

20. केवल असत् समझना रागरहित होना नहीं है, बल्कि अपनेसे भिन्न किसीकी भी आवश्यकता न हो, यही निष्ठा रागरहित है। किसी औरकी आवश्यकताका होना ही राग है। -सन्त-समागम 1/220

21. राग-रूपी भूमिमें ही भोग-रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है, जिसपर सुख-दुःखरूपी अनेक फल लगते हैं।.........राग-रहित भूमिमें ही योग-रूपी वृक्षकी अभिव्यक्ति होती है, जिसपर तत्त्वज्ञान-रूपी फल लगता है, जो प्रेमरससे पूर्ण है। -साधन-तत्त्व 55

22. दोष मालूम होते हुए भी त्याग न करना 'राग' है। गुण मालूम होते हुए भी ग्रहण न करना 'द्वेष' है। राग त्याग नहीं होने देता व द्वेष प्रेम नहीं होने देता। त्याग व प्रेमसे राग-द्वेष मिट जाते हैं। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 43

23. रागकी भूमिमें ही समस्त विकारोंकी उत्पत्ति होती है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 64

24. राग-द्वेषरहित होनेका उपाय क्या निकला ? अपने सुख-दुःखका कारण किसी औरको न मानना। -संतवाणी 4/61

25. जो मान्यता तथा जो सिद्धान्त मनुष्यको स्नेहसे दूर करके राग-द्वेषमें आबद्ध करते हैं, वे चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों, उनसे चित्त शुद्ध नहीं होता। –संत-सौरभ 51

26. सुखकी आशा की नहीं कि 'राग' उत्पन्न हो जायगा। अपने दुःखोंका कारण दूसरोंको माना नहीं कि 'द्वेष' उत्पन्न हो जायगा। .... द्वेषने ही भिन्नताको पोषित किया है, रागने ही हमें पराधीन बनाया है। –संतवाणी 5/78-79

राजनीति

1. विधान-निर्माताओंको राष्ट्रका संचालक कभी नहीं होना चाहिये। वे राष्ट्रको विधानके रूपमें प्रकाश देते रहें। राष्ट्रके बनाये हुए विधानसे और विधान-निर्माताओं द्वारा राष्ट्रका संचालन होनेसे कभी भी देशमें वास्तविक एकता सुरक्षित नहीं रह सकती। अतः राष्ट्रके संचालक और विधान-निर्माता –इन दोनोंका अलग-अलग होना अनिवार्य है। –दर्शन और नीति 137

2. विधान-निर्माणका अधिकार किसी राष्ट्र को नहीं है, अपितु वीतराग पुरुषोंको है। राष्ट्र विधानका पालन करानेमें प्रयत्नशील हो सकता है; किन्तु विधान वही बना सकता है, जिसका जीवन विधान हो। –दर्शन और नीति 137

3. राष्ट्रका निर्माण समाजके उन व्यक्तियों द्वारा होना चाहिये, जिन्होंने क्रियात्मक रूपसे जन-समाजकी सेवा की है अर्थात् सेवा करनेवालोंके द्वारा ही राष्ट्रका निर्माण ठीक-ठाक हो सकता है, पर उन्हें स्वयं राष्ट्र-संचालक नहीं होना चाहिये।

–दर्शन और नीति 137

4. सच्चा सेवक वही हो सकता है, जिसके जीवनमें राष्ट्रका संचालक होनेका प्रलोभन न रहे। सम्मानकी दासताने अभिमानको जन्म देकर सेवाभावको नष्ट किया है। इस कारण सेवक राष्ट्रका निर्माता हो सकता है, किन्तु राष्ट्रका संचालक नहीं।

–दर्शन और नीति 138

5. सेवा करनेवाला व्यक्ति जनताका प्रतिनिधि तो स्वाभाविक ही बन जाता है। उसमें न तो पदका लालच होता है, न पक्षपात, न स्वार्थ; अतः वह उसी व्यक्तिको चुनेगा, जो वास्तवमें सच्चा सेवक और ईमानदार होगा। –सन्त-समागम 2/95

6. यदि पूँजीपति धर्मशून्य राजनीतिक नेताओंके अत्याचारोंसे बचना चाहते हैं तो उनको संग्रह की हुई सम्पत्ति स्वेच्छापूर्वक बाल-मन्दिर और शुश्रूषा-आश्रमके बनानेमें लगा देनी चाहिये अर्थात् अपनी सम्पत्ति सच्चे सेवकोंके हाथमें दे देनी चाहिये, नहीं तो समाज-सुधारके गीत गाकर साम्यवादी और समाजतंत्रवादी डाकुओंकी भाँति छीन लेंगे, अथवा विधान बदलकर पूँजीवाद मिटा देंगे।

–सन्त-समागम 2/91

7. पार्टीका प्रतिनिधि बनकर जो कार्य किया जायगा, उससे केवल पार्टी सुदृढ़ होगी, व्यक्तिका निर्माण नहीं होगा। व्यक्तियोंके निर्माणके बिना सच्चाई, ईमानदारी और निष्पक्षताका प्रादुर्भाव नहीं होता और न स्वार्थ-भावना मिटती है। –सन्त-समागम 2/92

8. जिस देशके पूँजीपति तथा विद्वान् विषयासक्त हो जाते हैं, उस देशका शासन दूषित हो जाता है; क्योंकि शासन करनेवाली संस्थाका जन्म विद्वानों तथा पूँजीपतियोंके आधारपर ही निर्भर है।..... अतः पूँजीपतियों तथा विद्वानोंका सुधार होनेपर ही राष्ट्रका यथेष्ट निर्माण हो सकता है। –सन्त-समागम 2/92

9. बाल-मन्दिर तथा शुश्रूषा आश्रमोंकी सेवा करनेवाले विद्वानोंके द्वारा ही गवर्नमेंटका निर्वाचन होना चाहिये। जो उन विद्वानोंमेंसे वीतराग पुरुष हों अर्थात् जिनका मोह नष्ट हो गया हो, उनको विधान बनानेका अधिकार होना चाहिये।...... राष्ट्रका कर्तव्य तो केवल वीतराग पुरुषोंके बनाये हुए विधानका पालन करना है। –सन्त-समागम 2/92-93

10. इने-गिने व्यक्ति प्रचारके द्वारा जनताको अपने पक्षमें लेकर जनताके बहाने अपने मनकी बात करते हैं। इस चुनावमें सच्चाई नहीं होती। चुने हुए सदस्य कहनेके लिये ही जनताके प्रतिनिधि होते हैं, वास्तवमें जनताके नहीं होते। –सन्त-समागम 2/94-95

11. सेवा करनेवालोंका चुना हुआ राष्ट्र हो और वीतराग पुरुषोंका बनाया हुआ विधान हो, तभी समाजमें न्याय तथा शान्तिकी स्थापना हो सकती है। –सन्त-समागम 2/96

12. हित अपराधके नाशमें है, अपराधीके नाशमें नहीं। अपराधी निरपराध हो जाय, यह सद्भावना स्वभावसे अपने ही में अपने प्रति होती है अथवा उन वीतराग तत्त्वविद् महापुरुषोंमें होती है, जिनके जीवनमें सर्वात्मभावकी अभिव्यक्ति हो गयी है। इसी कारण विधान बनानेका वास्तविक अधिकार वीतराग तत्त्ववेत्ताओंको है, अन्यको नहीं। –मानवताके मूल सिद्धान्त 37

13. रानीके पेटसे निकला हुआ राजा नापसन्द है तो जनताके पेटसे निकला हुआ मिनिस्टर गरीबी मिटायेगा, बिलकुल भ्रमात्मक धारणा है। –संतवाणी 8/13

14. आजकल यही तो सत्य मान लिया है कि बहुत-से लोग जिस बातको कह दें, वह बात मान ली जाय, चाहे झूठ हो। ऐसा मान लो कि सौ बेवकूफ हों और निन्यानबे बुद्धिमान हों तो सौ बेवकूफ निन्यानबे बुद्धिमानोंको हरा दें। यह नीति गलत है कि नहीं ?

–संतवाणी 8/126

15. यदि जनता स्वयं सच्चाईको जाननेमें समर्थ होती तो शासकोंके निर्वाचनकी आवश्यकता ही क्या थी ? जनता तो अबोध बालकके समान होती है। जनताके द्वारा निर्वाचन होनेपर तो सौ मूर्ख निन्यानबे भले आदमियोंको हरा सकते हैं। ऐसी गवर्नमेण्ट कभी सत्यकी खोज करनेवाली नहीं हो सकती। –सन्त-समागम 2/95

16. जिस प्रकार पागलका स्वस्थ शरीर भी कुछ काम नहीं आता, वही दशा धर्मशून्य साम्यवादकी होगी। -सन्त-समागम 2/87

17. सेवक शासक नहीं हो सकता और शासक सेवा नहीं कर पाता। -साधन-निधि 33

रोग

1. रोग शरीरकी वास्तविकता समझानेके लिये आता है। -संतपत्रावली 1/119

2. रोगपर वही विजय प्राप्त कर सकता है, जो शरीरसे असंगताका अनुभव कर लेता है। -संतपत्रावली 1/124

3. जब प्राणी तप नहीं करता, तब उसको रोगके स्वरूपमें तप करना पड़ता है। -संतपत्रावली 1/149

4. प्राप्तका अनादर और अप्राप्तका चिन्तन, अप्राप्तकी रुचि और प्राप्तसे अरुचि –यही मानसिक रोग है। -साधन-त्रिवेणी 61

5. वास्तवमें तो जीवनकी आशा ही परम रोग और निराशा ही आरोग्यता है। देहभावका त्याग ही सच्ची औषधि है। -संतपत्रावली 2/36

6. रागका अन्त करनेके लिये ही रोग उत्पन्न हुआ है। रागका अन्त कर रोग स्वतः नाश हो जायगा, और फिर बुलानेपर भी न आयेगा। -संतपत्रावली 2/144

7. रोग प्राकृतिक तप है। उससे डरो मत। रोग भोगकी रुचिका नाश तथा देहाभिमान गलानेके लिये आता है। इस दृष्टिसे रोग बड़ी आवश्यक वस्तु है। -संतपत्रावली 2/170

8. रोग भी प्राकृतिक तप है, और कुछ नहीं। रोगका वास्तविक मूल तो किसी-न-किसी प्रकारका राग ही है; क्योंकि राग-रहित करनेके लिये ही रोगके स्वरूपमें अपने प्यारे प्रभु प्रीतमका ही मिलन होता है। हम प्रमादवश उन्हें पहचान नहीं पाते और रोगसे भयभीत होकर उससे छुटकारा पानेके लिये आतुर तथा व्याकुल हो जाते हैं, जो वास्तवमें देहाभिमानका परिचय है, और कुछ नहीं। -पाथेय 45-46

9. सभी रोगोंका मूल एकमात्र राग है। -पाथेय 48

10. भोजनकी रुचिने सभीको रोगी बनाया है। यद्यपि भोजन परिवर्तनशील जीवनका मुख्य अंग है; परन्तु उसकी रुचि अनेक रोग भी उत्पन्न करती है। असंगता सुरक्षित बनी रहे और भूख तथा भोजनका मिलन सहजभावसे होता रहे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक बहुत-से रोग मिट जाते हैं। रोग रागका परिणाम है, और कुछ नहीं –चाहे वर्तमान राग हो या पूर्वकृत। -पाथेय 59

11. देहजनित सुखकी दासताका अन्त करनेके लिये रोगके स्वरूपमें तुम्हारे ही प्रीतम आये हैं। उनसे डरो मत, अपितु उनका आदरपूर्वक स्वागत करो और विधिवत् उनकी पूजा करो। रोग भोगके रागका अन्त कर अपने-आप चला जायगा। -पाथेय 82

12. स्वरूपसे तुम किसी भी कालमें रोगी नहीं हो। केवल देहकी तद्रूपतासे ही तुम्हें अपनेमें रोग प्रतीत होता है। -पाथेय 82

13. देहाभिमान गलानेके लिये ही रोग भगवान् आये हैं। -पाथेय 99

14. रोग प्राकृतिक तप है। रोगावस्थामें शान्त तथा प्रसन्न रहना अनिवार्य है। प्राणशक्ति सबल होनेपर प्रत्येक रोग स्वतः नष्ट हो जाता है। चित्तमें प्रसन्नता तथा हृदयमें निर्भयता रहनेसे प्राणशक्ति सबल हो जाती है। -पाथेय 123-124

15. मेरे विश्वासके अनुसार कुछ रोग अभिमान बढ़ जानेपर भी होते हैं। किसी साधकको ऐसा छिपा हुआ अभिमान होता है कि जिसकी निवृत्ति करानेके लिये भी रोग आता है। एक साधकने किसीके प्रति घृणाकी भावना की और वह तुरन्त रोगी हो गया। उनके सिखानेके अनेक ढंग हैं। भयसे भी रोग हो जाते हैं। भय और अभिमानका अन्त होनेपर कुछ रोग स्वतः नाश हो जाते हैं। -पाथेय 170

16. जो साधन-सामग्री है, उसके द्वारा साधक किसी प्रकारका सुख-सम्पादन न कर सके, इसी कारण वे रोगके स्वरूपमें प्रकट होते हैं। पर साधक यह रहस्य जान नहीं पाता कि मेरे ही प्यारे रोगके वेषमें आये हैं। -पाथेय 182

17. शारीरिक बलका आश्रय तोड़नेके लिये रोग आया है। उससे डरो मत, अपितु उसका सदुपयोग करो। रोगका सदुपयोग देहकी वास्तविकताका अनुभव कर उससे असंग हो जाना है। -पाथेय 248

18. चित्तमें प्रसन्नता, मनमें निर्विकल्पता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जायगी, त्यों-त्यों स्वतः आरोग्यता आती जायगी, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। -पाथेय 256

19. निश्चिन्तता तथा निर्भयता आनेसे प्राणशक्ति सबल होती है, जो रोग मिटानेमें समर्थ है। उसके लिये हरि-आश्रय तथा विश्राम ही अचूक उपाय है। -पाथेय 340

20. दुःखके भयसे प्राप्त शक्तिका ह्रास और शारीरिक तथा मानसिक रोगोंकी उत्पत्ति होती है। -दुःखका प्रभाव 87

21. शरीरका पूर्ण स्वस्थ होना शरीरके स्वभावसे विपरीत है; क्योंकि जिस प्रकार दिन और रात दोनोंसे ही कालकी सुन्दरता होती है, उसी प्रकार रोग और आरोग्य दोनोंसे ही शरीरकी वास्तविकता प्रकाशित होती है। -सन्त-समागम 1/222

22. जो रोग औषधिसे ठीक नहीं होता, उसका कारण अदृश्यकी मलिनता होती है। अदृश्यकी मलिनता शुभ कर्म आदिसे दूर होती है, औषधिसे नहीं। -सन्त-समागम 1/231

23. रोग-निवृत्तिका एक सर्वोत्तम उपाय यह भी है कि यदि रोगी रोगी-भावका सद्भाव अपनेमेंसे निकाल दे तो फिर राग बेचारा निर्जीव हो जाता है; क्योंकि 'मैं' की सत्तासे सभी सत्ताएँ प्रकाशित होती हैं।........ सद्भावसे प्रतीतिमें सत्यता आ जाती है, जो दुःखका मूल है। –सन्त-समागम 1/231-232

24. रोग यही है कि 'मैं रोगी हूँ'। औषधि यही है कि 'मैं सर्वदा आरोग्य हूँ'; क्योंकि आरोग्यतासे जातीय एकता है।......यदि एक बार भी अपनी पूरी शक्तिसे यह आवाज लगा दो कि 'मैं आरोग्य हूँ' तो रोग भाग जायगा। –सन्त-समागम 1/240

25. रोगका भय परम रोग है, और यदि हृदयमें रोगका भय न रहे तो बेचारा रोग निर्जीव हो जाता है। –सन्त-समागम 2/179

26. कभी-कभी जब प्राणी प्रमादवश विश्वनाथकी वस्तुको अपनी समझने लगता है, तब उसकी आसक्ति मिटानेके लिये 'रोग भगवान्' आते हैं। शरीर विश्वकी वस्तु है और विश्व विश्वनाथका है, उसको अपना मत समझो। –सन्त-समागम 2/179

27. मनमें स्थिरता, चित्तमें प्रसन्नता और हृदयमें निर्भयता ज्यों-ज्यों बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों आरोग्यता स्वतः आती जायगी; क्योंकि मन तथा प्राणका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः मनके स्वस्थ होनेसे शरीर भी स्वस्थ हो जाता है। –सन्त-समागम 2/229

28. वास्तवमें तो शरीरकी आसक्ति ही परम रोग है। विचारशील अपनेको शरीरसे असंग कर सभी रोगोंसे मुक्त कर लेते हैं। –सन्त-समागम 2/229

29. रोग भोगका त्याग करानेके लिये आता है। इस दृष्टिसे रोग भोगकी अपेक्षा अधिक महत्त्वकी वस्तु है। –सन्त-समागम 2/229

30. जब प्राणी तप नहीं करता, तब उसको रोगके स्वरूपमें तप करना पड़ता है। –सन्त-समागम 2/232

31. रोगसे शरीरकी वास्तविकताका ज्ञान हो जाता है, जिससे भोग-वासनाओंका त्याग करनेकी शक्ति आ जाती है। –सन्त-समागम 2/300

32. जबतक तुम्हारा मन स्थिर तथा प्रसन्न नहीं होगा, तबतक रोग मिटानेकी शक्ति जाग्रत् नहीं हो सकती; क्योंकि मनके ठीक होनेपर ही प्राणशक्ति सबल होती है और प्राणशक्तिके सबल होनेपर ही रोग मिटानेकी शक्ति आ सकती है। –सन्त-समागम 2/318

33. रोग शरीरका अभिमान मिटानेके लिये आता है। जिस दिन शरीरका अभिमान गल जायगा, उस दिन रोग बुलानेपर भी नहीं आयेगा; क्योंकि शरीर तुम्हारा होकर स्वस्थ नहीं हो सकता। अतः रोग मिटानेका सबसे सुगम उपाय यही है कि तुम शरीरको अपना मत समझो और मूक होकर हृदयसे प्रेमपात्रको पुकारती रहो। –सन्त-समागम 2/319

34. रोगसे 'अशुभ कर्मके फल' का अन्त होता है और तपसे 'अशुभ कर्म' का अन्त होता है। जिस प्रकार तपस्वीको तपके अन्तमें शान्ति मिलती है, उसी प्रकार रोगीको रोगके अन्तमें भी मिलती है। –सन्त-समागम 2/336

35. जो भोगी होता है, वह रोगी अवश्य होता है –यह नियम है। –संतवाणी 5/192

लक्ष्य (उद्देश्य)

1. लक्ष्य वह नहीं हो सकता, जिसका वियोग हो और लक्ष्य वह भी नहीं हो सकता, जिसकी प्राप्ति न हो सके। इस दृष्टिसे कोई भी परिस्थिति लक्ष्य नहीं हो सकती; परन्तु प्रत्येक परिस्थिति लक्ष्य-प्राप्तिका साधन हो सकती है। -मानवकी मांग 159

2. दर्शन तो अनेक हैं, पर जीवन एक है अर्थात् एक ही लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये अनेकों दृष्टिकोण हैं। लक्ष्यकी एकतासे सभी दार्शनिक एक हैं; किन्तु लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये साधनरूप दर्शन भिन्न-भिन्न हैं। -मानव-दर्शन 15

3. अपने लक्ष्यका निर्णय होनेपर ही अपने पथका निर्माण होता है। -मानव-दर्शन 96

4. अपना लक्ष्य वही हो सकता है, जिसकी उपलब्धि अपने ही द्वारा अपनेको हो सके। -साधन-निधि 17

5. देहादि वस्तुओंके आश्रयसे ही लक्ष्यकी प्राप्ति होगी, यही मूल भूल है। -मूक सत्संग.33

6. अपने लक्ष्यसे निराश होनेके समान और कोई भारी भूल नहीं है। -मूक सत्संग.74

7. जीवनकी सारी क्रियाएँ एक ही लक्ष्यके लिये होनी चाहिये; क्योंकि यही सच्चाई है। -संतपत्रावली 1/35

8. लक्ष्य एक ही सच्चा होता है। क्रियाओंमें अनेकता होती है, लक्ष्यमें नहीं। -संतपत्रावली 1/35

9. जब साधक अपने लक्ष्यको मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्यके द्वारा प्राप्त करना चाहता है, जो उसे विश्व-सेवाके लिये मिली हैं, तब लक्ष्यसे दूरी, भेद, भिन्नता प्रतीत होती है। -साधन-निधि 40

10. सतत परिवर्तनसे अनन्त नित्यकी ओर, उत्पत्ति-विनाशसे अमरत्वकी ओर तथा दुःखसे आनन्दकी ओर गतिशील होना ही हमारा लक्ष्य है। अतः उस लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये जो कुछ कर सकते हैं, करना है। -मानवकी मांग 190-191

11. भोग-प्राप्ति विवेकयुक्त जीवनका उद्देश्य नहीं है। विवेकयुक्त जीवनका उद्देश्य तो केवल कामनाओंकी निवृत्ति, जिज्ञासाकी पूर्त्ति और प्रेमकी प्राप्ति ही हो सकता है। -जीवन-दर्शन 247

12. उद्देश्य वही हो सकता है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवनसे हो, जिसकी पूर्त्ति अनिवार्य हो, जिसकी पूर्त्तिमें किसीका अहित न हो, और समस्त प्रवृत्तियाँ उसीके लिये हों अर्थात् समस्त जीवन उस एक लालसाकी पूर्त्तिमें ही लग जाय। -जीवन-दर्शन 282

13. आवश्यकताके ज्ञानमें ही उद्देश्यका ज्ञान विद्यमान है। -जीवन-दर्शन 282

14. उद्देश्य वही हो सकता है, जो अविनाशी हो; क्योंकि जिसको पाकर कुछ और पाना शेष रहता है, वह उद्देश्य नहीं होता। -दर्शन और नीति 44-45

15. दर्शन, सम्प्रदाय, मत एवं वाद भिन्न-भिन्न प्रकारके होनेपर भी मानवमात्रका उद्देश्य एक है। -दर्शन और नीति 106

16. कोई-कोई साधक सार्थक चिन्तन तथा निर्विकल्प स्थितिको ही जीवनका लक्ष्य मान बैठते हैं। यद्यपि 'निर्विकल्प स्थिति' बड़े ही महत्वकी वस्तु है; परन्तु उसमें रमण करना 'निर्विकल्प बोध'में बाधक है। -सफलताकी कुंजी 43

17. प्राकृतिक नियमके अनुसार व्यक्तिका लक्ष्य वही हो सकता है, जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवनसे है और जिसमें किसी भी प्रकारसे परिवर्तन सम्भव नहीं है अर्थात् लक्ष्य सदैव नित्य होता है और परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, उसमें सतत परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टिसे कोई भी परिस्थिति किसीका भी लक्ष्य नहीं हो सकती। -चित्तशुद्धि 433

18. जिसका जो लक्ष्य है, उसे वह सिखाया नहीं जा सकता; क्योंकि जो बात स्वयं जाननेकी है, उसको सीखना-सिखाना उससे विमुख होना तथा करना है। -चित्तशुद्धि 434

वस्तु

1. वस्तु संग्रहीसे बड़ा घबराती है, बड़ी दुःखी होती है...... उसका दुरुपयोग करनेवालेसे बड़ा घबराती है, बड़ी भयभीत होती है .... जो वस्तुपर अपनी ममताका पत्थर रख देता है, उससे तो वस्तु परेशान हो जाती है। -संतवाणी 7/172

2. यदि आप वस्तुओंका सदुपयोग करते हैं, यदि आप वस्तुओंमें ममता नही रखते, यदि आप वस्तुओंका संग्रह नहीं करते, तो आप सच मानिये, आपके जीवनमेंसे दरिद्रता सदाके लिये मिट जायगी। -संतवाणी 7/172

3. यदि आपके जीवनमेंसे वस्तु-विश्वास निकल जाय, वस्तु-सम्बन्ध निकल जाय और वस्तुका दुरुपयोग निकल जाय तो वस्तु तरसेगी आपकी सेवामें आनेके लिये। -संतवाणी 7/173

4. हम वस्तुको अपना मानकर अपनेको पराधीन और वस्तुका विनाश, वस्तुके विकासकी रुकावट उत्पन्न कर देते हैं। -जीवन-पथ 106

5. कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है।.......सारी शक्तियाँ, जो हमारे पास हैं, वे समष्टि शक्तियोंका ही एक हिस्सा हुआ; और समष्टि शक्ति किसी व्यक्तिकी है नहीं। -साधन-त्रिवेणी 35

6. समस्त सृष्टिको वस्तुके अर्थमें ही लेना चाहिये; क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञानसे भले ही वस्तुएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हों, पर बुद्धिके ज्ञानसे समस्त वस्तुएँ एक हैं, और बुद्धिसे अतीतके ज्ञानमें वस्तुओंका अभाव है। -संत-उद्‌बोधन 113

7. यदि वस्तुओंका अपना स्वतन्त्र सौन्दर्य होता तो उनमें परिवर्तन न होता। सतत परिवर्तन यह सिद्ध करता है कि उत्पन्न हुई वस्तुओंको किसीसे सौन्दर्य मिला है। -मानव-दर्शन 92

8. अपने लिये किसी भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्यकी अपेक्षा नहीं है। -सफलताकी कुंजी 7

9. वस्तुएँ तो हमारा त्याग कर ही रही हैं, यदि हमने भी उनका त्याग कर दिया तो वे हमारी सराहना करेंगी। वे घबड़ाती हैं, बहुत दुःखी होती हैं संग्रहसे, दुरुपयोग करनेवालेसे और उससे, जो उनपर ममताका पत्थर रख देता है। वे प्रसन्न होती हैं उससे, जो न उनसे ममता करता है, न उनका संग्रह करता है और न दुरुपयोग। उनकी प्रसन्नताकी पहचान यह है कि फिर आपके लिये आवश्यक वस्तुएँ अपने-आप आने लगती हैं, जीवनसे दरिद्रता सदाके लिये मिट जाती है। -सफलताकी कुंजी 135

10. प्राकृतिक नियम तो ऐसा है कि जो वस्तु जितनी ही अधिक उपयोगी होती है, उतनी ही सुगमतासे प्राप्त होती है। -दर्शन और नीति 55

11. जब जीवनमें वस्तुसे व्यक्तिका महत्त्व अधिक हो जाता है, तब निर्लोभताकी अभिव्यक्ति होती है। -दर्शन और नीति 60

12. वस्तु-युक्त होनेसे व्यक्तिका महत्त्व नहीं है। व्यक्तिका महत्व विवेकवित् होनेमें निहित है। -दर्शन और नीति 62

13. उत्पन्न हुई प्रत्येक वस्तु विश्वकी ही सम्पत्ति है। -दर्शन और नीति 78

14. मिली हुई वस्तुओंको व्यक्तिगत मान लेना अपनेको वस्तुओंकी दासता अर्थात् लोभमें आबद्ध करना है। लोभकी उत्पत्ति होते ही दरिद्रता अपने-आप आ जाती है। -दर्शन और नीति 120

15. अपनेसे वस्तुओंको अधिक महत्व देना दरिद्रताका आवाहन करना है। -दर्शन और नीति 121

16. मिली हुई वस्तुओंकी ममताका त्याग, अप्राप्त वस्तुओंकी कामनाका त्याग तथा मिली हुई वस्तुओंका सदुपयोग करनेपर प्राकृतिक विधानके अनुसार आवश्यक वस्तुएँ स्वतः प्राप्त होने लगती हैं। -दर्शन और नीति 123

17. शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी 'वस्तुओं' के अर्थमें आ जाते हैं। इतना ही नहीं, जिसे हम सृष्टि कहते हैं, वह भी एक 'वस्तु' ही है; क्योंकि सृष्टि अपनेको अपने-आप प्रकाशित नहीं करती। -चित्तशुद्धि 5-6

18. प्रत्येक वस्तु समस्त सृष्टिसे अभिन्न है। इस दृष्टिसे समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। तो फिर किसे अपना और किसे पराया मानोगे ? या तो सभी अपने हैं, या कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। -चित्तशुद्धि 68

19. प्राकृतिक विधानमें वस्तुओंकी न्यूनता नहीं है। कारण कि प्रत्येक वस्तु अनन्त है। ऐसा कोई बीज नहीं, जिसमें अनेक वृक्ष न विद्यमान हों अर्थात् कोई गणना ही नहीं कर सकता कि प्रत्येक दानेमेंसे कितने दाने निकल सकते हैं। इतना ही नहीं, 'कुछ नहीं' से ही 'सब कुछ' उत्पन्न होता है। -चित्तशुद्धि 97

20. वस्तुओंके महत्त्वने प्राणीको वस्तुओंसे भी वंचित किया और चिन्मय जीवनसे भी विमुख कर दिया। -चित्तशुद्धि 97

21. चिन्तनमात्रसे किसी वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती, अपितु उनकी आसक्ति ही दृढ़ होती है; क्योंकि वस्तुओंकी उत्पत्ति कर्म-सापेक्ष है, चिन्तन-जन्य नहीं। जो कर्म-सापेक्ष है, उसका चिन्तन करना चित्तको अशुद्ध करना है और कुछ नहीं। -चित्तशुद्धि 147

22. वस्तुओंके सम्बन्धने योगको भोगमें, ज्ञानको अविवेकमें और प्रेमको अनेक आसक्तियोंमें बदल दिया है। -चित्त्शुद्धि 125

23. वस्तुओंकी विमुखतामें ही अनन्तकी सम्मुखता निहित है। -चित्तशुद्धि 258

24. वस्तुओंमें अपनी स्थापना वस्तुसे 'अभेद-भाव' का और अपनेमें वस्तुकी स्थापना उनसे 'भेद-भाव' का सम्बन्ध स्थापित करती है। अभेद-भावका सम्बन्ध सत्यता और भेद-भावका सम्बन्ध प्रियता उत्पन्न करता है।.......वस्तुओंके भेद-अभेद-सम्बन्धसे ही 'अहम्' और 'मम' उत्पन्न हो जाता है, जो चित्तको अशुद्ध कर देता है। -चित्तशुद्धि 121

25. न तो अनन्त ही को ही सम्बन्ध अपेक्षित है और न वस्तुएँ ही सम्बन्ध जोड़नेमें समर्थ हैं। तो फिर वह कौन है कि जिसने वस्तुओंसे सम्बन्ध स्वीकार किया है ? इस सम्बन्धमें यही कहना युक्तियुक्त होगा कि जिसमें सत्यकी जिज्ञासा है और वस्तुओंकी कामना है, उसीने वस्तुओंसे सम्बन्ध स्वीकार किया है। -चित्तशुद्धि 124-125

26. यद्यपि वस्तुकी अपेक्षा व्यक्ति अधिक महत्त्वकी वस्तु है, परन्तु वास्तविक दृष्टिसे तो व्यक्ति भी वस्तु ही है। इतना ही नहीं, अपनी देह भी एक वस्तु ही है और समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त तथा पर-प्रकाश्य न हो। -चित्तशुद्धि 312-313

27. जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है, जिसमें सतत परिवर्तन है और जो परप्रकाश्य है, उसे 'वस्तु' कहते हैं। -चित्तशुद्धि 348

28. वस्तुओंके सम्बन्धने ही प्राणीमें जड़ता उत्पन्न कर दी और उनके द्वारा सुखकी आशाने ही पराधीन बना दिया। -चित्तशुद्धि 377

29. यह सभीकी अनुभूति है कि गहरी नींदके लिये प्राणी प्रिय-से-प्रिय वस्तु और व्यक्तिका त्याग कर देता है। प्राणीका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध किसी भी वस्तु तथा व्यक्तिसे नहीं, जिसके लिये वह निद्राका त्याग कर सके। परन्तु निद्राके लिये सभी वस्तुओं एवं व्यक्तियोंका त्याग करता ही है। इस दृष्टिसे समस्त वस्तुओंका सम्बन्ध जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थातक ही सीमित है अर्थात् किसी भी वस्तु और व्यक्तिसे नित्य सम्बन्ध नहीं है। -चित्तशुद्धि 380-381

30. वस्तुओंकी ममता लोभको और उनका दुरुपयोग मोहको उत्पन्न करता है। -चित्तशुद्धि 408

31. संसारकी सभी वस्तुओंसे बुद्धिदेवी श्रेष्ठ हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है; किन्तु सत्यतक जानेमें असमर्थ हैं, यह परम सत्य है। -सन्त-समागम 1/193

32. जिसकी उत्पत्ति हो, जिसमें परिवर्तन हो, जिसका विनाश हो, उसको वस्तु कहते हैं। इस दृष्टिसे सह सारा संसार एक वस्तु है। -संतवाणी 8/27-28

33. प्रत्येक वस्तु प्रभुकी है अथवा व्यक्तिगत रूपसे किसीकी नहीं है। यह एक विज्ञान है। -पाथेय 307

34. जो वस्तुएँ हमारे बिना रह सकती हैं अथवा हमें अप्राप्त हैं, उनकी अप्राप्तिमें ही हमारा विकास निहित है। -जीवन-दर्शन 167

35. मिला हुआ अपने लिये उपयोगी नहीं होता, अपितु दूसरोंके लिये होता है। -मानव-दर्शन 172

36.. जिस किसीको जो कुछ मिला है, वह किसीकी देन है। -मूक सत्संग.92

37. किसी वस्तुको मिटानेकी बात सोचना भी उसके अस्तित्वको स्वीकार करना है और उस वस्तुसे द्वेष करना है, जो वास्तवमें एक प्रकारका सम्बन्ध है। -मानवकी मांग 57

38. व्यक्तिगत रूपसे जिसे जो प्राप्त है, उसकी उपयोगिता दूसरोंके प्रति है और दूसरोंको जो प्राप्त है, उसकी उपयोगिता अपने प्रति है। -मानव-दर्शन 172

39. दो वर्गोंके बीच, दो व्यक्तियोंके बीच, दो देशोंके बीच आप पायेंगे कि जो जिसके पास है, वह उसके काम नहीं आता। वह दूसरेके काम आता है। और दूसरेके पास जो कुछ है, वह अपने काम आता है। -संतवाणी 5/32

विवेक

1. बुद्धि तो एक प्राकृतिक यन्त्रके समान है और विवेक प्रकृतिसे अतीत अर्थात् अलौकिक तत्त्व है। -मानवकी मांग 3

2. बुद्धि प्रकृतिका कार्य है और विवेक प्रकृतिसे परेकी अलौकिक विभूति है। -मानवकी मांग 3

3. विवेकका आदर करनेमें कठिनाई क्या है ? कठिनाई यह है कि हम मन, इन्द्रिय आदिके व्यापारको ही जीवन मान लेते हैं। -मानवकी मांग 53

4. विवेकके प्रकाशको ही जब किसी भाषा-विशेष या लिपि-विशेषमें आबद्ध कर देते हैं, तो वह 'ग्रन्थ' कहलाता है और जब उस विवेकके प्रकाशको किसीके जीवनमें देखते हैं, तो उसे 'सन्त' कहने लगते हैं। -मानवकी मांग 76

5. विवेक-विरोधी विश्वास त्याज्य है, पर विश्वासके लिये यह आवश्यक नहीं है कि विवेकका समर्थन हो। उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था आदिका विश्वास विवेक-विरोधी है। -मानव-दर्शन 90

6. किसलिये कर रहे हैं ? किस भावसे कर रहे हैं ? और कैसे कर रहे हैं ? —यदि ये तीनों बातें विवेकके प्रकाशसे प्रकाशित हैं तो समझना चाहिये कि हम करनेमें सावधान हैं। यह नियम है कि जो करनेमें सावधान है, उसका कभी ह्रास न होगा, अपितु उसका उत्तरोत्तर विकास ही होगा। -मानवकी मांग 190

7. विवेक मानवको सजगतापूर्वक अधिकार-त्यागकी प्रेरणा देता है। विवेकीके जीवनमें अधिकार-लोलुपताकी गंध भी नहीं रहती। दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करना धर्म है और अधिकार-त्यागका नाम विवेक है। -पाथेय 338

8. विवेक किसी कर्मका फल नहीं है; क्योंकि कर्मानुष्ठानके लिये प्रथम विवेक, सामर्थ्य और प्राकृतिक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। इस दृष्टिसे कर्म विवेकका कार्य है, कारण नहीं। अतः विवेक अलौकिक तत्त्व है, जो अनन्तकी अहैतुकी कृपासे मिला है। -जीवन-दर्शन 218

9. हमें सिखाया जाता है कि विवेक-विरोधी कर्म मत करो। पर, यदि विवेक-विरोधी विश्वास या सम्बन्ध रहेगा तो विवेक-विरोधी कर्म अवश्य बनेगा। इसलिये सबसे पहले विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विश्वासका नाश आवश्यक है। -सफलताकी कुंजी 133

10. आज हम विवेक-विरोधी सम्बन्ध नहीं त्यागते और गीता चाट जाते हैं, पर क्या उससे मोहका नाश होता है ?...... इससे सिद्धि नहीं मिलेगी। वह तो मिलेगी विवेक-विरोधी सम्बन्ध तोड़नेसे, जो उसी क्षण मोहका नाश कर देगा, और जिसके बिना साधनका आरम्भ ही नहीं हो सकता, चाहे गीता पढ़ें, चाहे समाधि लगावें। -सफलताकी कुंजी 134

11. यह भी नहीं हो सकता कि विवेक-विरोधी सम्बन्धका त्याग धीरे-धीरे हो। सम्बन्धके टुकड़े नहीं होते। सम्बन्ध जब टूटता है तो एक साथ टूटता है। -सफलताकी कुंजी 134

12. रागरूपी भूमिमें ही विवेक-विरोधी कर्मका जन्म होता है। यह नियम है कि जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु स्वतः होती है; किन्तु जन्मका कारण रहते हुए नाश होनेपर भी उत्पत्ति होती रहती है। -दर्शन और नीति 8

13. जो कुछ हो रहा है, वह मंगलमय विधानसे हो रहा है और जो कुछ करना है, वह विवेकपूर्वक करना है। मंगलमय विधान और विवेक —इन दोनोंमें जातीय एकता है। निज-विवेक व्यक्तिगत विधान और प्राकृतिक विधान समष्टि विधान है। व्यष्टि और समष्टिमें जातीय तथा स्वरूपकी एकता है। इस दृष्टिसे निज-विवेकके प्रकाशमें किया हुआ कर्म अनन्तके मंगलमय विधानके अनुरूप ही होता है। -दर्शन और नीति 43-44

14. विवेक वह प्रकाश है, जिसमें बुद्धि-दृष्टि द्वारा मानव इन्द्रिय-दृष्टिपर विजय प्राप्त करता है। -दर्शन और नीति 62-63

15. विवेकका महत्त्व सत्यकी ओर अग्रसर होनेमें है, विवादमें नहीं। विवेक साधन है, साध्य नहीं। साधनका अनुसरण सिद्धिदाता है; किन्तु साधनकी ममता साधनके रूपमें असाधन है। -दर्शन और नीति 63

16. विवेक-विरोधी कर्मसे ही अकर्तव्यका, विवेक-विरोधी सम्बन्धसे ही देहाभिमानका एवं विवेक-विरोधी विश्वाससे ही वस्तु, व्यक्ति आदिके विश्वासका जन्म हुआ है। -दर्शन और नीति 146

17. निज विवेकका अनादर और इन्द्रियोंके ज्ञानका आदर ही साधकको देहसे असंग नहीं होने देता। इन्द्रियोंके ज्ञानका उपयोग भले ही हो, पर आदर निज-विवेकका होना चाहिये। -चित्तशुद्धि 81

18. कार्य कर्ताका ही एक चित्र है, और कुछ नहीं। कर्तामें शुद्धि कार्यके आरम्भसे पूर्व होनी चाहिये अर्थात् शुद्ध कर्तासे ही शुद्ध कार्यकी सिद्धि हो सकती है। कर्तामें शुद्धता भावकी शुद्धिसे आती है और भावमें शुद्धि निज विवेकके आदरमें है। -चित्तशुद्धि 154-155

19. अविवेक विवेकका अभाव नहीं, अपितु विवेकका अनादर है। -चित्तशुद्धि 164

20. विवेकके अनादरसे ही काम, कामना और अकर्तव्यका जन्म होता है। -चित्तशुद्धि 400

21. विवेकरूपी विधानमें कर्तव्यविज्ञान, योगविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान विद्यमान है। यदि प्राणी प्राप्त विवेकका अनादर न करे तो अकर्तव्य, भोग और मिथ्या अहंभावकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।..... विवेकका अनादर ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिमें अहंभाव उत्पन्न करता है, जिससे कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी उत्पत्ति होती है अर्थात् प्राणी अपनेको कर्ता और भोक्ता मान लेता है।

-चित्तशुद्धि 398

22. विवेकका सूर्य उदय होते ही यह जो कुछ दिखायी देता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और फिर भोग 'योग' में तथा अविवेक 'बोध' में परिवर्तित हो जाता है। -संतवाणी 8/7

23. विवेक-विरोधी सम्बन्ध धीरे-धीरे नहीं तोड़ा जाता। सम्बन्धके टुकड़े नहीं हुआ करते। सम्बन्ध जब टूटता है, तब एक साथ टूटता है। -संतवाणी 7/170

विश्वशान्ति

1. अपनेसे सुखीको देखकर प्रसन्न हो जाय एकदम, और दुःखियोंको देखकर करुणित हो जाय। यह विश्वशान्तिका महामन्त्र है।
-संतवाणी 4/100

2. सामर्थ्यका सदुपयोग विश्वशान्तिका मूल मन्त्र है। -प्रेरणा पथ 160

3. विश्वशान्ति कब होगी ? जब प्रत्येक भाईमें, प्रत्येक बहनमें यह चेतना आ जाय कि मैं मानव पहले हूँ, हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, पारसी, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट और जाने क्या-क्या पीछे हूँ। मैं बलका दुरुपयोग नहीं करूँगा; क्योंकि मैं मानव हूँ, इन्सान हूँ।
-साधन-त्रिवेणी 101

4. अगर आप यह चाहते हैं कि विश्वशान्तिका प्रश्न हल हो जाय; कल्पना न रहे, स्वप्न न रहे; तो हम सबको इस बातका व्रत लेना होगा कि हम किसीको बुरा नहीं समझेंगे। -साधन-त्रिवेणी 102

5. जबतक आप इतनी महानतासे नहीं सोचेंगे कि 'यह' एक संसार है और 'वह' एक परमात्मा है, तबतक विश्वशान्तिका प्रश्न हल नहीं हो सकता। -साधन-त्रिवेणी 109

6. अगर आप समझते हैं कि मजहब बदलनेसे, इज़्म बदलनेसे, परिस्थिति बदलनेसे विश्वशान्ति हो जायगी तो यह बिल्कुल भ्रम है; क्योंकि परिस्थिति कैसी भी हो, सब अभावयुक्त हैं। कोई परिस्थिति शान्तिदायक नहीं होती। परिस्थितिका सदुपयोग ही शान्तिदायक होता है। -साधन-त्रिवेणी 111

7. कर्तव्य-परायणतासे विश्वशान्तिकी समस्या हल हो जाती है। -सफलताकी कुंजी 54

8. एक शरीरमें भी प्रत्येक अवयवकी आकृति तथा कर्म अलग-अलग हैं; किन्तु फिर भी शरीरके प्रत्येक अवयवमें प्रीतिकी एकता है। कर्ममें भिन्नता होनेसे प्रीतिका भेद नहीं होता। इसके मूलमें कारण यही है कि समस्त शरीर एक है। इस बातमें किसीका विरोध नहीं है। उसी प्रकार यदि विश्वकी एकतामें आस्था कर ली जाय तो भाषा, मत, कर्म, विचार-धारा, पद्धति, आकृति, रहन-सहन आदिमें भिन्न-भिन्न प्रकारका भेद होनेपर भी प्रीतिकी एकता सुरक्षित रह सकती है। -दर्शन और नीति 17

9. तत्त्ववेत्ताओंसे अथवा परम भक्तोंसे विश्वका कल्याण स्वयं होता है। अन्तर सिर्फ यही होता है कि विश्व उनको नहीं जान पाता कि ये हमारा कल्याण कर रहे हैं अर्थात् वे भौतिक दृष्टिसे 'लीडर' के रूपमें नहीं दिखायी देते।.......... स्थूलशरीरके अभिमानके कारण साधारण प्राणी सूक्ष्म सेवाको देख नहीं पाते, यह उनकी दृष्टिकी कमी है। -सन्त-समागम 1/79

10. शरीर विश्वकी वस्तु है; अतः उसे प्रसन्नतापूर्वक विश्वको दे देना चाहिये। हम जब विश्वकी वस्तुको किसी कान्पनिक समाज, राष्ट्र एवं सम्प्रदायको दे देते हैं, तब विश्वमें घोर अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। इस अशान्तिका मूल कारण यही है कि जो विश्वकी वस्तु है, उसे हम विश्वको नहीं देते। -सन्त-समागम 2/14

विश्वास

1. 'यह' का जो विश्वास है, वह विवेक-विरोधी विश्वास है। लेकिन 'है' का जो विश्वास है, वह विवेक-विरोधी नहीं है। -संतवाणी 4/34

2. प्रभु-विश्वास किसी और जरूरतसे रखोगे, तो वह साध्य न रहकर साधन बन जायगा। जब परमात्मा साध्य न रहकर साधन बन जायगा, तब परमात्मा दूर हो जायगा। -संतवाणी 7/53

3. विश्वास करनेयोग्य एकमात्र सर्वसमर्थ प्रभु हैं। -मानवकी मांग 201

4. देखे हुएमें विश्वास और बिना देखे हुएपर विचार करना विश्वास और विचारका दुरुपयोग है। -मानव-दर्शन 20

5. आपको जो व्यक्ति मिला है, वह विश्वास करनेके लिये नहीं, सेवा करनेके लिये मिला है। आपको जो वस्तुएँ मिली हैं, वे संग्रह करनेके लिये अथवा विश्वास करनेके लिये नहीं, सदुपयोग करनेके लिये मिली हैं। -मानवकी मांग 56

6. आप देखे हुएमें विश्वास करेंगे तो धोखा खायेंगे। -संतवाणी 5/87

7. जाननेका जन्म सन्देहसे होता है और विश्वासकी उत्पत्ति निःसन्देहतासे होती है अर्थात् सन्देह जिज्ञासा जाग्रत् करता है और निःसन्देहता विश्वास उत्पन्न करती है। -मानवकी मांग 201

8. ज्ञानसे विश्वकी निवृत्ति और विश्वाससे विश्वनाथकी प्राप्ति होती है। -पाथेय 310

9. विश्वास उसीमें हो सकता है, जिसको साधकने इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टिसे देखा नहीं। -सत्संग और साधन 62

10. देखे हुएमें विश्वास करनेसे तो साधकके जीवनमें अनेक विकार उत्पन्न हुए हैं। -सत्संग और साधन 62

11. जिसकी उपलब्धि कर्म तथा विवेकसे सिद्ध है, उसमें विश्वास करना भूल है। साधकको विश्वास एकमात्र उन्हींमें करना है, जिन्हें वह विश्वासके अतिरिक्त किसी अन्य प्रकारसे प्राप्त नहीं कर सकता। -सत्संग और साधन 68

12. मिले हुएको अपना मान लेना विवेक-विरोधी विश्वास है। इस विश्वाससे ही विकारोंकी उत्पत्ति होती है। -दुःखका प्रभाव 43

13. देह-विश्वास होनेपर ही देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि अनेक प्रकारके विश्वास स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं और देह-विश्वासका अन्त होते ही ये सब अपने-आप मिट जाते हैं। -जीवन-दर्शन 103

14. यह नियम है कि जिसपर विश्वास हो जाता है, उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता स्वतः होने लगती है। -चित्तशुद्धि 45

15. वस्तुओंसे अतीत जो अनन्त है, उसका विश्वास प्राणीको वस्तुओंकी दासतासे मुक्त ही नहीं कर देता, अपितु उस अनन्तसे सम्बन्ध जोड़नेमें भी समर्थ होता है। -चित्तशुद्धि 134

16. विकल्परहित विश्वास किसी वस्तु आदिपर नहीं हो सकता; क्योंकि जिसके सम्बन्धमें अधूरी जानकारी होती है, उसके सम्बन्धमें सन्देह होता है, विश्वास नहीं। -चित्तशुद्धि 231-232

17. विश्वासमें सम्बन्ध जोड़नेका सामर्थ्य स्वतःसिद्ध है। जिसपर विश्वास होता है, उसमें ममता हो ही जाती है। यह नियम है कि ममता प्रियताको जाग्रत् करती है। -चित्तशुद्धि 232

18. विश्वास उसपर नहीं करना चाहिये, जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा जानते हों। विश्वास उसपर होना चाहिये, जिसे कभी किसी इन्द्रिय द्वारा विषय नहीं किया। -चित्तशुद्धि 390

19. विकल्प-रहित विश्वास यद्यपि ज्ञान नहीं है, परन्तु जीवनमें उसका प्रभाव ज्ञानके समान ही होता है। -साधन-तत्त्व 26

20. उस विश्वासको ही उसका विश्वास कहते हैं, जिसके सम्बन्धमें कोई कुछ नहीं जानता; किन्तु उसकी माँग जीवनमें है।

21. जिसके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते हैं, उससे सम्बन्ध जोड़नेमें भी विश्वास ही हेतु है अर्थात् आस्तिकताका मूल विश्वास ही है। -साधन-तत्त्व 64

22. धर्म और विवेक भी ईश्वर-विश्वाससे ही पुष्ट होते हैं और सुरक्षित रह सकते हैं। हरेक परिस्थितिमें ईश्वर-विश्वास ही काम करता है। उसीके बलपर मनुष्य अपने लक्ष्यतक पहुँच सकता है। -संत-सौरभ 174

23. सांसारिक व्यक्तियोंका विश्वास बड़ा भयानक सिद्ध हुआ है। इनपर विश्वास करके मनुष्य बहुत धोखेमें आ जाता है। अधिक क्या, साधकको तो अपने शरीर, मन और बुद्धिपर भी विश्वास नहीं करना चाहिये। विश्वासके योग्य तो एकमात्र ईश्वर ही है। -संत-सौरभ 174

24. जबतक मनुष्य संसारपर विश्वास करता है, उसको अपना मानता रहता है, तबतक वह खतरेसे खाली नहीं है। संसारकी सब चीजें धोखा देती हैं। -संत-सौरभ 175

विश्राम

1. विश्राम मिलता है तीन प्रकारसे –या तो जाने हुएके आदरसे, या तो मिले हुएके सदुपयोगसे, या अनन्तकी शरणागति से।
–संतवाणी 4/201

2. उस विश्राममें भक्तका भगवान् मौजूद है, जिज्ञासुका तत्त्वज्ञान मौजूद है और योगीका योग मौजूद है।........ जो चीज सभीको मिल सकती है, वह विश्राममें है, श्रममें नहीं। –संतवाणी 6/178

3. निर्विकल्पता, समता, असंगता और शरणागति –ये चार स्तम्भ हम लोगोंको विश्रामके मालूम होते हैं। ये चारों विश्रामके साम्राज्यमें प्रवेश करनेके दरवाजे हैं। –जीवन-पथ 50

4. हम अपने लिये यह करेंगे, इससे हमें कुछ मिलेगा, हमें जगत्‌से कुछ मिलेगा, हमें प्रभुसे कुछ मिलेगा। तो जबतक ये बातें जीवनमें रहती हैं, तबतक विश्राम नहीं मिलता। –जीवन-पथ 51

5. आवश्यक कार्य पूरा कर दो और अनावश्यक कार्य छोड़ दो और उसके बदलेमें कुछ न चाहो तो विश्राम मिलता है।
–साधन-त्रिवेणी 55

6. विश्राम अकर्मण्यता या आलस्य नहीं है, इसलिये आवश्यक कार्यके सम्पादन तथा अनावश्यक कार्यके त्यागसे साध्य है।
–संत-उद्‌बोधन 96

7. मनुष्यके जीवनमें करना और पाना ही श्रम है। अतएव इसका अन्त होनेपर ही सच्चा विश्राम है। –संत-उद्‌बोधन 163

8. शरीरसे काम न करनेका नाम श्रम-रहित होना नहीं है। श्रम-रहित होनेका अर्थ है –संकल्प-रहित होना। –संत-उद्‌बोधन 168

9. सत्‌का संग तो एकमात्र अहंकृति-रहित विश्राममें ही निहित है। –मूक सत्संग.73

10. विश्राम कोई अभ्यास तथा अनुष्ठान नहीं है। वह किसीके सहयोगसे सिद्ध नहीं होता, अपितु अपने ही द्वारा अपनेको साध्य है। –मूक सत्संग.115

11. विश्राम ही श्रमके आदि और अन्तमें है। जो आदि और अन्तमें है, उसीमें जीवन है, वही अविनाशी है। उससे अभिन्न होना ही सत्‌का संग है। –मूक सत्संग.117

12. अहंकृति-रहित हुए बिना विश्राम नहीं मिलता। –मूक सत्संग.132

13. राग-रहित भूमिमें ही चिर विश्राम निहित है। –पाथेय 137

14. श्रम शरीरसे तादात्म्य जोड़ता है और विश्राम शरीरसे असंग कर देता है। –पाथेय 294

15. विश्राम उन्हींको प्राप्त होता है, जो अपनेको सभी वस्तु, अवस्था आदिसे असंग कर लेते हैं। –जीवन-दर्शन 129

16. शारीरिक विश्राम आवश्यक श्रमसे, मानसिक विश्राम अनावश्यक संकल्पोंके त्यागसे और बौद्धिक विश्राम संकल्पपूर्त्तिके सुखका त्याग करनेसे प्राप्त होता है। –जीवन-दर्शन 129-130

17. विश्राम उसीको प्राप्त होता है, जो अपनेमें अपना कुछ नहीं पाता एवं जो न तो प्राप्तका दुरुपयोग करता है और न अप्राप्त वस्तुओंकी इच्छा ही। –जीवन-दर्शन 130

18. विश्रामके लिये यह महामन्त्र अपनाना अनिवार्य है कि अपने लिये कभी कुछ नहीं करना है और न आजतक किया हुआ अपने काम आया है। कर्मका परिणाम जो कुछ होता है, उसकी पहुँच शरीरतक ही रहती है। –सफलताकी कुंजी 40

19. अपनेको जो चाहिये, वह अपनेमें है। जो अपनेमें है, वह किसी श्रमसे साध्य नहीं है, अपितु विश्रामसे ही साध्य है। विश्रामके लिये किसी भी मिली हुई वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यकी अपेक्षा नहीं है। –सफलताकी कुंजी 121

20. सभी परिस्थितियाँ स्वभावसे ही परिवर्तनशील हैं और विश्राम अपने ही में मौजूद है। जो अपनेमें है, उससे विमुख होना और जिन परिस्थितियोंमें सतत परिवर्तन है, उनको महत्त्व देना और उनके पीछे दौड़ना ही साधकको विश्रामसे वंचित रखता है।
–चित्तशुद्धि 35-36

21. जब जीवनमें विश्राम आ जाता है, तब निस्सन्देहता भी आ जाती है, एवं जब निस्सन्देहता आती है, तब प्रेमका भी प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है। –चित्तशुद्धि 38

22. यदि कार्यके अन्तमें विश्राम नहीं मिलता तो समझना चाहिये कि कार्य करनेमें कोई असावधानी अवश्य हुई है, नहीं तो विश्रामका प्राप्त होना स्वाभाविक है। –चित्तशुद्धि 44

23. ऐसा कोई सामर्थ्य है ही नहीं, जिसका उद्‌गम-स्थान विश्राम न हो। –चित्तशुद्धि 155

24. विश्राम तीन प्रकारसे उपलब्ध होता है –वर्तमान कार्यको पवित्र भावसे, पूरी शक्ति लगाकर एवं लक्ष्यपर दृष्टि रखकर करनेसे, विवेकपूर्वक चाहरहित होनेसे, और विश्वासपूर्वक अनन्तकी अहैतुकी कृपाके आश्रित होनेसे। –चित्तशुद्धि 155

25. आलस्य और विश्राममें एक बड़ा भेद है। आलसी प्राणी सदैव वस्तुओंके चिन्तनमें आबद्ध रहता है और जिसे चिर विश्राम प्राप्त है, वह वस्तुओंके चिन्तनसे रहित हो जाता है। -चित्तशुद्धि 379

26. ऐसी कोई 'गति' नहीं, जिसका उद्‌गम विश्राम न हो; ऐसी कोई 'स्थिति' नहीं, जो विश्रामसे सिद्ध न हो; और ऐसा कोई 'विचार' नहीं, जिसका उदय विश्राममें निहित न हो।....... योग, ज्ञान तथा प्रेमकी प्राप्ति चिर विश्राममें ही निहित है। -चित्तशुद्धि 382-383

27. करनेकी रुचिका नाश हुए बिना किसीको भी विश्राम नहीं मिलता, जिसके बिना आवश्यक विकास नहीं होता। -चित्तशुद्धि 431

28. कोई व्यक्ति, कोई देश, कोई काल ऐसा नहीं है कि जिससे आदमी ऊबकर अलग होकर विश्राम नहीं चाहता। प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें मनुष्य विश्राम चाहता है –न करना चाहता है, न करनेकी सोचता है। -सन्त-समागम 2/69

29. श्रम है संसारके लिये और विश्राम है अपने लिये। जब कोई काम करने चलो, तो यह मानकर मत चलो कि मुझे क्या लाभ होगा ? बल्कि यह सोचकर चलो कि इससे परिवारको क्या लाभ होगा, संसारको क्या लाभ होगा ? -संत-उद्‌बोधन 11

30. 'श्रम ही जीवन है' –यह तभीतक प्रतीत होता है, जबतक वास्तविक विश्राम अप्राप्त है। -मूक सत्संग.135

वैराग्य

1. विरक्तिका वास्तविक अर्थ है –इन्द्रियोंके विषयोंसे अरुचि अर्थात् भोगकी अपेक्षा भोक्ताका मूल्य बढ़ा लेना। भोक्ता भोगके बिना भी सहर्ष रह सके, यही उसका मूल्य बढ़ जाना है। –मानवकी मांग 7

2. वैराग्यकी प्राप्तिका अचूक साधन तो अपने विवेकका आदर करना है। –संत-उद्‌बोधन 150

3. वीतराग होनेमें ही चरित्र-निर्माणकी पराकाष्ठा है और वीतराग होनेमें ही पूर्ण मानवताका विकास है। –मानवकी मांग 214

4. अनित्य जीवनकी निराशाके समान न तो कोई विवेक है, न कोई त्याग है, न कोई प्रायश्चित्त है और न कोई तप है। कारण कि अनित्य जीवनसे निराश होते ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही जीवन ही में मृत्युका अनुभव और अमरत्वकी प्राप्ति हो जाती है। –जीवन-दर्शन 46

5. मनुष्यको जब वैराग्य होता है, तब सत्यकी खोजके अलावा मेरा और भी कोई कर्तव्य है –यह बात उसे नहीं सूझती। वह तो सब कुछ त्याग करके तत्परताके साथ सत्यकी खोजमें लग जाता है। –सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 35

6. कर्तव्य-विज्ञानका नाम ही धर्म है और धर्म-आचरणका फल वैराग्य है। –संत-सौरभ 89

7. जिसको वैराग्य हो गया अथवा आत्मरतिकी प्राप्ति हो गयी, उसके लिये कोई कार्य शेष नहीं रहता। धर्मका पालन तो वैराग्य होनेतक ही करना पड़ता है। कारण, धर्मके पालनसे वैराग्य जगता है। वैराग्य होनेपर तो सब प्रकारके धर्म और कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है। –संत-उद्‌बोधन 150

शरणागति

1. जैसे कोई कहे 'हमने प्रभुकी शरणागति स्वीकार कर ली', अरे भैया, तुमने स्वीकार की तो उससे अहम्‌को पोषित क्यों करते हो ? शरणागति तो अहम्‌को गलानेके लिये है। -जीवन-पथ 64

2. आस्था, श्रद्धा, विश्वाससे युक्त शरणागत 'शरणानन्द' से अभिन्न होता है। -संत-उद्‌बोधन 201

3. प्रियताका क्रियात्मक रूप सेवा ही है। इस दृष्टिसे शरणागतिमें भी कर्तव्यपरायणता आ जाती है। -मानव-दर्शन 115

4. शरणागतिकी साधनासे अहंभावरूपी अणुका नाश हो जाता है, जिसके होते ही सभीको सब कुछ मिल जाता है, और फिर किसी प्रकारका अभाव, पराधीनता एवं नीरसता शेष नहीं रहती, जो जीवनका लक्ष्य है। -संत-उद्‌बोधन 58

5. शरणागत साधक अपनेमें अपना करके कुछ नहीं पाता। -साधन-निधि 47

6. शरणागति दीनता नहीं है, अपितु नित्य-सम्बन्धकी स्मृति है। -साधन-निधि 50

7. अहंकृति रहते हुए शरणागति सिद्ध नहीं होती। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक अपनेको समर्पण करने ही में शरणागति निहित है। इस दृष्टिसे मूक सत्संगसे ही शरणागति सजीव होती है। अहम्‌के समर्पणमें ही अहम्‌का नाश है। अहम् और ममका नाश ही वास्तविक शरणागति है। -मूक सत्संग.199

8. कृतिका आश्रय रखकर शरणागत नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है। जिसे अपने लिये कुछ भी करना है, भला वह अपनेको कैसे समर्पित कर सकता है ? और जो अपनेको समर्पित नहीं कर सकता, वह भला शरणागत कैसे हो सकता है ? -मूक सत्संग.199

9. जिस प्रकार अनन्तकालका अन्धकार वर्तमानमें नाश हो जाता है, उसी प्रकार जन्म-जन्मान्तरके विकार शरणागत होते ही स्वतः मिट जाते हैं। -संतपत्रावली 1/26

10. विवेकपूर्वक असंगता अथवा विश्वासपूर्वक समर्पण –इन दोनोंका फल एक है। -पाथेय 28

11. शरणागतकी दृष्टिमें किसी औरका अस्तित्व ही नहीं रहता। वह अनेक रूपोंमें अपने शरण्यको ही पाता है और प्रत्येक घटनामें उन्हींका दर्शन करता है। -संतपत्रावली 2/125

12. अपने रचयिताके संकल्पमें अपने सभी संकल्प विलीन करना वास्तविक शरणागति है। -संतपत्रावली 2/193

13. शरणागत होनेमें ही साधकके पुरुषार्थकी परावधि है। -पाथेय 177

14. किसी भी कालमें कोई और है ही नहीं। सर्वरूपमें अपने ही प्रेमास्पद हैं। किसी औरका भास होना ही अपनी भूल है। इस भूलका अन्त शरणागत होते ही स्वतः हो जाता है। -पाथेय 183

15. शरणागति सफलताकी कुंजी है और साधकके पुरुषार्थकी परावधि है। शरणागतके जीवनमें भय, चिन्ता तथा निराशाके लिये कोई स्थान ही नहीं है। शरणागत शरण्यको अत्यन्त प्रिय है; कारण कि शरणागतका कोई और नहीं है। -पाथेय 259

16. प्रीति और प्रियतमके नित्य विहारमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है, जो एकमात्र शरणागतिसे ही साध्य है। -पाथेय 260

17. जिन्होंने उनकी अहैतुकी कृपाका आश्रय लेकर शरणागति स्वीकार की, वे सभी उनके प्रेम-धनको पा गये। -पाथेय 265

18. शरणागतको सदाके लिये बेमनका हो जाना चाहिये। -पाथेय 272

19. जब साधक अपनेमें भलीभाँति असमर्थताका अनुभव कर लेता है, तभी शरणागत होनेका अधिकारी होता है। -सत्संग और साधन 84

20. समर्पण और पुरुषार्थमें विरोध नहीं है।..... पुरुषार्थसे शरणागति और शरणागतिसे पुरुषार्थ स्वतः होने लगता है। -चित्तशुद्धि 179

21. विकल्परहित विश्वासके आधारपर जब साधक 'अहम्' और 'मम' को उस अनन्तके समर्पण कर देता है, तब भी वही दिव्य जीवन प्राप्त होता है, जो पुरुषार्थ-साध्य है। -चित्तशुद्धि 181

22. कुछ न माँगना अथवा कुछ न करना समर्पण है। केवल शान्तिके पुजारी त्यागपूर्वक तत्त्वज्ञानसे शान्ति पाते हैं। केवल शक्तिके पुजारी तप, योग, संयम आदिसे शक्ति पाते हैं। परन्तु समर्पित होनेपर त्याग तथा तप स्वाभाविक हो जाते हैं। अतः समर्पित होनेवाला शक्ति और शान्ति दोनों पाता है। -सन्त-समागम 1/113-114

23. शरणागत होनेपर फिर और कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। यह भक्तियोगका अन्तिम साधन है। शरणागति जीवनमें केवल एक बार होती है। जिस प्राणीको अपने व्यक्तित्वका कुछ भी अभिमान नहीं रहता, वही शरणागतिके रसको चख सकता है। -सन्त-समागम 1/156

24. सच्चा समर्पण जीवनमें एक बार होता है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। -सन्त-समागम 1/159

25. शरणागति-भाव भक्तियोगका अन्तिम साधन है, जो सिर्फ जीवनमें एक बार आता है। -सन्त-समागम 1/241

26. कोई भी वस्तु एवं अवस्था ऐसी नहीं है, जो निरन्तर परिवर्तन न कर रही हो, मानो हमें सिखा रही हो कि हमको किसी भी सीमित भावमें आबद्ध नहीं रहना चाहिये, प्रत्युत अपने परम स्वतन्त्र केन्द्रकी ओर प्रगतिशील होना चाहिये, जो शरणागत होनेपर सुगमतापूर्वक हो सकता है। -सन्त-समागम 2/37

27. जो-जो व्यक्ति उससे न्यायानुसार जो-जो आशा करता है, उसके प्रति शरणागत वही अभिनय करता है। अपने लिये वह शरण्यसे भिन्न और किसीकी आशा नहीं करता, अथवा यों कहो कि शरणागत सबके लिये सब कुछ होते हुए भी अपने लिये शरण्यसे भिन्न किसी अन्यकी ओर नहीं देखता। -सन्त-समागम 2/39-40

28. पूर्ण साधन तो वही है, जो साधकको साध्यसे विभक्त न होने दे। इस दृष्टिसे शरणागति-भाव सर्वोत्कृष्ट साधन है। -सन्त-समागम 2/40

29. पतित-से-पतित प्राणी भी शरणागत होते ही पवित्र हो जाता है। -सन्त-समागम 2/41

30. यह नियम है कि जो जिसके काम आता है, वह उसका प्रेम-पात्र हो जाता है। अतः इसी नियमानुसार शरणागत शरण्यका शरण्य हो जाता है। -सन्त-समागम 2/41

31. शरणागत हो जानेपर करनेके भावका अन्त हो जाता है और यह ज्ञात होता है कि अब कुछ भी करना शेष नहीं है। करनेका भाव अहंकारको मिटने नहीं देता। -सन्त-समागम 2/183

32. जो सच्चाईपूर्वक प्रभुके शरणागत हो जाते हैं, उनको आवश्यक वस्तुएँ बिना माँगे ही मिल जाती हैं, और अनावश्यक माँगनेपर भी नहीं मिलतीं। -सन्त-समागम 2/334

33. हम अपने शरीरको अपना मानते हैं और बहुत महत्त्व देते हैं, इसलिये संसार इसे महत्त्व नहीं देता। एक सम्पत्तिके दो मालिक नहीं हो सकते। जो वस्तु प्रभुकी हो जाती है, उसकी व्यवस्था आप-से-आप हो जाती है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 24

34. संसार और शरीरसे विमुख होकर अपने-आपको प्रभुके समर्पण करके उनपर निर्भर रहनेमें, उनकी अहैतुकी कृपाके आश्रित हो जानेमें किसी प्रकारकी भी कठिनाई नहीं है। अतः यह साधन अत्यन्त सुगम और अमोघ है। -संत-सौरभ 58

35. जबतक साधककी ईश्वरमें सर्वोत्कृष्ट बुद्धि नहीं होती, तबतक वह ईश्वरके शरणागत नहीं हो सकता। -संत-सौरभ 162

36 शरणागति कोई अभ्यास नहीं है। शरणागति भाव है। शरणागतिका अर्थ केवल इतना है कि उस सुने हुए प्रभुके समर्पित अपनेको कर देना। -संतवाणी 4/34

शरीर

1. परिवारकी सेवा करके शरीरके लिये अधिकार मत जमाओ। अपने शरीरकी जरूरतोंको परिवारकी मरजीपर छोड़ दो। तब देखो, तुम्हें कितनी शान्ति मिलती है ! –साधन-त्रिवेणी 50

2. परमात्माको पानेके लिये आपको कोई सामग्री नहीं चाहिये। जब कोई सामग्री नहीं चाहिये तो शरीरका क्या अचार डालोगे ? यह परमात्माकी प्राप्तिमें तो काम आयेगा नहीं। शरीरके द्वारा परमात्माके संसारकी सेवा कर दो। –साधन-त्रिवेणी 53-54

3. शारीरिक आवश्यकता सामाजिक सेवासे स्वतः पूरी होती है। –साधन-त्रिवेणी 55

4. शरीरको बनाये रखनेका जो संकल्प है, वह समाज-सेवाके लिये है। शरीरके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति होती नहीं, शरीरके द्वारा जीवन्मुक्ति मिलती नहीं, शरीरके द्वारा चिरशान्ति होती नहीं। –साधन-त्रिवेणी 55

5. शरीरका मालिक वही है, जो सृष्टिका मालिक है। मैं इस शरीरका मालिक नहीं हूँ। यह बात जिसने स्वीकार की, उसका देहाभिमान नाश होगा। –साधन-त्रिवेणी 82

6. शरीरके सहयोगके बिना हम क्या कर सकते हैं ? हम अचाह हो सकते हैं, अप्रयत्न हो सकते हैं और श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक शरणागत हो सकते हैं। –संत-उद्बोधन 59

7. बेचारा शरीर और संसार हमारी माँगकी पूर्त्तिमें लेशमात्र भी बाधक अथवा सहायक नहीं है। –संत-उद्बोधन 59

8. साधकोंको वास्तवमें अपने लिये किसी भी कालमें शरीरकी आवश्यकता नहीं है। –संत-उद्बोधन 61

9. विवेकपूर्वक शरीरसे अपनेको अलग स्वीकार करनेपर जगत्की आवश्यकता नहीं रहती। –संत-उद्बोधन 133

10. शरीर हमारा अस्तित्व नहीं है। हमारी जो साधना है, हमारा जो आचरण है, वही हमारा अस्तित्व है। –मानवकी मांग 31

11. किसीसे कोई पूछे कि तुम खूनमें, हड्डियोंमें, मांसमें, मज्जामें, मूत्रमें रहना चाहते हो ? तो सभी विचारशील यही कहेंगे कि नहीं रहना चाहते। कारण कि मलिनता किसीको प्रिय नहीं। अब हम स्वयं सोचें कि देहमें मलिनताके अतिरिक्त क्या है, तो मानना होगा कि कुछ नहीं। –मानवकी मांग 33

12. जहाँ देह है, वहीं मृत्यु है। –मानवकी मांग 34

13. वस्तुओंका सम्बन्ध प्राणतक है, इससे आगे नहीं। प्राणका सम्बन्ध शरीरतक है, इससे आगे नहीं और शरीरका सम्बन्ध मृत्युसे पूर्वतक है, इससे आगे नहीं। –मानवकी मांग 56

14. यदि किसीसे कहा जाय कि सुवर्णके कलशमें मल-मूत्रादि भरकर और रेशमसे ढककर क्या उसे अपने पास रखना पसन्द करोगे ? तो सभी भाई-बहन कह देंगे, नहीं। फिर हम शरीरको सुन्दर-सुन्दर अलंकारों एवं वस्त्रोंसे सुशोभित क्यों रखते हैं ? तो कहना होगा –बुद्धिजन्य ज्ञानके निरादरसे। –मानवकी मांग 82

15. कोई भी देहसे तादात्म्य कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं कर सकता, और अपनेको देहसे अलग मानकर किसीको भी अपने लिये संसारसे कुछ प्राप्त नहीं हुआ। तो फिर मानना ही होगा कि प्रतीतिमें प्रवृत्ति तो होती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती। –मानवकी मांग 91

16. आप कोई ऐसी वस्तु बतायें जो देहसे अपनेको अलग माननेपर आपको मिलती है। –मानवकी मांग 91

17. देहकी ममताका त्याग करना है, उससे घृणा नहीं करना है। –मानवकी मांग 202

18. देहादि वस्तुओंके विश्वासने ही हमें प्रभु-विश्वाससे और देहमें अहंबुद्धिने ही हमें अमर जीवनसे विमुख कर दिया है। –मानवकी मांग 202

19. शरीरके न रहनेपर भी जीवन है, तो फिर शरीरको बनाये रखनेकी कामना क्या अर्थ रखती है ? कुछ नहीं। –साधन-निधि 36

20. देहादि वस्तुओंके सदुपयोगका दायित्व है, पर उनके आश्रयसे अपना हित होगा, यह धारणा भ्रममूलक है। –मूक सत्संग.33

21. स्वधर्मनिष्ठ होनेपर शरीरधर्मका पालन प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः होने लगता है। –मूक सत्संग.64

22. जो लोग शरीरके लिये संसारको समझते हैं, वे विषयोंके दास हो वासनारूपी जालमें फँसकर दुःख उठाते हैं। और जो शरीरको संसारके लिये समझते हैं, वे संसारसे पार हो नित्य आनन्द प्राप्त करते हैं। –संतपत्रावली 1/21

23. जैसे संसार मुझसे अलग है, जितना दूर है, यह शरीर भी मुझसे उतना ही दूर है। जैसे संसारपर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, वैसे ही अपने शरीरपर भी मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है।...... ईमानदारीकी बात तो यह है कि शरीर और संसारका आपसे कभी मिलन हुआ ही नहीं। –संतवाणी 7/84

24. शरीर मिलनेपर भी दूर ही रहता है। भावकी एकता एवं विचारोंकी एकता तथा स्वरूपकी एकता वास्तवमें मिलन है। –संतपत्रावली 1/150

25. सब प्रकारके दुःख शरीरको अपना आप समझनेपर ही होते हैं। -संतपत्रावली 1/28

26. शरीर विश्वकी वस्तु है। उसे जबतक रहना है, उन्हें जो कार्य कराना है, करायेंगे। -पाथेय 3

27. जिस प्रकार लिखते समय लेखनीको ग्रहण कर लिया और लिखना समाप्त होते ही उसे यथास्थान रख दिया जाता है, उसी प्रकार कार्य करते समय शरीरको ग्रहण कर लिया करो और कार्यका अन्त होते ही जहाँ-का-तहाँ, ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रख दिया करो। ऐसा करनेसे प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें सहजयोग स्वतः हो जायगा, जो आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करनेमें समर्थ है। -पाथेय 43-44

28. शरीरकी यथावत् देखभाल तथा उसका सदुपयोग करती रहो। उससे ममता तो है ही नहीं, पर उसकी सेवा अवश्य करनी है। -पाथेय 51

29. प्राप्त देह आदि वस्तुओंको विश्व भगवान्की पूजा-सामग्री समझो, उसे अपना मत मानो –यह महामन्त्र है देहाभिमानसे मुक्त होनेके लिये। -पाथेय 83

30. शरीर सेवा-निधि है। उसकी रक्षा करना पूजा है, पर उसकी ममता भूल है। -पाथेय 208

31. जिस कार्यमें कर्ताको रस मिलता है, उसका प्रभाव शरीरके लिये उपयोगी होता है। -पाथेय 202

32. शारीरिक स्वास्थ्यका भी यथाशक्ति ध्यान रखिये। शरीरकी सेवासे भी शरीरका राग नाश होता है। -पाथेय 236

33. शरीरके रहने-न रहनेसे विश्वासी साधकके जीवनमें कोई लाभ-हानिकी बात ही नहीं है। -पाथेय 261

34. शरीर विश्वकी सेवा-सामग्री है, उससे अपनेको कुछ भी नहीं लेना है। यह वास्तविकता जीवनमें आ जानेसे शरीरको बनाये रखनेका भी संकल्प नहीं रहता। -पाथेय 274

35. वास्तवमें तो शरीर-रहित जीवन ही जीवन है। उसमें ही साधककी अविचल आस्था रहनी चाहिये। उस जीवनके बोधमें ही मोहका नाश है। -पाथेय 294

36. शरीरके बिना साधक अचाह हो सकता है; प्रभुसे आत्मीय सम्बन्ध जोड़ सकता है; की हुई तथा जानी हुई बुराईसे रहित होनेका व्रत ले सकता है; प्रभु-विश्वासके आधारपर अभय हो सकता है। प्रभु-प्रेमसे साधक प्रभुके लिये उपयोगी हो सकता है। -पाथेय 297

37. तुम किसी भी कालमें शरीर नहीं हो, और न शरीर तुम्हारा है। शरीर तो केवल संसाररूपी वाटिकाकी खाद है, और कुछ नहीं। -पाथेय 323

38. शरीर चाहे जहाँ रहे, चाहे जैसा रहे, अथवा न रहे, उससे अपनी कोई क्षति नहीं होती। -पाथेय 326

39. जब अपनेमें शरीरभाव नहीं रहता, तब किसी भी शरीरमें आसक्ति नहीं रहती अर्थात् निर्मोहता स्वतः सिद्ध हो जाती है। -पाथेय 325

40. शरीर कैसा है, इस ओर ध्यान जाना ही भारी भूल है। सेवा-परायण होते ही शरीरकी सुरक्षाका प्रश्न समर्थ सेव्यपर हो जाता है, सेवकपर नहीं रहता। -पाथेय 350

41. जो लोग यह सोचते हैं कि शरीर हमारी रुचि-पूर्त्तिका साधन है, वे कभी भी शान्ति नहीं पाते। उनको कहीं भी, कभी भी शान्ति नहीं मिलती। शरीर है सेवा-सामग्री। -संतवाणी 3/170

42. शरीरके उपयोगकी स्वाधीनता मानवको मिली है। उसको बनाये रखनेकी स्वाधीनता किसी भी मानवको कभी भी प्राप्त नहीं है। -सफलताकी कुंजी 118

43. शरीररहित जीवनमें श्रमकी गंध भी नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या शरीर-रहित भी कोई जीवन है ? शरीरयुक्त ही यदि जीवन है तो फिर मृत्यु क्या है ? अतः यह निर्विवाद सत्य है कि शरीरसे अतीत ही जीवन है। शरीरमें जीवन नहीं है, अपितु शरीरमें जीवनका मिथ्याभास है। -चित्तशुद्धि 424-425

44. जो प्राणी शरीरको काम-वासनाओंकी पूर्त्तिका साधन मानते हैं, वे न तो मनुष्यता पाते हैं, न सच्चा सुख। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 11

45. हम शरीरमें बैठे हैं, यह महापागलपन है। शरीर नहीं रहेगा तो मेरी क्षति हो जायगी –यह मानना बड़ा भारी पागलपन है। -संतवाणी 7/85

46. भौतिकवादीको भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मेरा नहीं है। ईश्वरवादीको भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मेरा नहीं है। अध्यात्मवादीको भी स्वीकार करना पड़ेगा कि मैं शरीर नहीं हूँ। -सफलताकी कुंजी 136

47. अपनेको देह मानकर कोई भी व्यक्ति स्वाधीन नहीं हो सकता। -चित्तशुद्धि 254

48. समस्त कार्योंकी उत्पत्ति अपनेको देह मान लेनेपर ही होती है अर्थात् देहकी तद्रूपता ही प्रवृत्तिकी जननी है। -चित्तशुद्धि 370

49. जिस आहारसे शरीरका निर्माण होता है, वह आहार विश्वकी उन शक्तियोंसे मिलता है, जो व्यक्तिगत नहीं हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि शरीर और विश्वमें स्वरूपकी एकता है। -दर्शन और नीति 78

50. यदि हमारा शरीर आदि वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ तो समझना चाहिये कि जो वस्तुएँ हमें कर्तव्य-पालनके लिये मिली थीं, उनके द्वारा कर्तव्य-पालन नहीं किया। -चित्तशुद्धि 46

51. अपनेको देह मानकर कोई भी संकल्प-अपूर्त्तिके दुःख और पूर्त्तिके सुखसे मुक्त नहीं हो सकता, और अपनेको देहसे अलग जानकर बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिरशान्तिमें निवास कर सकता है। -चित्तशुद्धि 253

52. अपनेको देह न माननेपर सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, जिनके निवृत्त होते ही सुख-दुःखका बन्धन टूट जाता है और चिरशान्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है। -चित्तशुद्धि 255

53. देहसे तादात्म्यभाव न रहनेपर अपना अस्तित्व क्या है, इस सम्बन्धमें कुछ भी कहना बनता नहीं; क्योंकि जो कुछ कहा जायगा, वह देहके द्वारा ही कहा जायगा। देहके द्वारा जो कुछ कहा जायगा, उसमें किसी-न-किसी अंशमें देहका प्रभाव आ जायगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता, उसका अस्तित्व नहीं है। वर्णन भले ही न हो, पर उसकी प्राप्ति हो सकती है। -चित्तशुद्धि 256

54. शरीरका यथार्थ ज्ञान होनेपर सारे विश्वका ज्ञान हो जाता है। कारण कि शरीर विश्वरूपी सागरकी ही एक लहर है। -चित्तशुद्धि 272

55. जिस साधकको अपने शरीरमें सत्यता तथा सुन्दरताका दर्शन नहीं होता, उसे किसी भी वस्तु तथा व्यक्तिमें सत्यता तथा सुन्दरताका दर्शन नहीं होता। -चित्तशुद्धि 272-273

56. देहभावकी स्वीकृति है, उससे एकता नहीं है। परन्तु स्वीकृतिमें ही अहम्-बुद्धि होनेसे भिन्नता होनेपर भी एकता प्रतीत होने लगती है।...... स्वीकृति केवल अस्वीकृतिसे ही मिट सकती है, वह किसी और प्रकारसे नहीं मिटायी जा सकती। अतः 'देह मैं नहीं हूँ' इतने मात्रसे ही देहसे सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता है, जिसके होते ही कामका अन्त हो जायगा और नित्यप्राप्तका प्रेम स्वतः जाग्रत् होगा। -चित्तशुद्धि 288-289

57. देहकी प्राप्तिकी स्वीकृतिमात्रसे ही जो देहसे अतीत है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है अथवा यों कहो कि विश्वकी प्राप्तिकी स्वीकृतिमात्रसे ही जो विश्वका आधार है एवं जिससे समस्त विश्व प्रकाशित है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है। -चित्तशुद्धि 289

58. दो आसक्त प्राणी अपनेको देहसे अलग अनुभव कर क्या एक-दूसरेमें आसक्त हो सकते हैं ? कदापि नहीं।........ देहकी आसक्तिके आधारपर ही समस्त वस्तुओंमें आसक्ति होती है; क्योंकि देहके लिये ही वस्तुओंकी अपेक्षा है।.......... यदि देहमें आसक्ति न रहे तो किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिमें आसक्ति नहीं हो सकती। सूक्ष्म देहकी आसक्ति ही विचारधाराओं, सम्प्रदायों तथा मतोंमें आसक्ति उत्पन्न करती है। -चित्तशुद्धि 353

59. अपनेमें शरीरभाव धारण करनेपर आनन्दघन भगवान् संसारके स्वरूपमें प्रतीत होते हैं। -सन्त-समागम 1/9

60. शुभाशुभ कर्म प्राणीको 'स्थूलशरीर' में, सार्थक-निरर्थक चिन्तन 'सूक्ष्मशरीर' में और सविकल्प-निर्विकल्प स्थिति 'कारणशरीर' में आबद्ध करती है। -चित्तशुद्धि 338

61. शरीर तो संसारसे अभिन्न है, उसमें आपका क्या ? विचारदृष्टिसे देखो कि जिस शरीरको आप अपना समझते हैं, वह वास्तवमें सारे संसारसे एक है; क्योंकि शरीर तथा संसार अंग तथा अंगीके समान हैं। -सन्त-समागम 1/152

62. धारा-प्रवाह शरीर काल-अग्निमें जल रहा है, किसी आविष्कारसे बचाओ। यदि आविष्कारसे नहीं बचा सकते तो प्रकृतिके समर्पण कर पल्ला छुड़ा लो। -सन्त-समागम 1/220

63. जो मनुष्य अपने शरीरसे सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता, वह संसारसे भी नहीं तोड़ सकता। सम्बन्ध रखते हुए यदि वह हिमालयपर चला जाय तो भी उसका चित्त शान्त और शुद्ध नहीं हो सकता। -संत-सौरभ 98

64. जो देहसे सम्बन्ध रखता है, वह चाहे कितना ही तपस्वी हो, कितना ही दानी हो, उसकी कितनी ही अच्छी परिस्थिति क्यों न हो, उसका संसारसे सम्बन्ध नहीं टूट सकता। -संतवाणी 7/147

65. बुराई-रहित होनेसे तो स्थूलशरीर शुद्ध होता है, अचाह होनेसे सूक्ष्मशरीर शुद्ध हो जाता है, और अप्रयत्न होनेसे कारणशरीर शुद्ध हो जाता है। -संतवाणी 2/17-18

शिक्षा

1. नौकर वास्तविक शिक्षक नहीं हो सकता। –मानवकी मांग 198

2. यदि कोई आजके युगमें अर्थके बलपर शिक्षित हो भी जाये तो वह उस शिक्षाका सदुपयोग नहीं कर सकेगा, केवल अर्थ-सम्पादनमें ही लग जायगा। –मानवकी मांग 198

3. सेवाभावसे प्राप्त शिक्षा सेवक बनाती है और अर्थके द्वारा प्राप्त शिक्षा लोभी बनाती है। –मानवकी मांग 198

4. मैं ऐसा मानता हूँ कि प्रत्येक विद्यालय भावी समाजके निर्माणका मन्दिर है। इस कारण अध्यापन-कार्यके समान और कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं है, और विद्यार्थी-जीवन ही मानवके विकासकी भूमि है। –संतपत्रावली 2/103

5. जिनके हृदयमें सुन्दर मानवके निर्माणकी पीड़ा है, जिनका मस्तिष्क स्वस्थ है और जो अपने-अपने विषयमें प्रवीण हैं, वे ही महानुभाव अध्यापन-कार्यके अधिकारी हैं। –संतपत्रावली 2/103

6. विज्ञान और कलाओंकी शिक्षा राष्ट्र दे सकता है; किन्तु भारतीय संस्कृतिकी शिक्षा धर्मात्मा सेवकके द्वारा ही हो सकती है। –सन्त-समागम 2/93

7. पढ़ा-लिखा भ्रममें तभी पड़ता है, जब अपनी बात नहीं मानता। पढ़ाई-लिखाई तो एक प्रकारकी योग्यता है। योग्यता जब ज्ञानके अधीन नहीं रहती, तो बड़े-बड़े अनर्थ कर डालती है। समाजमें जितने दोष पढ़े-लिखोंने फैलाये, उतने किसीने नहीं फैलाये। –सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 4

8. शिक्षित होनेकी कसौटी क्या है ? तो कहना होगा कि ज्ञान-विज्ञान, कला आदिके द्वारा हम अपनेको इतना सुन्दर बना लें कि समाजको हमारी आवश्यकता अनुभव होने लगे। –मानवकी मांग 196

9. समाजकी उपयोगिताकी सिद्धि जिस योग्यतासे सफल हो, उस योग्यताका नाम 'शिक्षा' है। किसी उपाधि (डिग्री) विशेषसे ही शिक्षा नहीं मान लेना चाहिये। –मानवकी मांग 197

10. उपाधिका महत्त्व यदि अभिमानकी वृद्धिमें है तो सर्वथा त्याज्य है। –पाथेय 142

11. यह नियम है कि बालक देखकर बदलते हैं। जब उन्हें सच्चाई, सच्चरित्रता एवं उदारता आदि दिव्य-गुण-सम्पन्न जीवन देखनेको मिलेगा तो वे स्वयं वैसे ही बन जायँगे। –मानवकी मांग 198

संकल्प

1. हर संकल्पकी पूर्त्ति होनेपर मनुष्य उसी स्थितिमें आता है, जिस स्थितिमें संकल्पकी उत्पत्तिके पूर्व था। इस सत्यको आप क्यों नहीं पकड़ते बाबा ? उसके पूरे होनेसे आपकी कोई वृद्धि नहीं हो गयी। उसके पूरे न होनेसे आपकी कोई क्षति नहीं हो गयी। आप तो उसी स्थितिमें थे ही। -संतवाणी 5/136

2. संकल्पकी पूर्त्ति विधानसे होती है, न कि संकल्प करनेसे। -संत-उद्बोधन 109

3. अपना संकल्प ही अपनी दुर्गतिका मूल कारण है। -संत-उद्बोधन 109

4. वास्तवमें तो कार्यक्रम निश्चित ही है। पर उसका अनुभव उन्हीं साधकोंको होता है, जिनका अपना कोई संकल्प नहीं रहता। अतः अपना संकल्प न रखकर जो हो वही ठीक है। -पाथेय 211

5. वास्तविक स्वाधीनताका पुजारी तो संकल्प-पूर्त्तिमें भी पराधीनताका ही दर्शन करता है। कारण कि संकल्प-पूर्त्ति देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिके अधीन है। -सत्संग और साधन 50

6. संकल्पोंकी पूर्त्ति और अपूर्त्ति विधानके अधीन है। उनका सदुपयोग करनेमें साधक स्वाधीन है। -सत्संग और साधन 52

7. जब साधकका अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब दूसरोंके संकल्पसे आवश्यक कार्य स्वतः होते रहते हैं। संकल्प-रहित होनेसे साधककी किसी प्रकारकी क्षति नहीं होती, अपितु सर्वतोमुखी विकास ही होता है। -सफलताकी कुंजी 91

8. जगत्‌के संकल्पोंको पूरा करना कर्तव्य अर्थात् 'सेवा' है और प्रभुके संकल्पोंको पूरा करना 'पूजा' है। जब अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब किसी विकारकी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् निर्विकारताकी अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तवमें साधन है। -सफलताकी कुंजी 140

9. वस्तुओंकी सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपताका आकर्षण ही संकल्पका स्वरूप है, अथवा यों कहो कि अपनेसे वस्तुओंका अधिक महत्त्व स्वीकार करना संकल्पोंमें आबद्ध होना है। -चित्तशुद्धि 5

10. विवेकपूर्वक शरीरसे तद्‌रूपता मिट जानेपर संकल्पकी उत्पत्ति ही नहीं होती। संकल्पोंकी निवृत्ति होते ही सुख-दुःखसे अतीत 'शान्ति' के साम्राज्यमें प्रवेश हो जाता है, जिसके होते ही भोक्ता, भोगकी रुचि और भोग्य वस्तुएँ –इन तीनोंका भेद मिट जाता है। -चित्तशुद्धि 7

11. जिन संकल्पोंसे किसी अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदिका आवाहन होने लगता है, वे संकल्प अशुद्ध हैं और त्याज्य हैं; क्योंकि वे जड़ता तथा पराधीनताकी ओर ले जाते हैं, और जो संकल्प सभी अवस्थाओंसे अतीतके जीवनकी जिज्ञासा जाग्रत् करते हैं, वे शुद्ध संकल्प हैं। यह नियम है कि अशुद्ध संकल्प मिट जानेपर शुद्ध संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं। -चित्तशुद्धि 12

12. संकल्प-पूर्त्तिसे जितना सुख मिलता है, उससे कहीं अधिक शान्ति संकल्प-निवृत्तिसे प्राप्त होती है। -चित्तशुद्धि 17

13. जबतक वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद न होगा, तबतक संकल्पोंकी उत्पत्ति, पूर्त्ति और निवृत्ति होती ही रहेगी। -चित्तशुद्धि 126

14. समस्त संकल्पोंका उद्‌गम-स्थान भी वस्तुसे तादात्म्य है और संकल्प-पूर्त्तिमें भी वस्तुओंकी ही महत्ता है; अथवा यों कहो कि वस्तु ही जीवन है, यह दृढ़ता ही वास्तवमें संकल्पका स्वरूप है। वस्तुओंके अस्तित्वकी अस्वीकृतिमें संकल्पोंकी उत्पत्ति ही नहीं है। इस दृष्टिसे वस्तुओंके सूक्ष्म रूपका नाम 'संकल्प' और संकल्पके स्थूल रूपका नाम 'वस्तु' है।..... संकल्प और वस्तु –ये दोनों एक ही सिक्केके दो पहलू हैं; उसे वस्तु कहो अथवा संकल्प। -चित्तशुद्धि 160-161

15. जब-जब जीवनमें संकल्प-अपूर्त्तिका चित्र सामने आये, तब-तब साधकको यही समझना चाहिये कि मेरे संकल्पकी अपूर्त्तिमें प्रेमास्पदके संकल्पकी पूर्त्ति निहित है। -चित्तशुद्धि 162

16. अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पोंके त्यागकी सार्थकता तभी सिद्ध होती है, जब साधक शुद्ध संकल्पोंकी पूर्त्तिके सुखमें आबद्ध न हो; क्योंकि संकल्प-पूर्त्तिका सुख नवीन संकल्पोंका जन्मदाता है। इतना ही नहीं, सुखभोगकी रुचिसे ही अशुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं। कारण कि सुखका भोग देहाभिमानको पुष्ट करता है। -चित्तशुद्धि 202

17. प्रत्येक संकल्प-पूर्त्तिके सुखकी दासता नवीन संकल्पकी जननी है। -चित्तशुद्धि 354

18. जबतक प्राणी वस्तु, व्यक्ति आदिके अस्तित्वको स्वीकार नहीं कर लेता, तबतक संकल्पकी उत्पत्ति ही नहीं होती। इस दृष्टिसे वस्तु, व्यक्ति आदिकी सत्यताकी स्वीकृति और उनका सम्बन्ध ही संकल्पका स्वरूप है। -चित्तशुद्धि 421

19. अशुभ संकल्पकी अपेक्षा शुभ संकल्प अधिक आदरणीय है; किन्तु निःसंकल्पताके सामने शुभ संकल्प कुछ भी मूल्य नहीं रखता। -सन्त-समागम 2/107

20. मनमें उन संकल्पोंको मत उठने दो, जो धर्मानुसार न हों एवं जिनके प्रकाशित करनेमें संकोच हो। -सन्त-समागम 2/239

21. जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति व अवस्थासे सम्बन्ध जोड़ दे, उसे संकल्प कहते हैं। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 61

22. निःसंकल्पता आ जानेपर 'है' (सत्) में प्रतिष्ठा और 'नहीं' (असत्) से सम्बन्ध-विच्छेद स्वतः हो जाता है; क्योंकि जो 'नहीं' है, उसका संकल्प करते ही उससे स्वीकृतिजन्य सम्बन्ध होता है और जो 'है', उसका संकल्प करते ही उससे दूरी होती है।

-सन्त-समागम 2/248

23. जब कभी साधकको ऐसा प्रतीत हो कि मेरे आवश्यक और शुभ संकल्पोंकी भी पूर्त्ति नहीं हो रही है, तो उस समय मनमें किसी प्रकारकी खिन्नता या निराशाको स्थान नहीं देना चाहिये; किन्तु ऐसा समझना चाहिये कि 'प्रभु अब मुझे अपनानेके लिये, मुझे अपना प्रेम प्रदान करनेके लिये मेरे मनकी बात पूरी न करके अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं'। -संत-सौरभ 6

24. जब किसी-न-किसी प्रकारका राग विद्यमान है, तब उसीसे संकल्प होते हैं। -संत-सौरभ 78

25. साधकको चाहिये कि संकल्पके निवृत्तिकालमें जो उसे रस मिलता है, उसका अनुभव करे। संकल्प उत्पन्न होकर पूरा हो जाय और दूसरा संकल्प उत्पन्न न हो, उसके बीचमें ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेपर संकल्प-निवृत्तिके रसका अनुभव हो सकता है।

-संत-सौरभ 168

45. मन भी तो करण है। तो मनमें संकल्प करनेकी सामर्थ्य नहीं है। मन संकल्पका कर्त्ता नहीं है। मन कर्त्ताकी रुचि-पूर्त्तिके लिये संकल्पके रूपमें परिणत होता है। -संतवाणी 5/217

26. देहसे जो तादात्म्यभाव स्वीकार कर लेते हैं, यही संकल्पोंकी उत्पत्तिका मूल कारण है। -संतवाणी 4/39

27. सभी विचारकोंको यह बात माननी पड़ेगी कि अवश्य प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन संकल्प-पूर्त्तिके अन्तमें उसी स्थितिमें आता है, जिस स्थितिमें संकल्प-उत्पत्तिके पूर्व थे। तो मिला क्या भाई ? मिला तो वही जो दादको खुजलानेवालेको मिलता है –खुजलानेमें रस और परिणाममें जख्म। इसके अतिरिक्त किसी भी संकल्प-पूर्त्तिके बदलेमें किसी भी भाईको कुछ नहीं मिल सकता।

-संतवाणी 4/123

28. अपने पास अपना संकल्प रखते हुए पराधीनतासे रहित नहीं हो सकते, जड़तासे रहित नहीं हो सकते, अभावसे रहित नहीं हो सकते। -संतवाणी 4/124

29. संकल्प-पूर्त्तिके सुखका भोग हमें पराधीन बनाता है। संकल्प-अपूर्त्तिके दुःखका भय हमें चैनसे नहीं रहने देता।

-संतवाणी 4/140

30. अपना संकल्प समस्त असाधनोंका मूल है। वह असत् है। क्यों असत् है ? भाई, एक तो पूरा नहीं होता, इसलिये असत् है। और क्यों असत् है ? पूरा होनेसे पराधीनता बढ़ती है, इसलिये असत् है। तो अपना संकल्प रखना अपने जाने हुए असत्का संग है। -जीवन-पथ 16

31. यह नियम है कि जो किसीका बुरा नहीं चाहता, उसके मनमें अशुद्ध संकल्पोंकी उत्पत्ति ही नहीं होती और उनके बिना अशुद्ध कर्मका जन्म ही नहीं होता। -चित्तशुद्धि 133

संघर्ष

1. जो हो रहा है, उसका आदर न करनेसे अन्तर्संघर्ष और प्राप्त परिस्थितिका विवेकपूर्वक सदुपयोग न करनेसे बाह्य संघर्ष उत्पन्न होता है। -दर्शन और नीति 44

2. मानव जब अनेक भेद होनेपर भी एक ही प्रकारसे सभीको उद्‌देश्य-पूर्त्तिका आग्रहपूर्वक पाठ पढ़ाता है और अपनी प्रणालीसे भिन्नका विरोध करता है, तब मानव विकासके नामपर एक नवीन संघर्षको जन्म देता है। -दर्शन और नीति 46

3. बाह्य दृष्टिसे संघर्षोंका कारण आर्थिक अभाव तथा राजनीतिक पराधीनता प्रतीत होती है, पर अन्तर्दृष्टिसे संघर्षका मूल नीरसता अर्थात् प्रीतिका अभाव ही है। -दर्शन और नीति 51

4.. सिक्केसे वस्तु, वस्तुसे व्यक्ति, व्यक्तिसे विवेक और विवेकसे अपने साध्यको अधिक महत्त्व देना है। उद्‌देश्य-पूर्त्ति तथा संघर्षका अन्त एवं शान्तिकी स्थापना करनेके लिये उपर्युक्त क्रम स्वीकार करना प्रत्येक मत, सम्प्रदाय, वर्ग, समाज तथा देशके व्यक्तियोंके लिये अनिवार्य है। -दर्शन और नीति 63

5. हिंसात्मक युद्ध किसी प्रकार विजय प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि शरीररूपी क्षेत्रके तोड़ देनेसे विचारोंका समुदाय मिटाया नहीं जा सकता। अतः हिंसात्मक युद्धसे जो राष्ट्र आज छिन्न-भिन्न दिखायी देता है, वही कालान्तरमें घोर प्रबलतापूर्वक पुनः युद्ध करनेके लिये समर्थ होता है; क्योंकि उसकी युद्धकी भावना नष्ट नहीं हुई थी। मरनेवाला प्राणी पुनः मारनेके लिये प्रकृति मातासे शक्ति लेकर उत्पन्न होता है। -सन्त-समागम 1/131

6. दुःखियोंके शरीर आदि वस्तुओंको छिन्न-भिन्न कर देनेसे उनका अन्त नहीं हो जाता; क्योंकि सूक्ष्म तथा कारणशरीर शेष रहते हैं। यदि हम किसीके स्थूलशरीरको नष्ट भी कर दें तो भी वह प्राणी जिस भावको लेकर स्थूलशरीरका त्याग करता है, उसी भावनाके अनुरूप प्रकृति मातासे अथवा यों कहो कि जगत्-कारणसे शक्तिसंचय कर, हमसे अधिक शक्तिशाली हो, हमारा विरोध करनेके लिये हमारे सामने आ जाता है। -सन्त-समागम 2/23

7. जीवनमें, परिवारमें, समाजमें यह जो संघर्ष होता है, वह एकदम नहीं हो जाता। हमारे-आपके मनमें ही वह लड़ाई पैदा हेती है। -संतवाणी 7/29

8. लड़ाई क्यों होती है? इसपर गौर किया जाय तो साफ मालूम होता है कि जब समाजमें सुखियोंकी संख्या कम हो जाती है और दुःखियोंकी संख्या बढ़ जाती है; सुखियोंमें उदारता नहीं रहती और दुःखियोंमें त्याग नहीं रहता, तब लड़ाई होती है। -संतवाणी 7/26

9. सामाजिक संघर्ष मिटानेका सबसे सुन्दर उपाय क्या है ? यह उपाय नहीं है कि हम जो मानते हैं, वह सब मानने लग जायँ; हम जो करते हैं, वह सब करने लग जायँ। उपाय यह है कि हम अपने और दूसरोंके बीचमें अनेकों प्रकारके भेद क्यों न पायें, पर सभीके साथ प्रीतिकी एकता रखेंगे। -संतवाणी 7/139

10. जहाँ ममता और संग्रह नहीं है, वहाँ संघर्ष हो ही नहीं सकता। जितने संघर्ष होते हैं सरकार ! वे होते हैं संग्रहमें, ममतामें। -संतवाणी 5/208

11. समस्त संघर्षोंका मूल एकमात्र यह है कि व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश अपने दोषको भूलकर दूसरेके दोषपर दृष्टि रखते हैं। -दर्शन और नीति 37-38

संसार (सृष्टि, विश्व)

1. संसारकी जरूरत आपको न रहे और संसार आपकी जरूरत अनुभव करे –यह है जीवनका शुद्ध भौतिकवाद। इसको कहते हैं दुनियामें रहनेका सही ढंग। –साधन-त्रिवेणी 48

2. बाह्य भिन्नता और आन्तरिक एकताके अतिरिक्त समस्त विश्व कुछ नहीं है। –मानव-दर्शन 173

3. यह नियम है कि जो जगत्की आवश्यकता अनुभव नहीं करता, वही जगत्के लिये उपयोगी सिद्ध होता है। –मानव-दर्शन 122

4. सृष्टि स्वयं अपनेको आप प्रकाशित नहीं करती। अतः यह स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है कि सृष्टि किसीका प्रकाश है। –मूक सत्संग.102

5. ब्रह्म जगत्के बिना रह सकता है और जगत् ब्रह्मके बिना नहीं रह सकता; क्योंकि जगत् और ब्रह्ममें केवल काल्पनिक भेद है, स्वरूपसे नहीं। इसलिये ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है। –संतपत्रावली 1/14

6. 'यह' (संसार) और 'वह' (परमात्मा) और 'मैं' –इन तीनोंको एक समझो; क्योंकि जो जिसमें उत्पन्न होकर जिसमें स्थित रहता है और अन्तमें उसमें ही लय हो जाता है, वह वास्तवमें वही होता है। –संतपत्रावली 1/19

7. किसीकी भूल देखनेके लिये भी देखनेवालेको स्वयंको भूलना पड़ता है; क्योंकि जबतक वह अपनेमें शरीरभाव नहीं धारण करता, तबतक संसार नहीं दिखाई देता, ऐसा मेरा अनुभव है। –संतपत्रावली 1/60

8. सृष्टि किसी व्यक्तिकी बनाई हुई नहीं है। सृष्टिकर्तानें अपने ही में से सृष्टिका निर्माण किया है। –पाथेय 357

9. वास्तवमें तो समस्त विश्व एक है, और विश्व तथा विश्वनाथसे मानवका अविभाज्य सम्बन्ध है। –पाथेय 247

10. विश्वकी सेवा अपेक्षित है, विश्वास नहीं। –सत्संग और साधन 63

11. जगत्को मिथ्या कहनामात्र ही अध्यात्मवाद नही है, प्रत्युत भेद और भिन्नताका अत्यन्त अभाव ही अध्यात्मवाद है। –दुःखका प्रभाव 105

12. द्रष्टाकी दृष्टिमें सृष्टि-जैसी कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि समस्त सृष्टि तो बुद्धिके सम होते ही विलीन हो जाती है। –जीवन-दर्शन 175

13. प्रत्येक व्यक्ति समस्त संसारका ऋणी है। –मानवकी मांग 196

14. समस्त विश्व एक वस्तु है। उसमें जो हमें अपने व्यक्तित्वका भास होता है, वह 'अहं' और 'मम' का परिणाम है, और कुछ नहीं। उस व्यक्तित्वको मिटानेके लिये ही जो कुछ भी योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुरूपमें प्राप्त है, उसे विश्वकी भेंट कर देना है; क्योंकि वास्तवमें वह उसीका है। –जीवन-दर्शन 251-252

15. भौतिक दृष्टिसे समस्त विश्व एक जीवन है। अध्यात्म दृष्टिसे सब अपना ही स्वरूप है। आस्तिक दृष्टिसे प्रेमास्पदसे भिन्न कुछ है ही नहीं। –दर्शन और नीति 106

16. समस्त विश्व दर्पणके तुल्य है। उसमें मानव अपने ही चित्रको देखता है। यदि ऐसा न होता तो एक ही विश्वके सम्बन्धमें अनेक मत न होते। –दर्शन और नीति 133

17. जो किसीसे भी घृणा करता है, वह उस अनन्तसे घृणा करता है; क्योंकि समस्त विश्व उसीकी अभिव्यक्ति है। –चित्तशुद्धि 419

18. सृष्टि तो केवल अपनेमें विषयादिक भावको धारण करनेसे प्रतीत होती है। विषयासक्त बेचारा मानी हुई सत्ताको स्वीकार करता है। अतः यही सृष्टिके प्रतीत होनेका कारण है। कारणका नाश होनेपर कार्यका नाश अपने-आप हो जाता है। अतः विषयजन्य स्वभावका अन्त होनेपर सृष्टिका अन्त हो जाता है। –सन्त-समागम 1/84

19. यदि संसारपर शासन करना चाहते हो तो संसारकी ओर मत देखो। –सन्त-समागम 1/180

20. भोगकी चाह ही वास्तवमें संसार है; क्योंकि भोगकी चाह न रहनेपर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तथा संसार सभी बेकार हो जाते हैं। –सन्त-समागम 1/183

21. जगत् क्या है ? यह तो तब कहा जा सकता है, जब हम जगत्से अलग हों। जगत्से अलग होकर जगत् एक वस्तु है, अनेक नहीं; क्योंकि जगत्का नानात्व जगत् होकर प्रतीत करते हो। जगत् होकर जगत्को जान नहीं पाते। अतः जगत्में नानात्व है, यह बात किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। –सन्त-समागम 1/207

22. जिस प्रकार जलका ज्ञान होनेपर लहर जलसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जगत्का यथार्थ ज्ञान होनेपर जगत् निज-स्वरूपसे भिन्न नहीं है। जल-दृष्टि होनेपर लहर-दृष्टि शेष नहीं रहती, फिर लहरमें नानात्व है, यह कैसे कहा जा सकता है ? –सन्त-समागम 1/208

23. एक जीवनसे भिन्न और कुछ विचार-दृष्टिसे देखनेमें नहीं आता। आपको जो कुछ प्रतीत होता है, वह केवल आपका राग है। –सन्त-समागम 1/208

24. अनन्त संख्यायें एक ही इकाईसे उत्पन्न होती हैं; क्योंकि इकाईकी सत्ता निकलनेपर संख्या कुछ नहीं रहती। अतः एक इकाईकी संख्या ही संख्यारूपसे प्रतीत होती है, और संख्याका ज्ञान होनेपर इकाई ही शेष रहती है अर्थात् जगत्‌का नानात्व एकत्व में विलीन होता है। गहराईसे देखो, 'एक' से 'नौ' तक गणना होनेपर अन्तमें फिर एक ही शेष रहता है। -सन्त-समागम 1/214

25. विश्व केवल हमारी एक अवस्थाके सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। -सन्त-समागम 2/30

26. सृष्टि केवल विषयी प्राणियोंके लिये है। विषयी प्राणी जिज्ञासु और भक्त नहीं हो सकता। वह तप कर सकता है, पुण्य कर सकता है। अनीश्वरवादी दान भी कर सकता है, पर वह प्रेम नहीं कर सकता, संसारसे विमुख नहीं हो सकता। -सन्त-समागम 2/76-77

27. केवल असत्यको असत्य समझनेमात्रसे आसक्ति नहीं छूटती। सत्यकी आवश्यकता होनेपर असत्य अपने-आप छूट जाता है। -सन्त-समागम 2/115

28. प्यारे, मन, इन्द्रिय आदिके द्वारा जो कुछ प्रतीत होता है, वह केवल दृश्य है। उसीको साधारण प्राणी 'संसार' के नामसे कथन करते हैं। -सन्त-समागम 2/191

29. कर्म, शरीर व संसार –इन तीनोंका स्वरूप एक ही है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 15

30. संसार मोहका क्षेत्र नहीं, सेवाका क्षेत्र है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 56

31. प्रत्येक व्यक्ति विश्वरूपी सागरकी एक बूँद है। सिन्धु और बिन्दुमें गुणोंकी भिन्नता होनेपर भी जातीय तथा स्वरूपकी एकता है। गुणोंकी भिन्नता होनेसे 'कर्म' की भिन्नता और जातीय तथा स्वरूपकी एकता होनेसे 'लक्ष्य' की एकता स्वाभाविक है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 61

32. माँगकी पूर्त्ति संसारकी सहायतासे नहीं हो सकती। -संतवाणी 8/9

33. हमारा और संसारका सम्बन्ध 'सेवा' का सम्बन्ध है ..... और कोई सम्बन्ध नहीं है। -संतवाणी 8/9

34. संसारमें कोई चीज हमें मिली है, यह बहुत बड़ा भ्रम है। -संतवाणी 8/19

35. संसारमें सम्बन्ध दो ही तरहसे रहता है –देना है, तब भी सम्बन्ध रहेगा; लेना है, तब भी सम्बन्ध रहेगा। देना दे दिया और लेना छोड़ दिया तो संसारसे सम्बन्ध टूट जाता है। -संतवाणी 8/31

36. संसार केवल प्रेमसे प्रसन्न नहीं होता, उसको सेवा भी चाहिये। -संतवाणी 8/69

37. संसार जो कुछ दे सकता है, वह शरीरके आगे पहुँचता है क्या ? नहीं पहुँचता। -संतवाणी 8/71

38. संसार दुःखद नहीं है, संसारका सम्बन्ध दुःखद है। -संतवाणी 8/84

39. संसार जब यह देखता है कि जो कोई आदमी संसारमें अपनी ममता करता है, संसारकी कामना करता है, उससे संसार अप्रसन्न हो जाता है, उससे खुश नहीं होता, उसके पीछे नहीं दौड़ता।......... जो अकिंचन और अचाह है, उसे संसार पसन्द करता है। -संतवाणी 8/119-120

40. दृश्यकी प्रतीति इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञानसे तद्‌रूप होनेपर होती है। ये दोनों भी दृश्य ही हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि दृश्यसे तद्‌रूप होनेपर ही दृश्यकी प्रतीति होती है। -जीवन-दर्शन 285

41. जब आप कोई कामना पूरी करना चाहते हैं, तब आपको संसारका भास होता है। आप कुछ न चाहें, संसार आपको मुँह नहीं दिखायेगा। -संतवाणी 5/92

42. यदि आप विचार करके देखें तो सबल और निर्बल दोनोंके सहयोगसे ही संसारका काम चलता है। केवल सबलोंसे ही नहीं चलता। जहाँ एक योग्य चिकित्सक चाहिये, वहाँ रोगी भी तो चाहिये। मान लीजिये, योग्य चिकित्सक हो और रोगी कोई न हो तो चिकित्सकका काम चलेगा ? -संतवाणी 3/47

43. कर्मका सम्बन्ध 'पर' के प्रति है, 'स्व' के प्रति नहीं। अपनेसे भिन्न जो कुछ है, वही 'पर' है। जिसे 'यह' करके सम्बोधन करते हैं, वह अपनेसे भिन्न है। इस कारण शरीर तथा समस्त सृष्टि 'पर' के अर्थमें ही आती है। -मूक सत्संग.122

सत्संग (दे.मूक सत्संग)

1. हम सत्संगके नामपर तो सत्‌की चर्चा करते हैं और संग करते हैं असत्‌का। -संतवाणी 4/157

2. असत्‌के बनाये रखनेसे हमारी निन्दा नहीं होती, लेकिन असत्‌के प्रकट करनेमें हमारी निन्दा होती है ! यह दुर्बलता जबतक रहेगी, हम सत्संग नहीं कर सकते। -संतवाणी 4/246

3. शरीर द्वारा परमात्माकी सृष्टिका कार्य कर सकते हैं। लेकिन आप अपना कार्य करते हैं, जबकि आपका कोई कार्य है नहीं। जो आपका कार्य है आपका निजी, आपका जो पर्सनल कार्य है, वह है सत्संग। -संतवाणी 7/87

4. जाग्रत्‌-सुषुप्तिका नाम ही 'मूक सत्संग' है। और यदि मैं यह कह दूँ कि इसीका नाम 'सत्संग' है तो कोई अत्युक्तिकी बात नहीं होगी। -प्रेरणा पथ 39-40

5. सत्संगका अर्थ ही है कि 'है' का संग। -प्रेरणा पथ 40

6. सत्संग श्रम-रहित जीवनमें स्वतःसिद्ध है। -प्रेरणा पथ 43

7. सत्संगकी परिभाषा क्या है ? बलका दुरुपयोग नहीं करूँगा –यह सत्संग है, ज्ञानका अनादर नहीं करूँगा –यह सत्संग है, विश्वासमें विकल्प नहीं करूँगा –यह सत्संग है। -साधन-त्रिवेणी 31

8. मानव-सेवा-संघकी नीतिमें प्रवचनको भी सत्‌चर्चा कहा है, सत्संग नहीं। ..... मानव-सेवा-संघमें मूक सत्संगको मुख्य सत्संग माना है। -संत-उद्‌बोधन 21

9. सत्यको स्वीकार करना ही सत्संग है। -संत-उद्‌बोधन 62

10. सत्संग स्वधर्म है, शरीरधर्म नहीं। -संत-उद्‌बोधन 96

11. सत्संगका अर्थ अभ्यास नहीं है, असत्‌का त्याग ही सत्संग है। -संत-उद्‌बोधन 111

12. सत्संग कोई अभ्यास अथवा तप नहीं है, अपितु साधकका स्वधर्म है, अर्थात्‌ पराश्रयके बिना अपने ही द्वारा जिसकी सिद्धि होती है, वही सत्संग है। -साधन-निधि 12

13. 'मूक सत्संगसे भिन्न भी सत्संग है' –यह स्वीकार करना सत्‌की चर्चाको ही सत्‌का संग मानना है। यद्यपि सत्‌की चर्चा सत्‌के संगका सहयोगी प्रयास है, परन्तु सत्‌का संग नहीं है। -मूक सत्संग.34

14. यद्यपि सत्संगके सहयोगी उपायोंको भी सत्संग कहते हैं; परन्तु वास्तविक सत्संग तो अहंकृति-रहित होनेसे ही सिद्ध होता है अर्थात्‌ मूक सत्संग ही 'सत्संग' है, जो प्रत्येक मानवको प्राप्त हो सकता है। -मूक सत्संग.53-54

15. सत्संग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु स्वधर्म है। अभ्यासके लिये शरीर आदिकी अपेक्षा होती है। किन्तु सत्संग अपने ही द्वारा उपलब्ध होता है। -मूक सत्संग.67

16. सत्संग ही मानवमात्रका परम पुरुषार्थ है। -मूक सत्संग.88

17. सत्‌-चर्चा, सत्‌-चिन्तन तथा सत्‌-कर्मके लिये किसी-न-किसी परिस्थितिकी अपेक्षा होती है। प्रत्येक परिस्थिति स्वभावसे ही परिवर्तनशील तथा परप्रकाश्य है। अतएव परिस्थितिका आश्रय मानवको सत्संगसे विमुख कर देता है। -मूक सत्संग.100

18. अपना कुछ नहीं है, अपनेको कुछ नहीं चाहिये, अपने लिये कुछ नहीं करना है –यह सत्संग है। -मूक सत्संग.111

19. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके द्वारा सत्संग नहीं होता। अपने ही द्वारा सत्संग करना है; कारण कि अपने ही में सत्संगकी माँग है। शरीरके सम्बन्धसे तो ममता, कामना आदि विकारोंकी उत्पत्ति होती है। -मूक सत्संग.113

20. सत्संगका अर्थ है –'है' का सत्संग अर्थात्‌ जो मौजूद है, विद्यमान है, प्राप्त है, उसका संग। -संतवाणी 5/5

21. सत्संगसे जिसकी प्राप्ति होती है, उसकी प्राप्ति किसी अन्य प्रकारसे नहीं होती। -मूक सत्संग.130

22. अध्यात्मवादकी दृष्टिसे समस्त सृष्टिसे असंग होना सत्संग है और आस्तिकवादकी दृष्टिसे श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रभुमें आत्मीयता स्वीकार करना सत्संग है। -मूक सत्संग.134

23. सत्‌का संग श्रमसाध्य नहीं है। इस कारण मूक सत्संग ही वास्तविक सत्संग है। -मूक सत्संग.170

24. सत्संगके बिना कोई ऐसा उपाय है ही नहीं कि मानव सर्वांशमें असाधनरहित होकर साधननिष्ठ हो जाय। -मूक सत्संग.170

25. सब ओरसे विमुख होना ही वास्तविक सत्संग है और सत्संगसे ही प्रेमी प्रेमास्पदसे, जिज्ञासु तत्त्वज्ञानसे, अशान्त परमशान्तिसे और असमर्थ सामर्थ्यसे अभिन्न होता है। -मूक सत्संग.207

26. जिसका सम्पादन 'स्व' के द्वारा होता है, वही सत्संग है। -संतपत्रावली 2/133

27. सत्‌-कार्य, सत्‌-चर्चा एवं सत्‌-चिन्तन आदि सत्संग नहीं है। सत्संग मानवका स्वधर्म है और चर्चा, चिन्तन आदि पराश्रय और परिश्रमसे साध्य हैं। जो पराश्रय एवं परिश्रमसे साध्य है, उसका विनाश अनिवार्य है। -संतपत्रावली 2/172

28. सत्संगके द्वारा सभी साधकोंको लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। -संतपत्रावली 2/195

29. वास्तवमें तो सत्संग जीवनमें एक ही बार होता है, सत्की चर्चा अनेक बार होती है। -पाथेय 96

30. सोई हुई मानवता जगानेके लिये एकमात्र सत्संग ही अचूक उपाय है। -पाथेय 351

31. असत्का त्याग और सत्का संग एक ही तत्त्वके दो रूप हैं। अन्तर केवल इतना है कि असत्का त्याग पुरुषार्थ है और सत्का संग स्वतःसिद्ध है। असत्के त्यागके अतिरिक्त सत्संगके लिये कोई अन्य प्रयास अपेक्षित नहीं है। केवल असत्के त्यागमात्रसे ही सत्संग हो जाता है। -सत्संग और साधन 31-32

32. सत्संग कहनेमें नहीं आता, किया जाता है। असत्का त्याग होनेपर सत्का संग अपने-आप होता है। -सन्त-समागम 1/40

33. सत्संगके बिना कोई भी मानव नहीं हो सकता। कारण कि विवेक-युक्त प्राण जिसमें है, वही मानव है। विवेक-रहित प्राण तो पशु, पक्षी तथा वृक्षोंमें भी है। मानव-जीवनकी महत्त्वपूर्ण वस्तु तो विवेक ही है। उसीके विकासके लिये सत्संगकी परम आवश्यकता है। उस सत्संगको प्राप्त करनेके तीन उपाय हैं – 1) सद्ग्रन्थ 2) सत्पुरुष और 3) सर्वान्तर्यामी रूपसे जो सत्स्वरूप परमात्मा प्राप्त है, उसका संग। उसका संग असत्के त्यागसे प्राप्त हो सकता है। जिसे यह तीसरे प्रकारका सत्संग प्राप्त है, उसे सद्ग्रन्थ तथा सत्पुरुषोंकी आवश्यकता नहीं होती।........ इस सत्संगके लिये किसी उत्सव तथा संगठनकी आवश्यकता नहीं है। एकान्तमें मौन होकर इस सत्संगको प्राप्त किया जा सकता है। -सन्त-समागम 2/211-212

34. सच्चा सत्संगी वह होता है, जो सत्यको स्वीकार करता है, जो सत्यका प्रेमी होता है। वह न तो संसारसे कुछ चाहता है, न भगवान्से कुछ चाहता है। -संतवाणी 8/70

35. सत्संगका अर्थ यह व्याख्यान सुनना नहीं है। सह तो सच्चर्चा है। सोचना-समझना –यह सच्चिन्तन है। सत्संग है –सत्यको स्वीकार कर लेना। 'मेरा कुछ नहीं है' –यह सत्य है। 'मुझे कुछ नहीं चाहिये' –यह सत्य है। -संतवाणी 8/83

36. सत्संगका अर्थ यह नहीं है कि कोई व्यक्ति-विशेष आ गया, उसने एक व्याख्यान दे दिया ओर हम सब लोगोंने श्रवण कर लिया। यह तो सत्संगका सहयोगी साधन है। वास्तवमें यह सत्संग नहीं है। सत्संगका वास्तविक स्वरूप है –अपने जाने हुए असत्का त्याग। -संतवाणी 6/35

सदुपयोग

1. जिस क्षणसे आप मिले हुएका सदुपयोग आरम्भ करेंगे, आप सच मानिये, आवश्यक वस्तुएँ आपके पास आनेके लिये लालायित हो जायँगी। -संतवाणी 4/202

2. व्यक्तियोंकी सेवामें ही वस्तुओंका सदुपयोग निहित है। -साधन-तत्त्व 94

3. वर्तमानका सदुपयोग ही भविष्यको उज्ज्वल बनाता है। -संत-उद्‌बोधन 129

4. केवल प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना है। इस सदुपयोगका नाम ही किसीने पुरुषार्थ रख दिया, किसीने कर्तव्य रख दिया और किसीने साधना रख दिया। -मानवकी मांग 32

5. यदि मनमें शुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं तो मिले हुए 'मन' का सदुपयोग हो गया।........ यदि हमारी बुद्धि हमारे कर्तव्य तथा दूसरोंके अधिकारको जनाती है, और प्रत्येक वस्तुमें सतत परिवर्तनका दर्शन कराती है तो समझना चाहिये कि 'बुद्धि' का सदुपयोग हो गया।.......... यदि प्राप्त वाणी सत्य, हितकारी, मधुर तथा प्रिय वचन बोलती है एवं आवश्यकतासे अधिक नहीं बोलती तो समझना चाहिये कि 'वाणी' का सदुपयोग हो गया।......... यदि शरीर आवश्यक कार्य करनेमें आलस्य नहीं करता और अनावश्यक कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता तो समझना चाहिये कि 'शरीर' का सदुपयोग हो गया।............ यदि प्राप्त वस्तुएँ व्यक्तियोंकी रक्षामें व्यय होती हैं तो समझना चाहिये कि 'वस्तुओं' का सदुपयोग हो गया। -मानवकी मांग 68

6. सुख-दुःखका सदुपयोग साधनका मूल है। -मानवकी मांग 220

7. जो आता-जाता है, उसका सदुपयोग करना है और जो रहता है, उसमें प्रियता। -मानव-दर्शन 162

8. मिले हुएका दुरुपयोग मानवकी अपनी भूल है और उसका सदुपयोग वैधानिक है। इस दृष्टिसे अकर्तव्य अपना दोष है और कर्तव्य-परायणता स्वभावसिद्ध है। -मूक सत्संग.54

9. मिले हुएके सदुपयोगसे आवश्यक वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मंगलमय विधानसे स्वतः प्राप्त होती है। -मूक सत्संग.80

10. सुखका सदुपयोग 'सेवा' और दुःखका सदुपयोग 'त्याग' है। -संतपत्रावली 1/116

11. यह प्राकृतिक नियम है कि बलके दुरुपयोगसे कालान्तरमें सबल स्वयं निर्बल हो जाता है। इतना ही नहीं, उसकी विरोधी सत्ताकी उत्पत्ति भी हो जाती है और वही दुर्दिन उसे स्वयं देखने पड़ते हैं, जो उसने बलके दुरुपयोगके द्वारा निर्बलोंको दिखाये थे। बलके सदुपयोगसे परस्पर एकता होती है और फिर सबल तथा निर्बलका भेद शेष नहीं रहता। -दुःखका प्रभाव 103

12. प्राप्त व्यक्तियोंकी सेवासे मोहका और प्राप्त वस्तुओंके सदुपयोगसे लोभका अन्त हो जाता है। -जीवन-दर्शन 68

13. यह नियम है कि शरीर आदि वस्तुओंका सदुपयोग कर डालनेपर उनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है; क्योंकि जिसका सही उपयोग कर लेते हैं, उसकी आवश्यकता शेष नहीं रहती। -जीवन-दर्शन 96-97

14. वस्तुओंके सदुपयोगसे आवश्यक वस्तुएँ और अनित्य जीवनके सदुपयोगसे नित्य जीवन प्राप्त हो जाता है। -जीवन-दर्शन 97

15. सभी वस्तुओंमें अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु वर्तमान समय है। समयके सदुपयोगमें ही समस्त जीवनका सदुपयोग निहित है। -जीवन-दर्शन 97

16. जो व्यक्ति दूसरोंसे सुखकी आशा करता हो और पराये दुःखसे अपनेको बचाता हो और प्राप्त सुखको दुःखियोंकी धरोहर न मानता हो, वह कितना ही सामर्थ्यशाली क्यों न हो, परिस्थितिका सदुपयोग नहीं कर सकता। -चित्तशुद्धि 438

17. वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग करनेपर छुट्टी अपने-आप मिल जाती है। बाह्य छुट्टी छुट्टी नहीं होती, अपितु कार्यका परिवर्तन होता है। साधारण प्राणी कार्यके परिवर्तनको छुट्टी मानते हैं; परन्तु विचारशील कामका अन्त करनेपर छुट्टी जानते हैं। ...... प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग छुट्टीका सर्वोत्कृष्ट साधन है। -सन्त-समागम 2/313

18. हमको जो कुछ मिला है, वही हमारे लिये हितका साधन है; क्योंकि प्राकृतिक विधान न्यायपूर्ण है। हमको जो मिला है, उसका सदुपयोग करनेपर ही हमारा प्रेमपात्र हमें अवश्य अपना लेगा। -सन्त-समागम 2/288

19. परिस्थिति-भेदसे कर्तव्यमें भेद होनेपर भी फलमें एकता ही है अर्थात् प्रत्येक परिस्थितिके सदुपयोगका परिणाम एक ही है। -साधन-तत्त्व 1

20. जिस वस्तु और बलका मनुष्य सदुपयोग नहीं करता, वह वस्तु और शक्ति उससे छिन जाती है, यह प्राकृतिक नियम है। -संत-सौरभ 95

समाज

1. आश्रम बनता है समाजकी उदारतासे और समाजकी उदारता कैसे प्राप्त होती है कि भाई तुम समाजके लिये उपयोगी हो जाओ। -संतवाणी 3/41

2. बुद्ध, ईसा, जैन, महावीर आदि-आदि अनेक महापुरुष आये। फिर भी समाजकी दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती ही चली गयी। इसके मूलमें कारण क्या है ? इसपर विचार करनेसे ऐसा लगता है कि मानव जबतक अपने करनेवाली बातको नहीं मानेगा, तबतक उसकी जो माँग है, उसकी पूर्त्ति नहीं होगी। -प्रेरणा पथ 103

3. जो सत्य हमारे अपने जीवनमें आ जायगा, वह समाजमें विभु हो जायगा। -साधन-त्रिवेणी 59

4. समाजमें विद्रोहकी उत्पत्ति तभी होती है, जब व्यक्ति कर्तव्यपरायण नहीं रहता। -संत-उद्‌बोधन 105

5. सुन्दर समाजके निर्माणका अर्थ क्या है ? जिस समाजमें सभी प्राणियोंके अधिकार सुरक्षित हों। कोई किसीके अधिकारका अपहरण न करता हो। गुण, परिस्थिति, कर्म आदिकी भिन्नता होनेपर भी आपसमें प्रीतिकी एकता हो। जहाँ बलद्वारा बात मनवानेकी आवश्यकता न हो। -संत-उद्‌बोधन 127

6. बलका सदुपयोग और विवेकका आदर करना ही हर मानवका पुरुषार्थ है। इसी पुरुषार्थसे अपना कल्याण और सुन्दर समाजका निर्माण होता है। -संत-उद्‌बोधन 127

7. सुन्दर समाज उसे कहेंगे, जिसका प्रत्येक वर्ग अपने-अपने स्थानपर सही हो, ठीक हो। -मानवकी मांग 14

8. व्यक्तिकी कर्तव्यनिष्ठा ही समाजमें प्रीतिका प्रसार करती है। -मानवकी मांग 15

9. हमारा समाज तभी सुन्दर होगा, जब हम कर्त्तव्य-परायण होंगे। -मानवकी मांग 16

10. जबतक हम अपना सुधार न करेंगे, तबतक सुन्दर समाजका निर्माण न हो सकेगा। -मानवकी मांग 25

11. व्यक्तिके निर्दोष होनेसे समाजमें निर्दोषता आ जाती है और व्यक्तिके दोषी होनेसे समाजमें दोष आ जाता है। -मानवकी मांग 102

12. समाजमें कोई भी व्यक्ति सर्वांशमें समाजसे सम्बन्ध-विच्छेद करके जीवित नहीं रह सकता। -मानवकी मांग 196

13. ज्यों-ज्यों समाजमें सेवाभावकी वृद्धि होती है, त्यों-त्यों सुन्दर समाजका निर्माण होता है और ज्यों-ज्यों समाजमें लोभकी वृद्धि होती है, त्यों-त्यों समाजमें दरिद्रता तथा संघर्ष उत्पन्न होता है। -मानवकी मांग 198

14. समाजका निर्माण एक-दूसरेकी आवश्यकता-पूर्त्तिमें सहयोग देनेके लिये है। -मानव-दर्शन 129

15. अनेक प्रकारकी भिन्नतामें एकता स्थापित करनेका जो परिणाम है, वही समाज है। -मानव-दर्शन 129

16. सामाजिक भावनाको किसी वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहब, इज्मकी सीमामें बाँध देना दलबन्दी है, समाज नहीं। दलबन्दियाँ संघर्षकी जननी हैं। सामाजिक भावना एकता तथा शान्तिकी जननी है। -मानव-दर्शन 131

17. व्यक्ति माली है और समाज वाटिका। वाटिकाका माली वाटिकाकी सेवामें रत भी रहता है और उसीपर निर्भर भी। इस दृष्टिसे व्यक्ति और समाज दोनों ही पारस्परिक विकासमें हेतु हैं। -मानव-दर्शन 134

18. समाज सेवाका क्षेत्र है और व्यक्ति सेवक है। सेवा जिसकी की जाती है, उसकी अपेक्षा उसका अधिक विकास होता है, जो सेवा करता है। -मानव-दर्शन 135

19. प्रान्तवादका अन्त बिना किये हुए कभी भी परस्परमें स्नेहकी एकता सम्भव नहीं है। स्नेहकी एकताके बिना समाजमें शान्तिकी स्थापना सम्भव न होगी। -पाथेय 64

20. जितेन्द्रियता तथा सत्यकी खोज एवं सार्थक चिन्तनसे युक्त सेवामें रत मानवकी गोदमें ही बालक-बालिकाओंका पोषण तथा शिक्षण हो, तभी भावी समाज सुन्दर हो सकता है। -मानव-दर्शन 149

21. स्वाधीन व्यक्तियोंके प्रादुर्भावसे ही समाजमें स्वाधीनता सुरक्षित रहती है। स्वाधीन समाज न तो किसीसे भयभीत होता है और न किसीको भय देता है। भयभीत समाज ही युद्ध-सामग्रीका संग्रह करता है। -दर्शन और नीति 59

22. अध्यात्मवाद व्यक्तिको समाजसे असंग नहीं करता, अपितु व्यक्तिगत सुखासक्तिसे असंग करता है। -मानव-दर्शन 137

23. संग्रह ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों संग्रहीकी चेतना जड़तासे आच्छादित होती जाती है। संग्रहीकी अपेक्षा श्रमीमें चेतना अधिक रहती है। प्राकृतिक नियमानुसार सुधारका आरम्भ उसीसे होता है, जिसमें चेतना अधिक है। अतः श्रमी-वर्गके सुधारमें ही समाजका सुधार निहित है। आजतक किसी भी संग्रहीके द्वारा समाजका उत्थान नहीं हुआ। -दर्शन और नीति 57

24. जिस व्यक्तिके द्वारा समाजके अधिकार अपहृत नहीं होते और जो स्वयं अधिकार-लालसासे रहित है, वही सुन्दर है। -दर्शन और नीति 99

25. सुन्दर व्यक्तियोंके निर्माणमें ही सुन्दर समाजका निर्माण निहित है। –दर्शन और नीति 98

26. जब व्यक्ति कर्तव्यसे च्युत हो जाता है, तभी समाजमें भिन्न-भिन्न प्रकारके विप्लव मचते हैं। –दर्शन और नीति 99

27. जिस व्यक्तिके द्वारा किसीका अनादर तथा तिरस्कार नहीं होता एवं जो दुःखियोंको देख करुणित तथा सुखियोंको देख प्रसन्न होता है, उसकी माँग समाजको सदैव रहती है। –दर्शन और नीति 101-102

28. समाजके सभी बड़े-बड़े सुधारक वे ही हुए हैं, जिनके जीवनमें निवृत्ति प्रधान थी। –सन्त-समागम 1/80

29. विवेकके अनादरसे ही प्राणीके मनमें संघर्ष उत्पन्न हुआ है। अतएव जबतक विवेकपूर्वक मनका संघर्ष न मिटेगा, तबतक समाजमें होनेवाले संघर्ष कभी मिट नहीं सकते, चाहे वे वैयक्तिक हों या कौटुम्बिक अथवा सामाजिक। –मानवताके मूल सिद्धान्त 11-12

30. सुन्दर समाजका निर्माण एकमात्र सेवामें ही निहित है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 49

31. प्राकृतिक नियमानुसार जो जीवनमें है, वही विभु होता है। अतः कर्तव्य-परायणतासे ही समाजमें पारस्परिक कर्तव्य-परायणता आती है और अधिकार-लालसासे ही दूसरोंमें अधिकारकी माँग उत्पन्न होती है। इस कारण अपने अधिकारका त्याग और दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करना ही विकासका मूल है। –मानवताके मूल सिद्धान्त 56

32. सुन्दर समाजका अर्थ है –जहाँ दो व्यक्तियोंमें, दो वर्गोंमें, दो देशोंमें परस्पर एकता हो, स्नेह हो, विश्वास हो। अनेकों भेद होनेपर भी, जैसे; कर्मका भेद हो, भाषाका भेद हो, रहन-सहनका भेद हो; पर प्रीतिकी एकता हो, विश्वासकी एकता हो, लक्ष्यकी एकता हो। –संतवाणी 6/57

33. अगर समाजमें कर्तव्यपरायणता फैलती है तो कर्तव्य-पालनसे फैलती है, उपदेश, आदेश और सन्देशसे नहीं फैलती। –संतवाणी 5/250

34. सत्यको स्वीकार करनेसे समाजमें क्रान्ति आती है, आन्दोलनसे नहीं। –संतवाणी 7/69

साधक

1. प्रत्येक साधक साधन सुननेमें ज्यादा समय न लगाये, साधन करनेमें ज्यादा समय लगाये। -संतवाणी 4/238

2. प्रभु-विश्वासीका प्रत्येक कार्य 'पूजा' है, और अध्यात्मवादीका प्रत्येक कार्य 'साधना' है, तथा भौतिकवादीका प्रत्येक कार्य 'कर्तव्य' है। -संत-उद्‌बोधन 49

3. साधक न शरीर है, न आत्मा, न ब्रह्म। तो फिर कौन है ? जिसने शरीरमें ममता स्वीकार कर ली है; किन्तु फिर भी जिसमें तत्त्वकी जिज्ञासा है और अनन्तकी प्रियता है। -जीवन-पथ 115

4. साधकको अपने साध्यसे भिन्न जो भी दिखाई दे, उसे न तो अपना माने, न अपने लिये माने और न ही उसके पाने तथा बने रहनेकी कामना ही करे। -संत-उद्‌बोधन 143

5. जो सत्यको स्वीकार करता है, वही साधक कहलाता है, वही मानव कहलाता है। -साधन-त्रिवेणी 25

6. जो देता है और लेता नहीं –यह प्रभुका स्वभाव। जो देता है और लेता है –यह असाधक का स्वभाव। जो देनेके लिये तत्पर है और लेना छोड़ता है –यह साधकका स्वभाव। और जो लेवल लेता है –यह जड़ता। -संतवाणी 5/201

7. साधककी जो पहली माँग है, वह शान्तिकी है। और जो अन्तिम माँग है, वह अनन्त-रसकी अभिव्यक्तिकी है। -संत-उद्‌बोधन 155

8. साधकको साधनसे अभिन्न होना है, न कि उसके साथ मोह करना है। साधनके प्रति मोह करना तो असाधन है। -मानवकी मांग 95

9. अपने साधनका अनुसरण और दूसरेके साधनोंका आदर मानवता है। अपने साधनके प्रति मोह और दूसरोंके साधनकी निन्दा अमानवता है। -मानवकी मांग 95

10. समस्त विश्व मिलकर भी साधककी वास्तविक माँगको पूरा नहीं कर सकता। इस दृष्टिसे साधकका मूल्य सृष्टिसे अधिक है। -साधन-निधि 18

11. जो किसीके लिये भी अनुपयोगी होता है, वह साधक नहीं है। -साधन-निधि 33

12. साधक वही है, जिसके जीवनमें सिद्धिके लिये नित नव आशा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। -संतपत्रावली 2/81

13. व्यर्थ चेष्टाओंका निरोध साधकोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। यदि सेवाकार्य नहीं है तो दीवारको मत ताकते रहो। सेवाके अन्तमें इन्द्रियोंका दरवाजा स्वतः बन्द हो जाना चाहिये। -संतपत्रावली 2/124

14. सभी साधकोंको साधन-तत्त्वसे अभिन्न होना है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक केवल सत्संगको ही अपना परम पुरुषार्थ स्वीकार करें। साधनको ऊपरसे न भरा जाय, साधकमें ही उसकी अभिव्यक्ति हो। -संतपत्रावली 2/143-144

15. साधक महानुभाव व्यक्तिगत साधनाको सामूहिक साधना बनानेका प्रयास न करें, न उसका प्रदर्शन करें। -संतपत्रावली 2/144

16. पराश्रय और परिश्रमका सदुपयोग एकमात्र पर-सेवामें ही है। कभी भी किसी भी साधकको अपने लिये पराश्रय और परिश्रम अपेक्षित नहीं है। -संतपत्रावली 2/167

17. अनुकूलताकी दासता और प्रतिकूलताके भयका साधकके जीवनमें कोई स्थान नहीं है। -पाथेय 87

18. जाने हुए असत्‌के त्यागके अतिरिक्त किसी भी साधकको कुछ भी करना शेष नहीं है। -पाथेय 137

19. जब साधक अनेक रूपोंमें अपने ही साध्यको पाता है, तब उसके लिये प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात् प्रकट और गोपनीय, दोनोंका रूप समान हो जाता है। -पाथेय 138-139

20. साधकको शुद्ध संकल्प बदलना नहीं चाहिये। हाँ, निर्विकल्प होनेके लिये सभी संकल्पोंका त्याग किया जा सकता है। किसी संकल्पके लिये संकल्पको बदलना साधककी दृढ़तामें बाधक होता है। -पाथेय 140

21. शरीरकी असंगतामें ही प्रेमास्पदकी आत्मीयतापूर्वक अभिन्नता निहित है। इस दृष्टिसे असंग होना प्रत्येक साधकके लिये अनिवार्य है। -पाथेय 248

22. प्रत्येक मानव साधक है, पर आत्मा और शरीर साधक नहीं है। -संत-उद्‌बोधन 83

23. सजग साधकको शरीरके रहते हुए ही शरीरकी आवश्यकतासे मुक्त होना अनिवार्य है, जो एकमात्र अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्नसे ही साध्य है। -पाथेय 355

24. जो किसीसे कुछ भी पानेकी आशा करता है, वह साधक नहीं है, अपितु भोगी है। -चित्तशुद्धि 130

25. साधकोंकी सेवासे साध्यको प्रसन्नता होती है, ऐसा मेरा विश्वास है। परन्तु सेवा करानेवाले साधकको इस बातका ध्यान रहे कि वह सेवा करनेसे, अन्य साधकोंकी अपेक्षा अपनेको विशेष न मान ले और साध्यके स्थानपर स्वयं अपने व्यक्तित्वकी पूजा न कराने लगे। -पाथेय 266

26. सत्संगके द्वारा साधननिष्ठ साधकको कभी किसीसे किसी प्रकारकी शिकायत नहीं रहती –यह जीवनका सुन्दर चित्र है। इतना ही नहीं, उससे भी किसीको किसी प्रकारकी शिकायत नहीं रहती है। कारण कि वह सभीका अपना होनेसे सर्वप्रिय हो ही जाता है। प्रेमियोंको प्रेमास्पदसे, उदारको जगत्‌से और स्वाधीनको अपनेसे कोई शिकायत नहीं रहती। इस दृष्टिसे साधननिष्ठ साधकको किसीसे शिकायत नहीं रहती। –पाथेय 302-303

27. शरीर विश्वके काम आ जाय, हृदय प्रेमसे भर जाय और अहं अभिमानशून्य हो जाय –इस वास्तविक माँगका अनुभव करना ही साधकका परम पुरुषार्थ है। माँग ही माँगकी पूर्त्तिमें समर्थ है, यह अनन्तका अनुपम विधान है। –पाथेय 357

28. शरीर आदिकी स्मृतिमात्र भी साधकके लिये असह्य है, तो फिर उनमें विशेषताकी अभिरुचि रखना आसक्तिके अतिरिक्त और क्या है ? –सत्संग और साधन 70

29. साधकको उसी साधनसे सिद्धि हो सकती है, जो उसे रुचिकर हो, जिसके प्रति अविचल विश्वास हो एवं जिसके करनेकी योग्यता हो। –जीवन-दर्शन 125

30. सभी साधकोंका उद्‌देश्य एक हो सकता है, पर साधन एक नहीं हो सकता। सभी साधकोंमें प्रीतिकी एकता हो सकती है, पर कर्मकी नहीं। –जीवन-दर्शन 192

31. कोई भी साधक किसी भी परिस्थितिमें यह नहीं कह सकता कि हम साधन नहीं कर सकते; क्योंकि परिस्थितिके अनुरूप ही साधनका निर्माण होता है। –जीवन-दर्शन 193

32. जिस किसीमें जो कुछ है, वह जगत् और जगत्पतिका ही है। यदि साधकके शरीरका सम्बन्ध जगत्‌से है, तो उसका सम्बन्ध जगत्पतिसे है। –साधन-निधि 59

33. प्रत्येक साधकको शरीर, हृदय और मस्तिष्क प्राप्त है। शरीरद्वारा श्रमपूर्वक परिस्थितिका सदुपयोग, हृदयद्वारा सरल विश्वासपूर्वक समर्पण और मस्तिष्कद्वारा विवेकपूर्वक निर्मोहता प्राप्त करना परम आवश्यक है। –जीवन-दर्शन 314

34. क्रियाशीलता, चिन्तन और स्थितिसे असहयोग करनेपर साधक अपनेमें सन्तुष्ट होता है। –सफलताकी कुंजी 43

35. साधककी अपनी बनावटके अनुसार स्वयंको कुछ-न-कुछ मान अवश्य लेना चाहिये। चाहे अपनेको भक्त मान लो, चाहे सेवक मान लो, चाहे जिज्ञासु मान लो। मान्यताके अनुरूप साधना फलित होने लगेगी। –सन्त-जीवन-दर्पण 89

36. सरल विश्वासके ऊपर, बिना किसी शर्तके अगर आप अपनेको भगवान्‌को दे सकते हैं, प्रतिकूलताओंमें उनकी कृपाका अनुभव कर सकते हैं, तो आप 'आस्तिक' हो जाइये। अगर आप दृश्यमात्रसे असंग हो सकते हैं, तो 'अध्यात्मवादी' हो जाइये और यदि अपना सुख बाँट सकते हैं, तो 'भौतिकवादी' हो जाइये। जिसमें आपकी मरजी हो, उसीमें प्रविष्ट हो जाइये। –सन्त-समागम 2/84

37. निवृत्तिमार्गका अनुसरण करनेवाले साधकोंको शुद्ध अर्थात् पवित्र संकल्पोंकी भी पूर्त्ति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि संकल्पोंकी पूर्त्तिके लिये किसी-न-किसी प्रकारके संग्रहकी आवश्यकता होती है, जो वास्तवमें अनर्थका मूल है। इतना ही नहीं, संकल्प-पूर्त्तिका रस साधकको साध्यसे अभिन्न नहीं होने देता, प्रत्यत ज्यों-ज्यों संकल्पोंकी पूर्त्ति होती जाती है, त्यों-त्यों नवीन संकल्पोंकी उत्पत्ति भी होती जाती है। यह नियम है कि संकल्प उत्पन्न होते ही सीमित अहंभाव दृढ़ होता है। –सन्त-समागम 2/327

38. निःसन्देह सभी साधकोंका साध्य एक ही है; क्योंकि सभीकी वास्तविक माँग एक है। –साधन-तत्त्व 4

39. प्रत्येक साधकका अपना जाना हुआ असाधन अलग-अलग है। इसी कारण सर्वांशमें दो साधकोंकी साधना भी एक नहीं हो सकती; क्योंकि साधनका आरम्भ साधकमेंसे ही होता है। –साधन-तत्त्व 7

40. किसी भी साधकको वह नहीं करना है, जिसे वह नहीं कर सकता और किसी भी साधकका साध्य वह नहीं हो सकता, जिसकी उसे प्राप्ति नहीं हो सकती। –साधन-तत्त्व 22

41. यह नियम है कि जब साधक अपने जाने हुए असाधनका त्याग कर देता है, तब उसमें जो विद्यमान साधन है, उसका प्रादुर्भाव अपने-आप हो जाता है। –साधन-तत्त्व 33-34

42 जो साधक भगवान्‌का भजन-स्मरण किसी कामनाकी पूर्त्तिके लिये करता है, वह कामना यदि उसके पतनमें हेतु नहीं हो तो भगवान् अवश्य पूरी करते हैं; परन्तु उससे साधकको भगवान्‌का प्रेम नहीं मिलता। –संत-सौरभ 153-154

43. जो अपने सुखके लिये तप करता है, जो अपने सुखके लिये जप करता है, उसकी गणना, माफ कीजियेगा, हिरण्यकश्यपकी सूचीमें की जाती है।..... अपने सुखके लिये किया गया भजन, अपने सुखके लिये किया गया तप, अपने सुखके लिये किया हुआ दान, यह राक्षसी स्वभाव है। यह मानवी स्वभाव नहीं है। –संतवाणी 7/47

44. यह हो नहीं सकता कि आप सच्चाईकी तरफ आगे बढ़ना चाहें और जगत् आपकी सहायता न करे और प्रभुकी कृपालुता आपके साथ न रहे। –संतवाणी 7/151

45. आजकल लोग साधन तो करते नहीं और साधनका फल लेना चाहते हैं, तब उनको सफलता कैसे मिले ? हरेक मनुष्य सोचता है कि साधन करके योग्यता तो दूसरा प्राप्त कर ले और हमें आशीर्वाद दे दे, ताकि हमें उसका सुख मिल जाय।.......साधनकी सफलताके लिये साधकको स्वयं साधन करना पड़ेगा। -संत-सौरभ 166-167

46. कारणका नाश होनेपर भी कार्यकी प्रतीति होती है। जिस प्रकार वृक्षका मूल कट जानेपर भी उसकी हरियाली कुछ काल प्रतीत होती है, उसी प्रकार असत्का त्याग करनेपर भी असत्के संगके प्रभावको कुछ काल साधक अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिमें देखता है और भयभीत हो जाता है। इतना ही नहीं, अपने किये हुए असत्के त्यागमें भी विकल्प कर बैठता है। असत्का त्याग वर्तमानकी वस्तु है; परन्तु उसके प्रभावके नाशमें काल अपेक्षित है। अपने निर्णयमें विकल्प करना भी तो असत् का ही संग है। जब साधक सावधानीपूर्वक अपने निर्णयमें विकल्प नहीं करता, तब अपने-आप असत्के संगका प्रभाव नष्ट हो जाता है।

-सत्संग और साधन 33

47. जिस प्रकार वृक्ष कट जानेपर भी कुछ कालतक हरा-हरा दीखता है, उसी प्रकार कर्तापन शेष न रहनेपर भी क्रियाएँ प्रतीत होती रहती हैं। -सन्त-समागम 1/234

48. यह स्वीकार करना कि 'कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है' –यही साधकका जीवन है। -संतवाणी 6/113

49. अगर आजका साधक हरि-आश्रय और विश्राम अपना ले तो बड़ी सुगमतापूर्वक जीवनकी समस्याओंको हल कर सकता है।

-संतवाणी 3/124

50. रोना उसी प्राणीको आता है, जो अपना मूल्य संसारसे अधिक कर लेता है; क्योंकि बिना असहाय हुए रोना नहीं आता।

-सन्त-समागम 1/142

51. जिस कालमें साधक स्वाधीन होना पसन्द करता है, उसी कालमें दैवी शक्तियाँ उसकी सेवा करनेके लिये लालायित होने लगती हैं। -संत-उद्‌बोधन 32

52. साधककी पहचान यह है कि जिसके रोम-रोममें अपने साध्यकी ही सत्ता हो, भिन्नका अस्तित्व ही न हो। क्या वह भी साधक है, जिसके पास अपना मन हो, जिसके पास अपनी बुद्धि हो ? कदापि नहीं। -संत-उद्‌बोधन 71

53. हम क्यों नहीं जिज्ञासु होकर तत्त्वज्ञान एवं भक्त होकर भगवान्‌की परम मनोहर नित्य लीला देखते ? हम शरीर होकर, विषयी होकर अनित्य लीलाएँ देखना पसन्द करते हैं। हमें अपनी इस योग्यतापर लज्जा आनी चाहिये ! -सन्त-समागम 2/287

साधन

1. असाधनके त्यागके बिना साधनकी अभिव्यक्ति भी नहीं होती। -संतवाणी 4/152

2. जबतक आप जगत्‌की सत्ता स्वीकार करते हैं, तबतक आप साधनका आरम्भ कर सकते हैं –भौतिक दर्शनके दृष्टिकोणसे। और जब आप जगत्‌की सत्ता अस्वीकार करते हैं, तब आप साधन कर सकते हैं –अध्यात्म दर्शनके दृष्टिकोणसे। जब आप प्रभुकी सत्ता स्वीकार करते हैं, तब आप साधन कर सकते हैं –आस्तिक दर्शनके दृष्टिकोणसे। आज दशा क्या है ? कि सत्ता स्वीकार करते हैं जगत्‌की, और प्राप्त करना चाहते हैं भगवान्‌को। -संतवाणी 4/176

3. साधनमें सिद्धि पानेके लिये उस श्रमकी अपेक्षा ही नहीं है, जिसे आप नहीं कर सकते। उस वस्तुकी अपेक्षा ही नहीं है, जो आपको प्राप्त नहीं है। उस व्यक्तिकी अपेक्षा ही नहीं है, जो आपके पास नहीं है। -संतवाणी 4/214

4. साधनमें कठिनाई है कहाँ ? कठिनाई जहाँ आपको मालूम हो तो समझ लें कि हम अपने मनकी कोई बात पूरी करना चाहते हैं, इसलिये कठिनाई है। -संतवाणी 4/221

5. साधनका आरम्भ होनेके बाद असाधनके लिये तो अवसर ही नहीं मिलता। जब असाधन के लिये अवसर ही नहीं मिलता, तब समस्त जीवन साधन हो जाता है। -संतवाणी 4/235

6. सीमित शक्तिको साधनकी चर्चामें ही व्यय कर दिया, तो फिर साधन करनेके लिये सामर्थ्य कहाँसे लायेंगे ? -संतवाणी 4/238

7. समस्त साधनोंका आरम्भ होता है –सुखकी आशासे रहित की हुई सेवासे; क्योंकि यह कर्तव्य-विज्ञान है। और समस्त साधनोंका अन्त होता है –प्रीतिकी अभिव्यक्तिसे। -संत-उद्‌बोधन 118

8. रोटी खानेमें आप पूरी शक्ति लगा सकते हैं और सच्चाईकी खोजमें आप सोचते हैं –कोई सहज साधन बताइये, कोई सुलभ साधन बताइये। मैं आपसे पूछता हूँ –रोटी खानेके लिये जितना श्रम कर सकते हैं, सत्यकी खोजके लिये उतना क्यों नहीं कर सकते ? -संतवाणी 5/81

9. आजकल हमलोग साधन करते समय इस बातको भूल जाते हैं कि हम मानव हैं। और करते क्या हैं ? कि साधन सीखने को साधन मानते हैं, साधन सिखानेको साधन मानते हैं, पर असाधनका त्याग करके साधनकी अभिव्यक्ति नहीं होने देते। -संतवाणी 5/236

10. कुछ न करना भी साधन है। उदाहरणके लिये, एक व्यक्तिका शरीर बहुत दुर्बल हो गया है। वह गंगा-स्नान नहीं कर सकता, तो उसके लिये गंगा-स्नान न करना साधन है। -संतवाणी 6/86

11. कोई भी एक साधन ऐसा हो नहीं सकता, जो सभीके लिये समान रूपसे हितकर हो। -प्रेरणा पथ 56

12. जो सत्य किसी आचार्य, पीर, पैगम्बरको मिला, वह सत्य तो आपको मिल सकता है; लेकिन जिस प्रकारसे उनको मिला, उसी प्रकारसे आपको भी मिल जायगा –यह बात गलत है। -प्रेरणा पथ 57

13. जो नहीं करना वाहिये, उसका त्याग पहले ही करना पड़ेगा। उसके पश्चात् जो करना चाहिये, उसकी अभिव्यक्ति आपके जीवनमें स्वतः होगी। और वही साधन आपका साधन होगा और उसीसे आपको सिद्धि मिलेगी। -प्रेरणा पथ 57

14. अगर रोटी खाना भगवान्‌की पूजाका अर्थ नहीं है तो माफ कीजिये, माला जपना भी पूजा नहीं है। और यदि माला फेरना पूजा है तो शौच जाना भी पूजा है। -जीवन-पथ 15

15. यदि साधन है तो प्रत्येक प्रवृत्ति साधन है; नहीं तो भैया, जबतक किसी प्रवृत्ति-विशेषका नाम साधन है और किसी प्रवृत्ति-विशेषका नाम असाधन है, तबतक सब असाधन है। -जीवन-पथ 16

16. जिसके हृदयमें भगवान्‌को पानेकी सच्ची लालसा उत्पन्न हो गयी, समझो उसके सब साधन हो गये। -संत-उद्‌बोधन 163

17. दुःखका बात तो यह है कि जो हम अपने द्वारा कर सकते हैं, उसको नहीं करते और जो शरीरके द्वारा कर सकते हैं, उसीको करनेकी कोशिश करते हैं। -संत-उद्‌बोधन 20

18. आप स्वीकार कीजिये कि 'प्रभु मेरे हैं', इससे जीवन प्रभुके लिये उपयोगी सिद्ध हो जायगा। सेवाका व्रत ले लीजिये, तो जीवन जगत्‌के लिये उपयोगी हो जायगा। अकिंचन और अचाह होनेसे जीवन अपने लिये उपयोगी हो जायगा। यदि आप इन तीनोंमेंसे किसीको भी स्वीकार नहीं करते, तो अनन्त जन्मोंतक आपसे कोई साधन नहीं करा सकता। -संत-उद्‌बोधन 161

19. साधना एक अलौकिक तत्त्व है। मानवने उसकी खोज की है। साधना मानवकी उपज नहीं है, अपितु ईश्वरीय शक्ति है। -संत-उद्‌बोधन 25

20. यदि भजन करके भगवान्‌से हम धन, सन्तान आदि कुछ माँगते हैं, तो हमारा साध्य तो वह इच्छित पदार्थ ही हुआ, भगवान् तो उसकी प्राप्तिके साधन हुए। -संत-उद्‌बोधन 145

21. साधन सभी अवस्थाओंमें किया जा सकता है। जो परिस्थिति-विशेषकी अपेक्षा रखता है, उसको तो साधन ही नहीं कह सकते। -संत-उद्‌बोधन 169

22. प्राकृतिक नियमके अनुसार सभी परिस्थितियोंमें साधनका निर्माण हो सकता है। -मानवकी मांग 1

23. साधक भयंकर-से-भयंकर परिस्थितिमें भी साधनका निर्माण कर सकता है और साध्यसे अभिन्न हो सकता है। -मानवकी मांग 45

24. साध्यकी एकता होनेपर भी साधनमें भिन्नता होना अनिवार्य है; परन्तु साधनको ही साध्य मान लेना प्रमाद अर्थात् अमानवता है। -मानवकी मांग 145

25. साधनकी ममता भी साधनमें आसक्ति उत्पन्न करती है। व्यक्तिगत साधनकी आसक्ति अन्य साधनकी विरोधी है। इस दृष्टिसे साधन जीवन हो, किन्तु साधनकी आसक्ति न हो। -मानव-दर्शन 63

26. बलपूर्वक किया हुआ साधन साधकमें मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है। -साधन-निधि 53

27. समस्त साधनोंकी परावधि योग, बोध और प्रेमकी अभिव्यक्तिमें है। -मूक सत्संग.48

28. रोना सर्वोत्तम साधन है; परन्तु विचारपूर्वक होना चाहिये। रोनेसे जो अवस्था प्राप्त होती है, यदि उस अवस्थामें सन्तोष कर लिया जाय तो साधन खुराक बन जाता है। इसलिये जो सबसे अन्तिम अवस्था होती है अर्थात् जो रस मालूम होता है, उसको भी सत्य मत समझो अर्थात् उससे भी ऊपर उठ जाओ। -संतपत्रावली /102

29. जबतक किसी भी क्रियासे, भावसे तथा अवस्थासे रसास्वादन होता रहता है, तबतक पथिक चलता ही रहता है। यदि चलनेका अन्त करना है तो किसी भी क्रिया, भाव तथा अवस्थासे रस न लो। अवस्थाओंसे परे मार्ग भी शेष नहीं रहता अर्थात् ठहरनेका स्थान आ जाता है, वही आपका निज स्वरूप है। -संतपत्रावली 1/111-112

30. साधन उसे नहीं कहते, जिसे साधक कर न सके और साधन उसे भी नहीं कहते, जिसमें साधकको किसी प्रकारका सन्देह हो और साधन उसे भी नहीं कहते, जो साधकको रुचिकर न हो। -पाथेय 2

31. मानसिक जप बिना स्नान किये प्रत्येक अवस्थामें किया जा सकता है। वाणीसे जप उसी अवस्थामें करना अधिक हितकर होता है, जब बाह्य पवित्रता हो। -पाथेय 3

32. आनन्द व्याकुलतासे ही मिल सकता है और किसी प्रकार नहीं। जिस प्रकार सभी मिठाइयोंमें मीठापन चीनीका होता है, उसी प्रकार सभी अच्छाइयोंमें अच्छापन व्याकुलताका होता है। त्याग, प्रेम, ज्ञान –ये सभी व्याकुलताके बच्चे हैं। -सन्त-समागम 1/185

33. वास्तवमें देना ही मानवता और लेना पशुता है। दी हुई वस्तु बढ़ जाया करती है, इसे सभी विचारशील जानते हैं। अतः लेनेके लिये भी देना आवश्यक है और ऋणसे मुक्त होनेके लिये भी देना अनिवार्य है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि देना ही सच्ची साधना है। -संतपत्रावली 2/22

34. प्रभुका नाम, प्रभुका काम, प्रभुका ध्यान समान अर्थ रखते हैं। -पाथेय 276

35. समस्त साधन विश्राम, स्वाधीनता और प्रेममें ही विलीन होते हैं। -सत्संग और साधन 34

36. सभी साधनोंकी परावधि 'त्याग' में और त्यागकी परावधि 'प्रेम' में निहित है। -जीवन-दर्शन 256

37. सभीके हितमें ही अपना हित है, इस वास्तविकताको अपनाकर ही प्रत्येक कर्तव्य-कर्म तथा जप, तप आदि करना चाहिये। अपने हितके लिये किया हुआ ध्यान भी बन्धन ही है। -पाथेय 272

38. साधनका सम्बन्ध साधककी रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्यसे है। जिस साधनमें इन सबका समर्थन हो, वही साधन सिद्धिदायक है। -सत्संग और साधन 71

39. व्यक्तिगत सत्य वास्तविक सत्यकी प्राप्तिमें साधनरूप है। इस कारण व्यक्तिगत रूपसे आदरणीय तथा अनुसरणीय है, पर सबको व्यक्तिगत पथपर ही चलानेका प्रयास आग्रही बना देता है। आग्रहसे सत्य असत्यसे ढक जाता है, और फिर व्यक्तिगत सत्य, जो अपने लिये साधनरूप था, साधनरूप नहीं रहता, अपितु उससे अहंभाव ही पोषित होने लगता है। अहंभाव परस्पर एकता सुरक्षित नहीं रहने देता, अपितु भेदको जन्म देता है, जो संघर्षका मूल है। -दुःखका प्रभाव 82

40. व्यक्तिगत साधनको बल तथा आग्रहपूर्वक व्यापक बनानेका प्रयास अपने व्यक्तिगत सत्यसे विमुख होना है और परस्पर भिन्नताको पोषित करना है। -दुःखका प्रभाव 83

41. अपने व्यक्तिगत साधनको सिखानेका आग्रह साधनका भोग है, सेवा नहीं। सेवा दुःखियोंको देख करुणित और सुखियोंको देख प्रसन्न होनेका पाठ पढ़ाती है, शासक नहीं बनाती। -दुःखका प्रभाव 84

42. साधनके आरम्भमें जो सेवक है, वही मध्यमें त्यागी है और अन्तमें प्रेमी है। -जीवन-दर्शन 257

43. जो 'जिज्ञासु' अपने जाने हुए दोषका त्याग नहीं कर सकता और जो 'भक्त' अपनेको समर्पित नहीं कर सकता, वे दोनों ही साधनमें सफल नहीं हो पाते। –जीवन-दर्शन 199

44. साधन करनेके लिये किसी अप्राप्त बल, वस्तु, व्यक्ति आदिकी अपेक्षा नहीं है और न उस ज्ञानकी आवश्यकता है, जो अपनेमें नहीं है, अपितु जो है उसीसे साधन करना है। यह नियम है कि सामर्थ्यकी न्यूनता तथा अधिकता साधनमें कोई अर्थ नहीं रखती। –जीवन-दर्शन 191

45. साधन करनेमें असमर्थता नहीं है, अपितु असावधानी है, जो साधनकी रुचि जाग्रत् होनेपर मिट सकती है। –जीवन-दर्शन 269

46. सभी साधकोंका साध्य एक है और प्रत्येक साधनमें सभी साधनोंका समावेश है। –जीवन-दर्शन 314

47. बहुत-से लोग विनोदमें कह देते हैं कि अभी कौन-सी जरूरत है साधन करनेकी, कुछ वर्षोंके बाद देखा जायगा, अभी तो भाई आनन्द करने दो। सोचनेकी बात है कि बिना साधनके आपको आनन्द कैसे मिलेगा ? भाई, जीवनका कोई कार्य असाधन-रूपसे किया हुआ सुखद भी नहीं होता, शान्ति देनेवाला भी नहीं होता और सद्‌गति देनेवाला भी नहीं होता। –सफलताकी कुंजी 127

48. साधन बोझा नहीं है। आज साधकको यह मालूम होता है कि जैसे कोई आदमी रोटी खाकर निश्चिन्त होकर उठता है, वैसे ही जब वह ध्यानसे उठता है तो उसे विश्राम मिलता है अर्थात् जब वह ध्यानमें था, तब उसे विश्राम नहीं था ! तो क्या यह भी साधन है कि ध्यानकालमें विश्राम न मिले ? –सफलताकी कुंजी 128

49. किसी व्यक्तिका विधेयात्मक साधन क्या है ? उसका निर्णय किसी अन्यकी तो कौन कहे, वह बेचारा स्वयं भी उस समयतक नहीं कर सकता, जबतक विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वासका त्याग न करे। असत्‌के त्याग द्वारा सत्‌का संग ही साधन-निर्माणमें हेतु है। –दर्शन और नीति 48

50. साधन-भेद होनेपर साध्यमें भेद स्वीकार करना साधनको ही साध्य मान लेना है। –दर्शन और नीति 106-107

51. यद्यपि प्रत्येक पद्धति किसी-न-किसी साधकके लिये हितकर अवश्य है; परन्तु ऐसी कोई पद्धति हो ही नहीं सकती, जो सर्वांशमें सभीके लिये हितकर सिद्ध हो; क्योंकि पद्धतिकी उत्पत्ति व्यक्तिकी योग्यता, रुचि एवं परिस्थिति आदिसे होती है। सर्वांशमें समान योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति दो व्यक्तियोंकी भी नहीं होती, तो फिर किसी पद्धतिको इतना महत्त्व देना कि उसे सभी मान लें, यह उस पद्धतिके समर्थकके अहम्-भावका विकार है। –चित्तशुद्धि 22

52. साधनमें किसी प्रकारकी पराधीनता, असमर्थता एवं असफलता नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक साधक प्रत्येक दशामें साधन करनेमें सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। –चित्तशुद्धि 129

53. यह नियम है कि निषेधात्मक साधनकी पूर्तिमें सभी साधक स्वाधीन हैं; क्योंकि उसके लिये किसी अप्राप्त वस्तु आदिकी अपेक्षा नहीं होती और उसमें कभी असिद्धि भी नहीं होती। जैसे, 'हम किसीका बुरा नहीं चाहेंगे' –इस साधनमें किसी भी साधकको कोई भी कठिनाई नहीं है और उसकी सिद्धि भी वर्तमानमें ही हो सकती है। –चित्तशुद्धि 139

54. निषेधात्मक साधन ही वास्तविक साधन है। विध्यात्मक साधन तो केवल उसका शृंगारमात्र है। विध्यात्मक साधनसे तो साधकका प्रकाशन होता है, पर साधककी साधनासे अभिन्नता तो निषेधात्मक साधनसे ही होती है। –चित्तशुद्धि 140-141

55. 'साधन' वही है, जिसके करनेमें साधक समर्थ तथा स्वाधीन है और 'साध्य' वही है, जिसकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है। –चित्तशुद्धि 359

56. समस्त साधन विवेकशक्ति, भावशक्ति और क्रियाशक्तिके सदुपयोगसे सिद्ध होते हैं। –चित्तशुद्धि 361-362

57. ममता और कामनाका त्याग किये बिना साधनाके मार्गमें बढ़ा ही नहीं जा सकता। –सन्त-जीवन-दर्पण 77

58. जिस प्रकार बिना प्राणका शरीर कितना ही सुन्दर क्यों न हो, बेकार होता है, उसी प्रकार व्याकुलतारहित साधन कितना ही उत्तम क्यों न हो, बेकार हो जाता है। –सन्त-समागम 1/47

59. जिस प्रकार सभी मिठाइयोंमें मिठास चीनीकी होती है, उसी प्रकार सभी साधनोंमें प्रधानता व्याकुलताकी होती है। –सन्त-समागम 1/76

60. उपासनाका वास्तविक तत्त्व यह है कि उपास्यदेवसे भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है, उसका अभाव हो जाय अथवा उपास्यदेवसे भिन्न और किसीकी सत्ता शेष न रहे। –सन्त-समागम 1/81

61. उपासना करनेसे पहले उपासकको यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि वह अपनेको निराकार मानता है अथवा साकार; क्योंकि साकार मानकर निराकारकी उपासना नहीं कर सकता और निराकार मानकर साकारकी उपासना नहीं कर सकता। उपासना तो वास्तवमें साकार तथा सगुणकी ही होती है; क्योंकि जिसको इन्द्रियोंकी अपेक्षा निराकार कहते हो, वह बुद्धिकी अपेक्षा साकार है। –सन्त-समागम 1/96

62. जो साधन साधकके अहंभावसे उत्पन्न नहीं होता, वह साधकके लिये शृंगार-मात्र है, जीवन नहीं। –सन्त-समागम 2/136

63. भगवान्‌की ओर मन लगाकर काम करना उतना अच्छा नहीं है, जितना अच्छा कामको भगवान्‌का समझकर करना है।
-सन्त-समागम 2/108

64. किसीसे कुछ न चाहें और किसीका अहित न करें, तो भक्तको भगवान्, अशान्तको चिर शान्ति और दुःखीको दःख-निवृत्ति मिल जायगी। -संत-उद्‌बोधन 74

65. यह भली प्रकार समझ लो कि जो प्राणी सद्‌भावपूर्वक एक बार भगवान्‌का हो जाता है, उसका पतन नहीं होता। अतः 'मैं भगवान्‌का हूँ' यह महामन्त्र जीवनमें घटा लो। ऐसा करनेपर सभी उलझनें अपने-आप सुलझ जायँगी। -सन्त-समागम 2/256

66. साधन वही सार्थक है, जो साधकको साध्यसे अभिन्न कर सके। वह तभी हो सकता है कि जब जीवन ही साधन बन जाय, साधन जीवनका अंगमात्र न रहे। -सन्त-समागम 2/135

67. भक्त होनेपर भक्ति स्वतः आ जाती है, जिज्ञासु होनेपर विचार स्वतः उत्पन्न होता है, सेवक होनेपर सेवा स्वभावतः आ जाती है; क्योंकि मन, इन्द्रिय आदिकी चेष्टा अहंभावके विपरीत नहीं होती। -सन्त-समागम 2/136

68. जिज्ञासु हुए बिना किया हुआ विचार बुद्धिका व्यायाम है, सेवक हुए बिना की हुई सेवा पुण्य-कर्म है और भक्त हुए बिना किया हुआ भगवच्चिन्तन भोगप्राप्तिका साधनमात्र है, भक्ति नहीं।.....अतः प्रत्येक साधनका जन्म अहंभावसे होना चाहिये अर्थात् जिस लक्ष्यको प्राप्त करना है, उसके अनुरूप अहंता बना लो। -सन्त-समागम 2/137

69. विश्वास-मार्ग तथा विचार-मार्ग –ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र मार्ग हैं। विश्वासमें विचारके लिये और विचारमें विश्वासके लिये कोई स्थान नहीं है। -सन्त-समागम 2/150

70. जप केवल स्वीकृतिमात्रसे हो सकता है; परन्तु स्मरण तबतक नहीं हो सकता है, जबतक प्राणी सद्‌भावपूर्वक उनका न हो जाय; क्योंकि स्मरण सम्बन्धके बिना किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। जबतक स्मरण उत्पन्न न हो, तबतक जप करना परम अनिवार्य है।..... जप करनेसे सम्बन्ध करनेकी शक्ति आ जायगी। -सन्त-समागम 2/152

71. व्याकुलताके बिना न तो सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, न तत्त्वज्ञान। व्याकुलतारहित निर्जीव यन्त्रकी भाँति साधन करना क्रिया-परिवर्तनसे भिन्न कुछ अर्थ नहीं रखता। -सन्त-समागम 2/152-153

72. जिस प्रकार जीवनकी पूर्णता मृत्युमें बदलती है, उसी प्रकार प्रत्येक साधन आगामी साधनमें अपने-आप बदल जाता है।
-सन्त-समागम 2/154

73. संसारसे सच्ची निराशा एवं अपनेको सब ओरसे हटा लेना अध्यात्म-उन्नतिका सर्वोत्कृष्ट सुगम साधन है।
-सन्त-समागम 2/154

74. साधनमें कठिनताका भाव केवल साधकका प्रमाद है, अथवा कठिनताका कारण साधककी योग्यताके प्रतिकूल साधन है, अथवा साधक आवश्यकता होनेसे पूर्व आवेशमें आकर साधनमें प्रवृत्त हुआ है, अथवा विश्वासकी शिथिलता है तथा अनुभूतिका निरादर करता है, अर्थात् ऐसा साधक निज ज्ञानके अनुरूप जीवन नहीं करता। इन सभी कारणोंसे साधकको साधनमें कठिनता प्रतीत होती है।
-सन्त-समागम 2/208

75. तुमको सब लोगोंके साथ रहते हुए भी अकेलेके समान रहना चाहिये अर्थात् किसी भी व्यक्तिसे इतनी घनिष्ठता न हो कि वह व्यक्ति तुमसे बेकार बातें करे, अर्थात् तुम किसीको भी अपने मन बहलानेका साधन मत बनाओ। -सन्त-समागम 2/317

76. व्यक्तिगत साधनका आग्रह यह सिद्ध करता है कि जिस साधनका वह आग्रह कर रहा है, वह वास्तवमें उसका जीवन नहीं है। जैसे, कोई भूखा प्राणी भोजनकी प्रशंसा तो करता हो, पर स्वयं भूखा रहता हो। -मंगलमय विधान 54

77. बाहरी साधनोंमें अपनेको अधिक मत फँसाओ। जहाँतक हो सके, हृदयसे प्रेमपात्रको पुकारो। -सन्त-समागम 2/316

78. जो प्राणी बाहरी साधनोंमें अपनेको अधिक बाँध लेता है, उसमें साधनका मिथ्या अभिमान आ जाता है। बाहरी साधन निर्बलताओंको ढक देता है, मिटा नहीं पाता।....... छिपा हुआ साधन बाहरी साधनोंसे कहीं अधिक सबल होता है। छिपा हुआ त्याग तथा प्रेम बढ़ जाता है, छिपी हुई प्रीति सच्ची व्याकुलता उत्पन्न करती है, जो वास्तवमें सच्चा भजन है। किसीने भी बहुमूल्य वस्तुओंको बाहर निकालकर नहीं रखा, सब छिपाकर ही रखते हैं। अतः प्रीति जैसी अमूल्य वस्तुको हृदयमें छिपाकर रखना चाहिये।
-सन्त-समागम 2/324

79. अपने साध्यमें अगाध, अनन्त, नित नव प्रियता ही साधन-तत्त्व है। -साधन-तत्त्व 3

80. निषेधात्मक साधन सभी साधकोंके लिये समान है; क्योंकि असाधनका त्याग ही निषेधात्मक साधना है। असाधनके त्यागके बिना विध्यात्मक साधना, जो प्रत्येक साधककी अलग-अलग होती है, सिद्ध हो ही नहीं सकती। -साधन-तत्त्व 8

81. निषेधात्मक साधना ही सभी साधकोंमें स्नेहकी एकता सुरक्षित रखती है अर्थात् विध्यात्मक साधना अलग-अलग होनेपर भी साधक होनेके नाते परस्परमें एकता बनी रहती है। -साधन-तत्त्व 8

82. साधन वर्तमानकी वस्तु है, भूत और भविष्यकी नहीं। -साधन-तत्त्व 18

83. साधन वही है, जो साधकका जीवन हो जाय। -साधन-तत्त्व 22

84. जिस साधनमें स्वाभाविक प्रियता नहीं होती, वह साधन साधकका जीवन नहीं हो सकता। जो साधन जीवन नहीं हो सकता, वह अखण्ड नहीं हो सकता। जो अखण्ड नहीं हो सकता, वह वास्तवमें साधन नहीं है। -साधन-तत्त्व 29

85. साध्य सभीका एक होनेपर भी साधन-सामग्री दो साधकोंकी भी सर्वांशमें समान नहीं है। साधन-सामग्रीके सदुपयोगका ही नाम साधन है। अतः साधन-सामग्रीमें भेद होनेसे साधनमें भेद अनिवार्य है। -साधन-तत्त्व 31-32

86. स्वाभाविकता उसी साधनमें हो सकती है, जिसमें साधकको लेशमात्र भी सन्देह न हो अर्थात् साधन निज विवेकके अनुरूप हो; क्योंकि विवेक-विरोधी साधनमें निस्सन्देहता सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, अन्य साधन द्वारा सिद्धिका प्रलोभन भी साधकको अपने साधनसे विचलित न कर सके, अपितु उसमें यही भाव दृढ़ रहे कि मुझे अपने ही साधन द्वारा सिद्धि प्राप्त करना है।

-साधन-तत्त्व 41

87. यह नियम है कि सक्रिय साधनके बिना 'करनेके राग' का नाश सम्भव नहीं है। -साधन-तत्त्व 42

88. जिस साधनमें निस्सन्देहता होती है, उसमें 'बुद्धि' और जो साधन रुचिकर होता है, उसमें 'मन' अपने-आप लग जाता है। मन-बुद्धिके लगनेसे साधनमें स्वाभाविकता आ जाती है; क्योंकि मन-बुद्धि आदिको लगाने-हटानेमें जो अस्वाभाविकता है, वह नाश हो जाती है। कारण कि हटाना और लगाना श्रमसाध्य है। श्रम कभी भी अखण्ड नहीं हो सकता। -साधन-तत्त्व 43

89. सत् असत्का प्रकाशक है, नाशक नहीं; किन्तु सत्की लालसा, जो साधनरूप है, असत्को खाकर साधकको सत्से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साध्यकी अपेक्षा साधनका कहीं अधिक महत्त्व है। हाँ, यह अवश्य है कि साधनमें सत्ता साध्यकी ही होती है। -साधन-तत्त्व 49

90. साधन कोई ऐसा कार्य नहीं है, जिसमें कभी न करनेकी बात आये। साधन वही है जो स्वभावसे ही निरन्तर होता रहे। यदि साधनमें व्यवधान पड़ता है तो यह समझना चाहिये कि साधनके भेषमें किसी असाधनको अपना लिया है। -साधन-तत्त्व 40

91. जो साधन जीवनके किसी एक अंशमें प्रतीत होता है, वह वास्तवमें साधनके भेषमें असाधन ही है; क्योंकि साधकका समस्त जीवन साधन है। -साधन-तत्त्व 58

92. साधन और जीवनमें एकता प्राप्त करनेके लिये किसी अप्राप्त परिस्थितिकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि साधन-दृष्टिसे सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। परिस्थिति-परिवर्तनकी कामना उन्हीं प्राणियोंमें रहती है, जो परिस्थितिको ही जीवन मान लेते हैं।

-साधन-तत्त्व 59

93. अपने सुख-दुःखका कारण दूसरोंको मानना साधनका सबसे बड़ा विघ्न है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 61

94. यदि हम दूसरोंके अधिकारोंकी रक्षा करते हुए अपने अधिकारका त्याग कर दें तो पूरा गृहस्थ-जीवन साधनयुक्त हो जायगा और किसी प्रकारकी कठिनाई मालूम नहीं पड़ेगी। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 63

95. कामनाको लेकर जो ईश्वरका भजन-चिन्तन किया जाता है, वह कामनाकी पूर्त्ति होनेपर या न होनेपर ईश्वरसे विमुखता प्रदान करता है। -संत-सौरभ 128

96. आप सुनना और सीखना बन्द करें, और जानना और मानना प्रारम्भ करें, तो काम बन जायगा। जाननेके स्थानपर 'मेरा कुछ नहीं है' –इसके सिवाय और कुछ नहीं जानना है, और माननेके स्थानपर सिवाय परमात्माके और कोई मानने में आता नहीं है।

-संत-उद्‌बोधन 15

97. ज्ञानपूर्वक अनुभव करो कि मैं किसी भी कालमें देह नहीं हूँ और न देह मेरा है। आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि अपनेमें अपने प्रेमास्पद सदैव मौजूद हैं। बस, यही सफलताकी कुंजी है। -संतपत्रावली 2/162

98. परमात्माके सम्बन्धका जो प्रभाव जीवनमें आ जाता है, उसीको साधना कहते हैं। -संतवाणी 7/110

99. साधनका अर्थ यह कभी नहीं है कि हम वह साधन करें कि जो हमारे जीवनसे कभी भी अलग हो सके। -संतवाणी 7/163

100. सच मानिये, साधन उसका नाम नहीं है, जिसको आपने बाहरसे भरा है। साधनका असली अर्थ ही यह है कि जिसकी अभिव्यक्ति साधकमेंसे हो। -संतवाणी 4/14

101. जो साधन अपने द्वारा होता है, उसी साधनसे सिद्धि होती है। जो साधन अपने द्वारा नहीं होता, पराश्रयसे होता है, उस साधनसे बाह्य विकास तो दिखाई देता है, लेकिन अपनेको कुछ नहीं मिलता। -संतवाणी 4/63

102. अगर आप यह मानते हैं कि सिद्धि {वर्तमानमें} नहीं हो सकती, तो साधन करनेकी क्यों सोचते हैं ? आप कहेंगे कि साधन करनेकी तो इसलिये सोचते हैं कि कालान्तरमें, जन्म-जन्मान्तरमें हमको सिद्धि मिलेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अभी हम असाधन-जनित सुखका भोग करना चाहते हैं। -संतवाणी 4/159

103. अपने लिये तप करना भी भोग है, पर प्रभुके लिये झाड़ू लगाना भी पूजा है। -संत-उद्‌बोधन 77

104. आप दशासे परिचित होते नहीं, जरूरतसे परिचित होते नहीं, साधनसे परिचित होना चाहते हैं। जो साधन आपकी जरूरतके अनुसार नहीं होगा, जो जरूरत आपकी मौजूदा दशामेंसे नहीं निकलेगी, यह कैसे ठहरेगी आपके जीवनमें ! प्यासे आदमीको पानीकी बात सुननेको मिले तो वह फौरन पकड़ लेता है; क्योंकि प्यास लगी है, उसे जरूरत है। पहले आप अपनी मौजूदा हालत देखिये, क्या है ? फिर अपनी जरूरत देखिये, क्या है ? फिर उपाय पूछिये अपनी जरूरतको सामने रखकर, तो जरूरतका अनुभव होना ही एक बहुत बड़ा उपाय हो जायगा। -संत-उद्‌बोधन 8-9

105. व्यथित हृदयसे इतना ही कह दीजिये कि हे प्यारे, हम आपको अपना मानना चाहते हैं, पर मान नहीं पाते; हम ममता तोड़ना चाहते हैं, पर तोड़ नहीं पाते। व्यथित हृदयसे इतना कहकर मौन हो जाइये। आपको पता भी न चलेगा कि ममता कैसे टूट गयी और आत्मीयता कैसे आ गयी। क्यों ? जो करना चाहते हैं आप, चाहते हैं और नहीं कर पाते, तो जो चाहना है, वही करना है और कुछ नहीं करना है। -जीवन-पथ 125

106. विवेकपूर्वक देह आदिकी असंगता वास्तविक साधना है। कारण कि किसीकी असंगता ही किसीकी अभिन्नता हो जाती है। -पाथेय 28

107. असंगता किसी भी अभ्याससे साध्य नहीं है। कारण कि अभ्यास उन वस्तुओंसे तादात्म्य करा देता है, जिनसे साधकको असंग होना है। -दुःखका प्रभाव 25

108. निष्काम हुए बिना असंगता किसी भी अभ्याससे साध्य नहीं है। -दुःखका प्रभाव 112

109. आत्मीयता ही वास्तविक भजन है और ममताका अन्त ही वास्तविक साधन है। -संतपत्रावली 2/81

110. जिसको साधन कहते हैं, जिसको भजन कहते हैं, वह शरीर-धर्म नहीं है। -संतवाणी 3/112

111. भजनके दो भाग हैं –एक भाग है 'सेवा' और दूसरा 'प्रियता'। सेवा प्रवृत्तिकालमें और प्रियता निवृत्तिकालमें। इसका नाम है –भजन। -प्रेरणा पथ 41

112. सेवा, त्याग और प्रेम तीनों इकट्ठे हो गये, भजन हो गया। भजनमें सेवा भी है, त्याग भी है और प्रेम भी है। -संत-उद्‌बोधन 13

113. याद आना, प्यारा लगना, अभिलाषा पैदा होना –यही तो भजन है। विचारकोंने इसे 'साधन' कह दिया और श्रद्धालुओंने 'भजन' कह दिया। -संत-उद्‌बोधन 173

114. अभ्यासका नाम भजन नहीं है, प्रियता ही सच्चा भजन है। -सन्त-जीवन-दर्पण 57

115. प्रभुके नाते किया हुआ काम भजन हो जाता है। -संतवाणी 8/72

116. जो सबसे सम्बन्ध तोड़कर एकमात्र भगवान्‌को ही अपना मान लेता है, उससे भजन अपने-आप होता है, उसे करना नहीं पड़ता। -संत-सौरभ 80

117. भगवान्‌को अपना मानेंगे, तब भजन होगा कि किसी क्रिया-विशेषसे भजन होगा ? अपना मानेंगे तब भजन होगा। -संतवाणी 7/73

118. यह जो परमात्माको अपना मानना है, यही सच्चा भजन है। क्यों ? अपना माननेसे वह प्यारा लगता है। -संतवाणी 3/139

119. बिना कुछ भी चाहे, जो भगवान्‌को अपना मानता है, वही भजन कर सकता है। -संत-उद्‌बोधन 64

120. सब कामोंके अन्तमें सोते समय और सोकर उठते समय एवं जो कोई काम करो, उसके अन्तमें भजन जरूर करना चाहिये। जो मनुष्य हरेक कामके अन्तमें कम-से-कम एक बार भी निश्चितरूपसे भगवान्‌को याद कर लेता है, उसको मरते समय भगवान् जरूर याद आ जायँगे। -संत-सौरभ 205

121. हमारे विचारसे भजनकी प्राप्ति तीन प्रकारसे होती है –स्तुति, उपासना और प्रार्थनासे। 'स्तुति' का तात्पर्य है –परमात्माके अस्तित्व और महत्त्वको सवीकार करना। 'उपासना' का अर्थ है –परमात्मासे सम्बन्ध स्वीकार करना। और 'प्रार्थना' का बोधार्थ है –परमात्माके प्रेमकी आवश्यकता अनुभव करना। -संतवाणी 3/142

सामर्थ्य (बल)

1. जितनी आपके जीवनमें निश्चिन्तता रहेगी, उतनी आपमें सामर्थ्यका विकास होगा। -संतवाणी 4/203

2. निर्मम होनेसे ही निष्काम होनेकी सामर्थ्य आती है, और निष्काम होनेसे ही असंग होनेकी सामर्थ्य आती है। ऐसा नियम ही है। -साधन-त्रिवेणी 53

3. वैज्ञानिक दृष्टिसे निश्चिन्तता आवश्यक सामर्थ्यकी जननी है और निर्भयता प्राप्त सामर्थ्यका सदुपयोग करानेमें हेतु है। -संतपत्रावली 2/61-62

4. मानसिक अशान्तिसे प्राप्त सामर्थ्यका ह्रास ही होता है, कोई लाभ नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है। इस कारण विचारशील प्रत्येक दशामें मानसिक शान्ति सुरक्षित रखते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि उन्हें प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगकी सामर्थ्य मंगलमय विधानसे मिल जाती है। -संतपत्रावली 2/105

5. श्रम-रहित हुए बिना सामर्थ्यकी अभिव्यक्ति नहीं होती। -पाथेय 116-117

6. शक्तिहीनताकी अनुभूति यह सिद्ध करती है कि सामर्थ्य किसी व्यक्तिकी अपनी नहीं है। यह उसीकी देन है, जिसके प्रकाशसे समस्त विश्व प्रकाशित है। -जीवन-दर्शन 168

7. असमर्थता सामर्थ्यके दुरुपयोगसे उत्पन्न होती है। सामर्थ्यका सदुपयोग करनेसे उत्तरोत्तर उसकी वृद्धि ही होती रहती है। -सफलताकी कुंजी 74

8. प्राकृतिक नियमानुसार बलका उपयोग एकमात्र शरीर, परिवार, समाज, संसार आदिकी सेवामें ही किया जा सकता है। उसके द्वारा अविनाशी जीवनकी उपलब्धि नहीं हो सकती। -सफलताकी कुंजी 82

9. बलका दुरुपयोग करते ही विरोधी शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो अपनेको सबल मानता था, वही निर्बल हो जाता है और फिर उसके प्रति वही होने लगता है, जो उसने अन्यके प्रति किया था। -दर्शन और नीति 18

10. सामर्थ्यशाली वही है, जो बलका दुरुपयोग तथा विवेकका अनादर नहीं करता, और जिसकी प्रसन्नता किसी औरपर निर्भर नहीं रहती, एवं जो सभीके लिये उपयोगी तथा हितकर सिद्ध होता है। जिससे कभी किसीका अहित नहीं होता, वही सामर्थ्यवान् है। -दर्शन और नीति 79

11. प्राकृतिक नियमके अनुसार प्राप्त सामर्थ्य किसी असमर्थकी धरोहर है। वह उसीके काम आनी चाहिये अर्थात् सर्वहितकारी प्रवृत्तिमें ही सामर्थ्यका सद्व्यय है। -चित्तशुद्धि 19

12. सामर्थ्यशाली देश, समाज, वर्ग, जाति, व्यक्ति आदि वे ही माने जा सकते हैं कि जिनके द्वारा किसीका अहित न हो और जिनकी प्रसन्नता किसी औरपर निर्भर न हो। -चित्तशुद्धि 156

13. वास्तविक बल वही है, जो सबल और निर्बलमें एकता उत्पन्न कर दे। -चित्तशुद्धि 214

14. जिस बलसे निर्बलोंकी सेवा नहीं होती, अपितु ह्रास होता है, वह बल स्वतः मिट जाता है। -चित्तशुद्धि 363

15. वास्तविक सामर्थ्यशाली वही है, जिसे वस्तुओंकी खोज नहीं है, अपितु वस्तुएँ जिसकी खोजमें रहती हैं। कारण कि आवश्यकताकी पूर्त्ति अनन्तके विधानसे स्वतः होती है। -चित्तशुद्धि 378

16. दुःखीकी पुकारमें वही सामर्थ्य है, जो विचारशीलके विचारमें है। -चित्तशुद्धि 392

17. शरीरादि संसारकी सभी वस्तुओंपर भरोसा करना ही निर्बलता है। यदि संसारकी सहायताका त्याग कर दिया जाय तो साधक अत्यन्त सबल हो जाता है और फिर संसार उसके अनुकूल होनेके लिये मजबूर हो जाता है। -सन्त-समागम 1/25

18. उनका {भगवान्‌का} हो जानेपर निर्बलता भी महान् बल है और उनका बिना हुए महान् बल भी परम निर्बलता है।....... निर्बल-से-निर्बल भी उनका होकर, बड़ी-से-बड़ी समस्याओंसे पार होकर, उनसे अभिन्न हो जाता है। -सन्त-समागम 2/165-166

19. मिली हुई शक्तिका सदुपयोग करनेपर आवश्यक शक्ति अपने-आप आ जाती है। -सन्त-समागम 2/290

20. असत्य कितना ही सबल हो, किन्तु निर्बल ही होता है। सत्य बाह्य दृष्टिसे कितना ही निर्बल हो, किन्तु सबल ही होता है। -सन्त-समागम 2/307

21. प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त बलका सदुपयोग निर्बलोंकी सेवामें ही हो सकता है। प्राणी निर्बलोंकी अपेक्षा ही अपनेको सबल मान लेता है। इतना ही नहीं, निर्बलोंके बिना अपनी सबलताका भास ही नहीं होता। इस दृष्टिसे सबलता निर्बलोंकी देन है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 58

22. विश्रामकी भूमिमें ही आवश्यक सामर्थ्यकी अभिव्यक्ति होती है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 89

23. प्राकृतिक नियमानुसार बलके दुरुपयोगमें ही निर्बलता निहित है अर्थात् बलके दुरुपयोगसे सबल निर्बल हो जाता है। इसी कारण कालान्तरमें विजयी पराजित और पराजित विजयी होता है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 59

24. ज्यों-ज्यों स्वार्थभाव गलता जाता है, त्यों-त्यों प्रकृति उसे सामर्थ्यशाली बनाती है। जैसे, जिन वृक्षोंसे दूसरे वृक्षोंको पोषण मिलता है, उनकी आयु भी अपेक्षाकृत अधिक होती है और वे दूसरे वृक्षोंसे पोषित भी होने लगते हैं। -चित्तशुद्धि 98

25. बलका उपयोग एकमात्र सेवामें है। -संतवाणी 5/30

26. विश्रामके बिना सामर्थ्यकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। और विश्राम कब मिलता है ? जब असत्‌की कामना न रहे। -संतवाणी 4/16

27. बड़े-से-बड़ा, सबल-से-सबल व्यक्ति, वर्ग तथा समाज उस समयतक हमें असमर्थ नहीं बना सकता, जबतक हम मिले हुए बलका दुरुपयोग तथा विवेकका अनादर नहीं करते। -दर्शन और नीति 52

सुख और दुःख

1. सुखका सदुपयोग उदारता और दुःखका सदुपयोग विरक्ति है। –मानवकी मांग 5

2. यह जो हम आज दुःखी होते हैं और हमारा विकास नहीं होता है, उसका कारण एकमात्र यही है कि हम दुःखका कारण दूसरोंको मानते हैं। –मानवकी मांग 44

3. यह नियम है कि जिस कठिनाईको शान्तिपूर्वक सहन कर लिया जाता है, वह कठिनाई स्वयं हल हो जाती है। शान्तिपूर्वक सहन करनेका अर्थ है, अपने दुःखका कारण किसी औरको न मानकर दुःखको सहन कर लेना। –मानवकी मांग 45-46

4. दुःखोंकी निवृत्ति तो भगवान्‌को बिना माने भी हो सकती है। आप निष्काम हो जायँ, आपके दुःखोंकी निवृत्ति हो जायगी। –संतवाणी 7/113

5. जो प्रवृत्तियाँ अपने लिये सुखद हों और दूसरोंके लिये दुःखद हों, वे कभी साधनयुक्त नहीं हो सकतीं। जो सुख किसीका दुःख बनकर आता है, वह कालान्तरमें घोर दुःख बन जाता है और जो दुःख किसीके हितके लिये आता है, वह हमें आनन्दसे अभिन्न कर देता है। –सफलताकी कुंजी 128

6. तुम्हारे दुःखका कारण दूसरा नहीं हो सकता। यदि हमारे दुःखका दूसरा कोई कारण हो, तो दुःख मिटानेका प्रश्न ही जीवनमें नहीं रहता। –प्रेरणा पथ 105

7. अपने दुःखका कारण किसी दूसरेको न मानकर अपनेको ही मान लेते तो हमारा दुःख मिट जाता। –प्रेरणा पथ 105

8. दुःख देनेवाली सृष्टि तो व्यक्तिने अपने-आपमेंसे ही उत्पन्न की है, जाने हुए असत्‌का संग करके। –जीवन-पथ 57

9. जिस समय सुखका प्रलोभन नहीं होगा, सुखका भोग नहीं होगा, उसी समय वह दुःख, जिसे आप दुःख मानते हैं या अनुभव करते हैं, नहीं रहेगा, अपितु वहाँ दुःखहारी होगा। –जीवन-पथ 128

10. दुःखका मूल 'भूल' है। अगर हमारी भूल नहीं है तो हमारे जीवनमें दुःख हो ही नहीं सकता। –साधन-त्रिवेणी 20

11. दुःख आनेपर अचाह हो जाओ, सुख आनेपर उदार हो जाओ। अगर तुम उदार हो जाओ तो सुखके बन्धनसे छूट जाओगे। अगर तुम अचाह हो जाओ तो दुःखके भयसे छूट जाओगे। –साधन-त्रिवेणी 45

12. सुखसे अरुचि उन्हींको नहीं होती, जो सुखकी वास्तविकताको नहीं जानते अथवा पराये दुःखसे दुःखी नहीं होते। –मानवकी मांग 84

13. दुःखके प्रभावकी पहचान क्या है ? किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितिसे सम्बन्ध न रहे; न किसीसे कुछ आशा रहे। दुःखके प्रभाव और दुःखके भोगमें बड़ा अन्तर है। दुःखका प्रभाव साधन है और दुःखका भोग असाधन है। –संत-उद्‌बोधन 67

14. ऐसा कोई सुख नहीं है, जिसका जन्म किसी दुःखसे न हो और ऐसा भी कोई सुख नहीं है, जिसका दुःखमें अन्त न हो। –मानवकी मांग 164

15. सुखसे दुःख दबता है, मिटता नहीं और यह नियम है कि दबा हुआ दुःख बढ़ता है, घटता नहीं। इस दृष्टिसे दुःख मिटानेके लिये सुख अपेक्षित नहीं है, दुःख बढ़ानेके लिये सुख भले ही अपेक्षित हो। –मानवकी मांग 165

16. मानव-जीवन सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं मिला, अपितु सुख-दुःखका सदुपयोग करनेको मिला है। –मानवकी मांग 167

17. यदि जीवनमेंसे दुःखका भाग निकाल दिया जाय तो न तो सुखका सम्पादन ही हो सकता है और न मानव सुखकी दासतासे रहित हो सकता है। –मानव-दर्शन 155

18. अहंता तथा ममतासे ही दुःख-सुखका जन्म होता है। अहम् और मम अविवेकसिद्ध हैं। निज-विवेकका आदर करनेपर अहम् और मम शेष नहीं रहते, और फिर दुःखका भय तथा सुखकी दासता भी नहीं रहती। सुखकी दासताका सर्वांशमें अन्त होते ही दुःख स्वतः नाश हो जाता है। –मानव-दर्शन 157

19. दुःख निन्दनीय नहीं है, अपितु सुखकी दासता निन्दनीय है। –मानव-दर्शन 161

20. प्राकृतिक नियमानुसार सुख देकर जो दुःख लिया जाता है, वह मानवको आनन्दसे अभिन्न करता है और दुःख देकर जो सुख-सम्पादन किया जाता है, वह मानवको घोर दुःखमें आबद्ध करता है। –मानव-दर्शन 162

21. जो सुख चाहते हुए भी चला गया, उसकी दासता बनाये रखना और जिस दुःखसे सर्वतोमुखी विकास हुआ, उससे भयभीत होना, उसके प्रभावको न अपनाना प्रमादके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। –मानव-दर्शन 162

22. सुखकी अपेक्षा दुःख कहीं अधिक जीवनका आवश्यक अंग है। –संतवाणी 8/43

23. सुख जाता ही है और दुःख आता ही है। इस विधानमें मानवका अमंगल नहीं है, अपितु मंगल ही है। –साधन-निधि 53

24. कोई भी मनुष्य जबतक अपनेको दुःखी नहीं बनाता, तबतक दूसरेको दुःखी नहीं कर सकता। -संतपत्रावली 1/6

25. यह नियम ही है कि जो आता है, वह चला जाता है, तो इस दृष्टिसे सुख और दुःख दोनों ही सदैव नहीं रह सकते। जो नहीं रह सकता, उसका सदुपयोग कर सकते हैं, उसमें जीवन-बुद्धि नहीं कर सकते। कारण कि उससे नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता। -मानव-दर्शन 190

26. दुःख मिटानेके पहले सुखका त्याग करो, फिर बेचारा दुःख स्वयं दुःखी होकर भाग जायगा। -संतपत्रावली 1/63

27. सुख जीवनकी सबसे बुरी अवस्था है; क्योंकि आनन्दकी अभिलाषा जाग्रत् नहीं हो पाती। आनन्द यद्यपि अपनी जातीय वस्तु है, पर इस अभागे सुखने उस जातीय वस्तुसे हटाकर अपनी ओर आकर्षित कर दीन बना दिया है। परम प्रिय दुःखकी शरण लेकर सुखको हटाओ। -संतपत्रावली 1/107

28. दुःखी 'त्याग' से और सुखी 'सेवा' से उन्नति करता है। -संतपत्रावली 1/109

29. दुःख प्राणीको त्यागका पाठ पढ़ानेके लिये आता है। ज्यों-ज्यों त्याग बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों दुःख अपने-आप मिटता जाता है। -संतपत्रावली 1/149

30. सत्यकी आवाजको किसी व्यक्तिकी आवाज, सत्यके ज्ञानको किसी व्यक्तिका ज्ञान, सत्यके प्रेमको किसी व्यक्तिका प्रेम, सत्यके आनन्दको किसी व्यक्तिका आनन्द और सत्यके सौन्दर्यको किसी व्यक्तिका सौन्दर्य समझना परम भूल है। इस भूलके होनेसे ही व्यक्तियोंसे राग हो जाता है, जो दुःखका मूल है। रागसे दुःख तथा त्यागसे आनन्द अवश्य मिलता है। -संतपत्रावली 1/59

31. यह सभी भाई-बहनोंका अनुभव है कि गहरी नींदमें जितना सुख मिलता है, उतना किसी वस्तु या व्यक्तिके संगसे नहीं मिलता। तभी तो हम गहरी नींदके लिये सभी वस्तुओंका संग छोड़ते हैं।.......सभीसे अलग होनेकी जो हमारी अनुभूति है, वह हमें वस्तुओंसे अतीतके जीवनका संकेत करती है। -मानवकी मांग 94

32. जिस मंगलमय विधानसे दुःख आया है, उसने दण्ड नहीं दिया है, अपितु मानवके हितके लिये दुःखका प्रादुर्भाव किया है। -दुःखका प्रभाव 31

33. जब आया हुआ सुख भी अपने-आप चला गया तो अप्राप्त सुखकी आशासे क्या लाभ होगा ? सुख माँगनेसे नहीं मिलता। विधानसे अपने-आप आता-जाता है। उसके लिये प्रयास प्राप्त सामर्थ्यका दुर्व्यय ही है, और कुछ नहीं। -दुःखका प्रभाव 32

34. प्राप्त-सुखके सद्व्ययसे ही मानव समाजके ऋणसे मुक्त होता है। अप्राप्त-सुखकी कामनाके त्यागसे साधक विश्राम पाता है। इस दृष्टिसे प्राप्त-सुखके सद्व्ययमें परहित और उसकी कामनाके नाशमें अपना हित है। -दुःखका प्रभाव 32-33

35. प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक सुखके आदि और अन्तमें दुःखका प्रादुर्भाव स्वतः होता है। -दुःखका प्रभाव 33

36. सर्वांशमें सुखकी आशाका अन्त करते ही प्रत्येक दुःखी स्वतः दुःखसे रहित हो जाता है। -दुःखका प्रभाव 35

37. बेचारा दुःख साधकोंको दुःखसे रहित करनेके लिये ही आता है। -दुःखका प्रभाव 40

38. विश्वके इतिहास और व्यक्तिगत अनुभूतियोंसे यह सिद्ध नहीं हुआ कि कोई ऐसी परिस्थिति भी है, जिसमें केवल सुख हो, दुःख न हो और न कोई ऐसा प्राणी है, जिसे सुख भोगते हुए विवश होकर दुःख न भोगना पड़ा हो। -दुःखका प्रभाव 50

39. मंगलमय विधानसे दुःखका प्रादुर्भाव एकमात्र सुखकी दासतासे मुक्त करनेके लिये ही होता है। -दुःखका प्रभाव 78

40. गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि दुःखदाता ही दुःखहारी है। इतना ही नहीं, साधकको सुखकी दासतासे मुक्त करनेके लिये दुःखहारी ही दुःखके वेशमें अवतरित होते हैं। -दुःखका प्रभाव 78

41. सुखद अनुभूति उसी क्षणमें होती है, जिस क्षणमें निष्कामता उदित होती है। कामना-निवृत्तिसे निष्कामताकी अभिव्यक्ति स्थायी-रूपसे होती है और कामनापूर्त्ति-कालमें निष्कामता अल्पकालके लिये स्वतः आती है। प्राणी प्रमादवश उस सरस अनुभूतिको वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिके आश्रित मान बैठता है। -दुःखका प्रभाव 97

42. सुखकी आशासे मिलना अलग होनेकी तैयारीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। -जीवन-दर्शन 112

43. दुःखीका दुःख तभी मिट सकता है, जब वह अपने दुःखका कारण किसी औरको न माने। -दर्शन और नीति 90

44. जाग्रत् और स्वप्नमें सुख-दुःखकी अनुभूति होती है, पर सुषुप्तिमें किसीको भी दुःखकी अनुभूति नहीं होती। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब दृश्यसे सम्बन्ध नहीं रहता, तब दुःख नहीं होता। इस अनुभूतिके आधारपर यदि जाग्रत्में ही सुषुप्ति प्राप्त कर ली जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक दुःखका अन्त हो सकता है। -जीवन-दर्शन 220

45. 'सुख' सेवाके लिये है, उपभोगके लिये नहीं और 'दुःख' विवेकका आदर करनेके लिये है, भयभीत होनेके लिये नहीं। -जीवन-दर्शन 256

46. साध्यसे भिन्न जो कुछ भी होगा, वह आपके साथ रह नहीं सकता। इसलिये आया हुआ सुख भी नहीं रहेगा और आया हुआ दुःख भी नहीं रहेगा। -सफलताकी कुंजी 67

47. दुःखका होना कोई दोष नहीं है, पर उसके भयसे भयभीत होकर सुखका चिन्तन करना वास्तविक दोष है। -चित्तशुद्धि 163

48. यह कैसा अनुपम विधान है कि सुख-लोलुपताके नाशके लिये सुख-लोलुपके जीवनमें दुःख अपने-आप आता है। दुःखका प्रभाव सुखके प्रलोभनका नाश कर दुःखीको सदाके लिये दुःखसे रहित कर देता है। -सफलताकी कुंजी 99

49. वस्तुओं और व्यक्तियोंके विश्वास और सम्बन्धको अल्प-से-अल्प कालके लिये भी यदि तोड़कर अनुभव किया जाय तो उस जीवनमें कितना रस है –इसकी तुलना उस सुखसे नहीं की जा सकती, जो अनन्तकालसे वस्तुओं और व्यक्तियोंके सन्बन्धसे मिलता रहा है। -चित्तशुद्धि 84

50. दुःख जितना गहरा होता है, उतनी ही स्पष्ट जागृति आती है; क्योंकि दुःख ही एक ऐसा मूल मन्त्र है, जिससे वस्तु, व्यक्ति आदिके स्वरूपका बोध होता है। वस्तु आदिका यथार्थ ज्ञान वस्तुओंसे असंगता प्रदान करनेमें समर्थ है। -चित्तशुद्धि 163-164

51. ऐसा कोई सुख है ही नहीं, जिसके आदि और अन्तमें दुःख न हो। आदि और अन्तके दुःखको ही मध्यके सुखमें देखना चाहिये। -चित्तशुद्धि 177-178

52. आये हुए दुःखको सुख तथा सुखकी आशासे दबाने तथा मिटानेका प्रयास सर्वदा निरर्थक एवं अहितकर ही सिद्ध होता है; क्योंकि सुख नवीन दुःखको जन्म देता है, और प्रत्येक सुखके आरम्भमें भी किसी-न-किसी प्रकारके दुःखको अपनाना ही पड़ता है। -चित्तशुद्धि 276

53. अपने-आप आये हुए दुःखको सुखके द्वारा दबानेकी रुचि क्यों होती है, और जाने हुए दोषको बनाये रखनेका स्वभाव क्यों बन गया है ? सुखभोगकी आसक्तिके कारण ही प्राणी आये हुए दुःखको सुखसे दबानेका प्रयास करता है, और सुखको सुरक्षित बनाये रखनेके लिये ही जाने हुए दोषको अपनाता है। -चित्तशुद्धि 277

54. जिन वस्तुओंसे सुखकी आशा करते हैं, क्या उनसे प्राणीका नित्य-सम्बन्ध है ? अथवा जिन व्यक्तियोंसे सुखकी आशा करते हैं, क्या वे स्वयं दुःखी नहीं हैं ? अथवा जिस परिस्थितिको सुखद मानते हैं, क्या उसमें किसी प्रकारका अभाव नहीं है ? अथवा जिस अवस्थामें सुखका भास होता है, क्या उसमें परिवर्तन नहीं है ? किसी भी वस्तुसे नित्य-सम्बन्ध सम्भव नहीं है। कोई भी व्यक्ति दुःखसे रहित नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति अभावयुक्त है और प्रत्येक अवस्थामें परिवर्तन है। तो फिर उनसे सुखकी आशा करना प्रमादके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? -चित्तशुद्धि 293

55. प्राणीका व्यक्तिगत दुःख उसे सामूहिक दुःखका बोध करानेमें साधनमात्र है। -चित्तशुद्धि 308

56. परिस्थितिजन्य दुःखसे कोई भी प्राणी बच नहीं सकता। जिससे बच नहीं सकते, उससे भयभीत होना कुछ अर्थ नहीं रखता। -चित्तशुद्धि 310

57. प्रकृतिक नियमानुसार प्राप्त सुख दुःखियोंकी वस्तु है। उसे अपना मानना और उसका भोग करना परायी वस्तुको अपना मानना है। -चित्तशुद्धि 415

58. दुःख कोई देता नहीं, बल्कि दुःखीसे स्वयं दूसरोंको दुःख होता है, जिस प्रकार अग्नि स्वयं जलकर दूसरोंको जलाती है। -सन्त-समागम 1/16

59. दुःखीका दुःख उसी समयतक जीवित है, जबतक अभागा दुःखी दुःखको संसारकी सहायतासे मिटाना चाहता है। संसारसे निराश होते ही दुःखहारी हरि दुःखको स्वयं हर लेते हैं। -सन्त-समागम 1/16

60. बेचारा जड़ संसार दुःख दे नहीं सकता और आनन्दघन भगवान्‌के यहाँ दुःख है नहीं, इसलिये दुःख दुःखीकी भूलसे होता है। -सन्त-समागम 1/24

61. दुःख उसको होता है, जो न तो जड़ है और न चेतन है; परन्तु जो जड़से मिलकर जड़-सा और चेतनसे मिलकर चेतन-सा हो जाता है अर्थात् वह 'अहम्' जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता, बल्कि अपनेमें किसी प्रकारके माने हुए स्वभावको स्वीकार कर लेता है। उस स्वभावकी अनुकूलतामें 'सुख' और प्रतिकूलतामें 'दुःख' का अनुभव करता है। -सन्त-समागम 1/87

62. ऐसी कोई अच्छाई नहीं कि जिसका जन्म दुःखसे न हो। -सन्त-समागम 1/45

63. आपके निज स्वरूपमें अपार आनन्द छिपा है, जो दुःखकी कृपासे मिलेगा, सुखकी कृपासे नहीं। -सन्त-समागम 1/46

64. सुखसे दुःख दब जाता है और आनन्दसे मिट जाता है। 'आनन्द' इच्छाओंकी निवृत्ति होनेपर और 'सुख' इच्छाओंकी पूर्त्ति होनेपर होता है। -सन्त-समागम 1/104

65. दुःख तो सुखसे मिला है, और सुख संसारकी सत्ता स्वीकार करनेसे मिला है। -सन्त-समागम 1/176

66. जिसने सुख दिया है, उसने सुख देना सिखाया है। सुखदाताको तो सुख दे नहीं सकते; अतः दुःखियोंको सुख देना ही सुख-दाताके ऋणसे छूट जाना है। -सन्त-समागम 1/108

67. दुःखका भोक्ता होता है, ज्ञाता नहीं। भोक्ता कभी ज्ञाता नहीं होता और ज्ञाता कभी भोक्ता नहीं होता। -सन्त-समागम 1/215

68. दुःखका होना तो आनन्दघन भगवान्‌की परम कृपा है; क्योंकि यदि दुःख न हो तो विषय-सुखसे अरुचि किसी प्रकार नहीं हो सकती। -सन्त-समागम 1/172

69. भला जिस सुखका जन्म किसीके दुःखसे होगा, वह अन्तमें हमको दुःखके अतिरिक्त और क्या दे सकता है ? -सन्त-समागम 2/15

70. विचारशील उस सुखका उपभोग नहीं करते, जो किसीका दुःख हो, प्रत्युत उस दुःखको प्रसन्नतापूर्वक अपना लेते हैं, जो किसीका सुख हो। -सन्त-समागम 2/16

71. हमारे दुःखी होनेसे केवल हमींको दुःख नहीं होता, बल्कि हम विश्वमें भी दुःख उत्पन्न करते रहते हैं। यदि हम दुःखी न रहेंगे, तो हमारे जीवनसे किसीको भी दुःख न होगा। -सन्त-समागम 2/16

72. जब हम अपनेको अपने प्रेम-पात्रको और शरीर विश्वको दे डालेंगे, तो बस, दुःखका अन्त हो जायगा। विश्वको शरीरकी आवश्यकता है; क्योंकि शरीर विश्वकी वस्तु है। प्रेम-पात्र हमारी प्रतीक्षा करते हैं; क्योंकि हम प्रेम-पात्रके हैं। -सन्त-समागम 2/16

73. हम संसारकी ओर दौड़ते हैं, परन्तु पकड़ नहीं पाते। संसारका मीठापन यही है कि दौड़ते-दौड़ते जब थक जाते हैं, तब आराम पाते हैं अर्थात् थकावट ही संसारका सुख है। प्यारे, प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें किसीको भी शक्तिहीनताके अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। -सन्त-समागम 2/109

74. सुख बाँटनेकी वस्तु है, रखनेकी नहीं। जो प्राणी सुखको रखनेका प्रयत्न करता है, उससे सुख छिन जाता है, मिलता कुछ नहीं। और जो प्राणी सुख बाँट देता है, उसको आनन्द मिल जाता है। -सन्त-समागम 2/112

75. दुःख जीवनमें परम आवश्यक वस्तु है। दुःखके बिना जीवनकी पूर्णता सिद्ध नहीं होती। दुःख सब प्रकारके विकारोंको मिटाकर अन्तमें अपने-आप मिट जाता है। -सन्त-समागम 2/181

76. निरन्तर अखण्ड प्रसन्न रहनेका स्वभाव बनाओ। ज्यों-ज्यों प्रसन्नता बढ़ती जायगी, प्रतिकूलता लज्जित होकर हटती जायगी। प्यारे, प्रसन्नताकी ओर सभी देखते हैं; अतः सारा विश्व आपकी ओर देखेगा। दुःखीकी ओर दुःखहारीके अतिरिक्त और कोई नहीं देखता। -सन्त-समागम 2/201

77. दुःखी प्राणी अभागे नहीं होते। सच तो यह है कि अभागे वही हैं, जो सुखी हैं; क्योंकि दुःखीको आनन्दघन भगवान् मिलते हैं, सुखीको भोग।...... हाँ, दुःखी उसी समयतक अभागा है, जबतक संसारकी ओर देखता है। संसारसे सच्ची निराशा होते ही दुःखहारी हरि दुःख अवश्य हर लेते हैं। -सन्त-समागम 2/225-226

78. जो दुःखी त्याग नहीं करता और जो सुखी सेवा नहीं करता, उसकी उन्नति नहीं होती। -सन्त-समागम 2/266

79. सर्वतोमुखी विकासके लिये सुखका जाना और दुःखका आना अनिवार्य है। -मंगलमय विधान 11

80. प्राकृतिक विधानकी दृष्टिसे जिस सुखकी उत्पत्ति किसीके दुःख तथा अहितसे होती है, वह सुख अन्तमें घोर दुःखमें बदल जाता है और सुखभोगीका अहित ही होता है। -साधन-तत्त्व 67

81. अभाव, अशान्ति, नीरसता एवं पराधीनता –यह चार भयंकर दुःख हैं, जो संसारको पसन्द करनेसे मिलते हैं। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 58

82. अपराधकी प्रवृत्तिके मूलमें व्यक्तिगत सुखका प्रलोभन है। किसीके ह्रास, विनाश तथा दुःखसे अपने सुखका सम्पादन करना ही मूल अपराध है। इस कारण निरपराधताकी अभिव्यक्ति जीवनमें तभी हो सकती है, जब मानव व्यक्तिगत सुख-लोलुपतासे रहित हो जाय। -मानवताके मूल सिद्धान्त 38

83. जिस जीवनका आरम्भ ही दुःखसे हुआ है, उस जीवनमें किसी प्रकारका दुःख न हो, यह सोचना ही बेकार है। -संतवाणी 8/44

84. नीरसता केवल प्रतिकूलतासे ही नहीं आती और सरसता केवल अनुकूलताकी ही देन नहीं है।....... यह नियम है कि सुखसे दुःख दब जाता है, मिटता नहीं। दबा हुआ दुःख बढ़ता ही है, घटता नहीं। अतः अनुकूलता ही से नीरसता मिटेगी, यह मान लेना भूल है। -चित्तशुद्धि 90

85. प्रकृतिसे जितना सुख लोगे, उतना दुःख भी भोगना पड़ेगा। वैज्ञानिक उन्नति क्या है ? 3/4 को 75/100 करना। -सन्त-जीवन-दर्पण 95

86. दूसरोंसे सुखकी आशा करनेका परिणाम यह हुआ है कि आज हम दुःखी हैं। अपने दुःखका कारण दूसरोंको माननेका परिणाम यह हुआ है कि हम अपने दुःखको मिटा नहीं पाते। -संतवाणी 5/79

87. यह जो सुख और दुःख हमको-आपको प्रतीत होता है, इसके मूलमें कोई परिस्थिति हेतु नहीं है, कोई अवस्था हेतु नहीं है, कोई वस्तु हेतु नहीं है। इसके मूलमें हेतु है –अपने देहका अभिमान। -संतवाणी 4/40

88. जगत् और जगत्पतिसे अपने सुखकी माँग न की जाय, अपितु जगत्के प्रति उदारता और जगत्पतिके प्रति प्रेमको अपनाया जाय तो स्वतः शान्ति, समता और स्वाधीनताकी प्राप्ति हो जाती है। –सफलताकी कुंजी 88

सुखभोग

1. हृदयहीन हुए बिना, बेईमान हुए बिना, अपना मूल्य घटाये बिना और पराधीन हुए बिना कोई आदमी सुख नहीं भोग सकता। -संतवाणी 6/94

2. अगर आपके जीवनमेंसे दुःखका भाग निकाल दिया तो क्या आप सुखका भोग कर सकते हैं ?..... दुःखके बिना सुखभोग हो ही नहीं सकता। -संतवाणी 6/156

3. जब हम भोगका आश्रय लेते हैं, तब सुख भोगते हैं रुचिसे, लेकिन दुःख भोगना पड़ता है विवशतासे। -संतवाणी 4/75

4. सुखके भोगीको दुःख भोगना ही पड़ता है। -साधन-त्रिवेणी 50

5. अभागे सुखने ही हमें अपने अभीष्ट तत्त्वज्ञान, भगवत्प्रेम एवं सद्‌गतिसे विमुख किया है। इसी कारण मानव-जीवनमें सुखके सदुपयोगका स्थान है, उसके भोगका नहीं। -मानवकी मांग 75

6. यह नियम है कि जिस हृदयमें करुणा निवास करती है, उस हृदयमें सुखभोगकी आसक्ति नहीं रहती। -मानवकी मांग 101

7. सुखका जो भोग प्राप्त होता है, उसके भोगनेके लिये किसी-न-किसी दोषको अपना लेना अनिवार्य हो जाता है। -मानवकी मांग 108

8. यदि वास्तवमें रस होता तो सुखभोगका अन्त नीरसतामें न होता। -मानवकी मांग 119

9. कोई भी भोक्ता भोग्य वस्तुके काम नहीं आता, अपितु भोक्ताके द्वारा भोग्य वस्तुका विनाश ही होता है। -मानव-दर्शन 85

10. सुखलोलुपताके रहते हुए क्या किसी भी प्रकार दुःखका अन्त सम्भव है ? कदापि नहीं। -मानव-दर्शन 156

11. भोगकी रुचिका सर्वांशमें नाश वास्तविक माँगकी जागृतिके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे नहीं होता। तप आदिसे रुचि दब जाती है, मिटती नहीं है। माँगकी जागृतिसे भोगकी रुचि सर्वांशमें सदाके लिये नाश हो जाती है। -पाथेय 299

12. सुखभोगसे अविवेक पोषित होता है। -दुःखका प्रभाव 78

13. कोई भी प्राणी अपनेको केवल देह मानकर कभी भी भोगकी वासनाओंसे रहित नहीं हो सकता। -जीवन-दर्शन 127

14. विषयोंके उपभोगकालमें विषयोंको देख नहीं पाते और जब विषयोंको देखते हैं, तब उनका उपभोग नहीं कर सकते। अतः देखना तभी सम्भव हो सकता है, जब उपभोगकाल न हो। भोगप्रवृत्ति भोगका देखना नहीं है, अपितु भोगके आरम्भका सुख और परिणामका दुःख भोगना है। -जीवन-दर्शन 176

15. भोगका परिणाम रोग तथा शोक है। -जीवन-दर्शन 246

16. जो साधक भोगके परिणामपर दृष्टि रखता है, उसे भोगसे अरुचि हो जाती है। -चित्तशुद्धि 245

17. भोग्य वस्तुओंका विनाश और भोगनेकी शक्तिका ह्रास होनेपर भी यदि भोगकी रुचिका नाश नहीं होता तो इससे बढ़कर कोई और असावधानी नहीं हो सकती। -दर्शन और नीति 39

18. सुखभोगकी आशा सुखभोगसे भी अधिक भयंकर दोष है; क्योंकि सुखभोगसे अरुचि स्वाभाविक होती है, पर सुखकी आशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।....... सुखकी आशा रहते हुए न कोई सेवा कर सकता है और न प्रेम। -जीवन-दर्शन 110

19. भोगमें प्रवृत्ति होनेपर भोगनेकी शक्तिका ह्रास और भोग्य वस्तुका विनाश अपने-आप हो जाता है। -दर्शन और नीति 91

20. भोगकी वास्तविकता जाननेके लिये ही मर्यादित भोग अपेक्षित है। -दर्शन और नीति 127

21. सुखभोगसे प्रमाद, हिंसा आदि विकार स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे अपना अकल्याण और समाजका अहित होने लगता है। -चित्तशुद्धि 19

22. भोगकी रुचिमें जितनी मधुरता है, उतनी तो भोग-प्रवृत्तिमें भी नहीं है। भोग-प्रवृत्तिके आरम्भकालमें जितना सुख है, उतना मध्यमें नहीं है, और अन्तमें तो सुखकी गन्ध भी नहीं रहती, अपितु उसके परिणाममें तो अनेक प्रकारके रोग ही उत्पन्न होते हैं। -चित्तशुद्धि 80

23. जिसकी प्रसन्नता किसी औरपर निर्भर है, वही भोगी है अथवा यों कहो कि जो देहजनित व्यापारमें ही जीवन-बुद्धि रखता है, वही भोगी है। -चित्तशुद्धि 245

24. सुख देनेकी रुचि सुखभोगकी आसक्तिको खा लेती है। -जीवन-दर्शन 320

25. प्रमाद तथा हिंसाके बिना भोगकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि अपनेको भोक्ता स्वीकार करना 'प्रमाद' है और भोग्य वस्तुओंके विनाशमें 'हिंसा' है। -चित्तशुद्धि 338

26. चाहे कैसा ही सुन्दर भोग क्यों न हो तथा समाजके भी नियमके अनुकूल हो और भोगनेकी शक्ति भी हो, फिर भी शक्तिहीनता होनी अनिवार्य है। -सन्त-समागम 1/153

27. ऐसा कोई भोगी नहीं है, जो इन तीन विकारोंसे बचा हो -पराधीनतासे, जड़तासे और शक्तिहीनतासे। -सन्त-समागम 2/68

28. सिनेमाभावसे विषयोंका उपभोग करना विषयीकी चतुरता है। प्यारे, विचारशीलको तो विषयोंका अन्त करना है। सिनेमाकी दृष्टिसे तो विषयोंकी रक्षा होती है। -सन्त-समागम 1/213

29. भोगसे अरुचि प्रत्येक भोगीको होती है; किन्तु जो भोगी उस अरुचिको स्थायी नहीं कर पाता, उसकी ही प्रवृत्ति भोगोंमें बार-बार होती है। -सन्त-समागम 1/226

30. यद्यपि भोगमें जो रस है, वह भी निवृत्तिका ही है, परन्तु साधारण व्यक्ति उसे भोगका रस मान लेते हैं।

-सन्त-समागम 1/226

31. विषयोंकी इच्छाकी तो पूर्त्ति होती ही नहीं; क्योंकि विषय तथा विषयकी इच्छा स्वरूपसे कुछ नहीं हैं, केवल प्रतीतिमात्र हैं। विषयोंकी प्रवृत्तिमें जो क्षणिक पूर्त्ति-सी प्रतीत होती है, वह तो केवल प्रवृत्ति न होनेकी शक्तिहीनताके अतिरिक्त कुछ नहीं है।......... विषयोंकी प्रवृत्तिमें शक्तिहीनता होती है, पूर्त्ति नहीं। -सन्त-समागम 1/229-230

32. सुखका उपभोग करनेपर प्राणीके जीवनमें प्रमाद, बेईमानी, हृदय-हीनता एवं परतन्त्रता आ जाती है। -सन्त-समागम 2/146-147

33. मानव-जीवनमें सुखोपभोगके लिये कोई स्थान नहीं है।...... सुखका उपभोग पशु-जीवन है। -सन्त-समागम 2/147

34. मानव-जीवनमें उपभोगका स्थान केवल भोगके यथार्थ ज्ञानके लिये है; क्योंकि भोगका यथार्थ ज्ञान होनेपर भोगसे अरुचि अपने-आप हो जाती है। -सन्त-समागम 2/155

35. सुखके भोगीसे प्राणिमात्र भयभीत हो जाता है; क्योंकि हिंसा तथा प्रमादके बिना सुखभोगकी सिद्धि ही नहीं होती।

-साधन-तत्त्व 70

36. सुखभोगकी रुचिका नाश हुए बिना नित्ययोगकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। किसी अभ्यास-विशेषसे अल्पकालके लिये शान्त हो जाना एक अवस्था है, नित्ययोग नहीं। -मानवताके मूल सिद्धान्त 67

37. सुखका भोग हम करते हैं अपनी मरजीसे और दुःखका भोग करना पड़ता है बेबसीसे। -संतवाणी 8/25

38. जब हम अपने द्वारा अपने लिये परमात्माकी आवश्यकता अनुभव करेंगे, तब सुखभोगकी रुचि नाश हो जायगी।........... सुखभोगकी रुचिका नाश होनेसे शरीर और संसारका सम्बन्ध टूट जाता है। -संतवाणी 8/151

39. जो सुखभोग चाहता है, उसीको महत्त्व देता है, वह चरित्रकी रक्षा नहीं कर सकता। -संत-सौरभ 172

40. जो किसीका भोगी नहीं है, उससे किसीको भय नहीं है। आप मानें या न मानें, भोक्तासे सभीको भय होता है।..... भोक्ता सभीको भय देता है और स्वयं पराधीन रहता है। -संतवाणी 6/13

41. योग प्राप्त होनेपर जबतक 'हम योगी हैं', तबतक योगके भोगी हैं। और ज्ञान प्राप्त होनेपर जबतक 'हम ज्ञानी हैं', तबतक ज्ञानके भोगी हैं। और प्रेम प्राप्त होनेपर जबतक 'हम प्रेमी हैं', तबतक हम प्रेमके भोगी हैं। और भाई, जो प्रेमका भोगी है, वह कभी-कभी 'काम' का भोगी हो सकता है। और जो ज्ञानका भोगी है, वह कभी-कभी 'अज्ञान' का भोगी हो सकता है। और जो योगका भोगी है, वह कभी-कभी 'भोग' का भोगी हो सकता है। -संतवाणी 5/221

42. भोगसे क्या होताा है कि मनुष्य असमर्थताकी ओर और पराधीनताकी ओर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। -संतवाणी 2/47

सेवा

1. यदि आपको वस्तु नहीं मिलती है तो इसका अर्थ यह है कि आपने बल दूसरोंकी सेवामें लगाया नहीं। -संतवाणी 3/39

2. मोहयुक्त सेवा वास्तवमें सेवा नहीं है। उस सेवासे तो जिसकी सेवा की जाती है, उसमें भी मोहकी ही वृद्धि होती है। -पाथेय 169

3. आप स्वयं सभी सम्बन्ध तोड़कर 'उससे' सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। और जब उससे सम्बन्ध जोड़ेंगे, तो सभीकी सेवाका दायित्व आपपर आ जायगा; क्योंकि सभी उसके हैं। ...... किन्तु किसी औरको अपना न माननेसे किसीसे सुखकी आशा नहीं कर सकते। -संतवाणी 5/247

4. सेवक हम कब होंगे ? जब यह अनुभव करें कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये। -संतवाणी 7/37

5. सेवा करनेसे मोहका नाश होता है और प्यार पुष्ट होता है। -संतवाणी 7/138

6. सबसे बड़ी सेवा धनसे नहीं हो सकती, योग्यतासे नहीं हो सकती, बलसे नहीं हो सकती, कानूनसे नहीं हो सकती। सबसे बड़ी सेवा हो सकती है –किसीका बुरा न चाहनेसे, किसीको बुरा न समझनेसे और किसीके साथ किसी भी कारण से बुराई न करनेसे। -संतवाणी 7/142

7. जिसे अपने लिये कुछ नहीं करना होता है, वही सेवा कर पाता है। -संतवाणी 7/148

8. आप चाहे जिसकी सेवा करें, लेकिन सेवाका अन्त त्यागमें होना चाहिये। जब सेवाका अन्त त्यागमें होगा, तब त्यागका अन्त बोधमें होगा और बोधका अन्त प्रेममें होगा। -संतवाणी 7/148

9. अगर आपकी कोई शारीरिक सेवा करेगा तो आप उसका उपकार इसलिये नहीं मानते कि उसने सेवा की है, आप इसलिये मानते हैं कि शरीरको आपने अपना माना है। ऐसे ही सेवा करनेवाला आपपर एहसान करता है तो समझिये कि वह सेवा नहीं करता। वह परमात्माकी दी हुई वस्तुको अपनी मानकर, बेईमान बनकर संसारमें मिथ्या अभिमान करता है। -प्रेरणा पथ 142

10. सेवा वह तत्त्व है, जिसका हल्के-से-हल्का बोझ भी सेव्यपर न जाय। -जीवन-पथ 68

11. भलाईका फल मत चाहो और बुराई-रहित हो जाओ, यही तो सेवाका स्वरूप है। -साधन-त्रिवेणी 29

12. अगर आप अकिंचन और अचाह नहीं होते तो क्या अपनी सेवा कर सकते हैं ? अगर आप उदार नहीं बनते तो क्या आप विश्वकी सेवा कर सकते हैं ? अगर आप प्रभुको अपना नहीं मानते तो प्रभुकी सेवा कर सकते हैं क्या ? -साधन-त्रिवेणी 30

13. मन, वाणी, कर्मसे अगर हम बुराई-रहित हो जायँ तो यह सारे 'विश्वकी सेवा' कहलाती है। ज्ञान और सामर्थ्यके अनुसार दूसरोंके काम आ जायँ तो यह 'समाज-सेवा' कहलाती है। यदि अचाह हो जायँ तो यह 'अपनी सेवा' कहलाती है। यदि हम प्रभु की प्रियता प्राप्त कर लें तो यह 'प्रभुकी सेवा' कहलाती है। -साधन-त्रिवेणी 67

14. सेवा करनेकी सामर्थ्य उन्हीं साधकोंको प्राप्त होती है, जो दुःखियोंको देख करुणित और सुखियोंको देख प्रसन्न होते हैं। -संत-उद्‌बोधन 99

15. वास्तवमें तो जबतक संसारसे हमारा सम्बन्ध रहता है और उससे हम कुछ लेना चाहते हैं, तभीतक उसकी सेवाका हमारा कर्तव्य रहता है। -संत-उद्‌बोधन 149

16. शरीरसे काम कर देने तथा वस्तु दे देनेका नाम ही सेवा नहीं है। सेवा तो हृदयका भाव है, जो हर परिस्थितिमें मानव भलीप्रकार कर सकता है। -संत-उद्‌बोधन 169

17. सेवाका मूल मन्त्र यह है कि जो हमको मिला है, वह मेरा नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है। यहाँसे सेवाका आरम्भ होता है। -संत-उद्‌बोधन 169

18. अपना सुधार कर लेना ही सच्ची सेवा है। जिसने अपना सुधार कर लिया, उसको सारे विश्वकी पूरी सेवासे उत्पन्न होनेवाले फलकी प्राप्ति होती है। -संत-उद्‌बोधन 169

19. संसारकी सेवाका अर्थ है –संसारसे मिली हुई वस्तुओंको संसारके भेंट कर देना, अथवा यों कहो कि ईमानदार हो जाना, जो वास्तवमें मानवता है। -मानवकी मांग 113

20. मुझे जो कुछ मिला है, वह व्यक्तिगत नहीं है, अपितु किसीकी सेवा-सामग्री है। -मूक सत्संग.59

21. मान और भोगकी रुचि रखते हुए कभी भी सेवक होना सम्भव नहीं है। -मानव-दर्शन 136

22. संसारकी तो केवल सेवा करनी है। उसको अपना माननेसे न तो अपना कोई लाभ होता है और न संसारका। -मानवकी मांग 113

23. भोगीके द्वारा सेवाकी बात सेवाका उपहास है, और कुछ नहीं। -मानव-दर्शन 147

24. यदि कोई कहे कि रागके बिना हम अपने प्रियजनोंकी सेवा कैसे करेंगे ? तो कहना होगा कि सेवा करनेके लिये राग अपेक्षित नहीं है, अपितु उदारताकी अपेक्षा है। -मानवकी मांग 143

25. यदि हमारी की हुई सेवा हमारे जीवनमें पद-लोलुपता तथा जिनकी सेवा की है, उनसे किसी प्रकारकी आशा उत्पन्न कर देती है तो समझना चाहिये कि हमने सेवाके नामपर किसी अपने स्वार्थकी ही सिद्धि की है। ऐसी सेवा तो वह बुराई है, जो भलाईका रूप धारण करके आती है। -मानवकी मांग 143

26. अध्यात्मवादका आरम्भ त्यागसे होता है और अन्त सेवामें, और भौतिकवादका आरम्भ सेवासे होता है और अन्त त्यागमें। -मानव-दर्शन 137

27. यदि अपनेको जगत्पतिको अर्पित करना है, तो शरीरको जगत्‌की सेवामें लगाना है। वास्तवमें तो जगत् जगत्पतिका ही प्रकाश है। शरीरद्वारा जगत्‌की सेवा करनेमें भी जगत्पतिकी ही सेवा है। जगत्पतिने जगत्‌का निर्माण अपने ही मेंसे किया है। इस दृष्टिसे जगत्‌का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः जगत्‌की सेवा जगत्पतिकी पूजा है। -साधन-निधि 59

28. जन्म देनेवाले माता-पितासे अधिक सास-ससुरकी सेवा स्नेहपूर्वक करनी चाहिये, और बहिन-भाईसे अधिक ननद तथा देवर-जेठ आदि प्रियजनोंको सम्मान तथा स्नेह देना चाहिये; क्योंकि जन्मकी अपेक्षा भावका सम्बन्ध उत्कृष्ट होता है। -संतपत्रावली 2/20

29. दुःखियोंको देखकर करुणित और सुखियोंको देखकर प्रसन्न होनेका स्वभाव बनाओ, जो वास्तविक सेवा है। -संतपत्रावली 2/86

30. सेवाका अवसर प्रभु-कृपासे ही मिलता है। उसे कभी नहीं खोना चाहिये। -संतपत्रावली 2/111

31. सेवकके जीवनमें अपने दुःखके लिये कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि उसका हृदय तो सर्वदा पराये दुःखसे करुणित रहता है अथवा सुखियोंको देखकर प्रसन्न रहता है। -पाथेय 44

32. समस्त विश्व अपने अधिकारकी पूर्त्तिमें प्रसन्न होता है। सभीके अधिकारोंकी रक्षा ही वास्तविक सेवा है। -सत्संग और साधन 63

33. पराये दुःखसे दुःखी होनेके समान और कोई उत्कृष्ट सेवा नहीं है। पर यह सेवा वे ही साधक कर सकते हैं, जो वर्तमान निर्दोषताके आधारपर किसीको बुरा नहीं समझते, किसीका बुरा नहीं चाहते और न किसीके प्रति बुराई करते हैं। -दुःखका प्रभाव 65

34. व्यक्तियोंकी सेवा हमें मोहरहित बनानेमें समर्थ है। -जीवन-दर्शन 21

35. 'सेवा' माने हुए सम्बन्धको तोड़नेमें और 'प्रेम' जिससे जातीय एकता है, उससे अभिन्न करनेमें समर्थ है। -जीवन-दर्शन 3

36. सेवा त्यागमें और त्याग उस प्रेममें विलीन हो जाता है, जो अनन्तसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। -जीवन-दर्शन 100

37. शरीरकी सेवामें ही विश्वकी सेवा निहित है; क्योंकि शरीरकी सेवा करनेपर शरीर विश्वके काम आने लगता है। अब विचार यह करना है कि शरीरकी सेवाका स्वरूप क्या है ? तो कहना होगा कि जितेन्द्रियता, निर्विकल्पता और समताके द्वारा ही शरीरकी पूर्ण सेवा हो सकती है। जितेन्द्रियताके द्वारा शरीरमें 'शुद्धि' आती है, मनकी निर्विकल्पताके द्वारा 'सामर्थ्य' आती है और बुद्धिकी समताके द्वारा 'शान्ति' आती है। शुद्धि, सामर्थ्य और शान्ति आ जानेपर सर्वहितकारी प्रवृत्तियाँ स्वतः होने लगती हैं, जो विश्वकी सेवा है। -जीवन-दर्शन 104

38. सेवा त्यागकी भूमि तथा प्रेमकी जननी है। -जीवन-दर्शन 189

39. जिन साधनोंसे सेवा की जाय, उनमें भी ममता न हो और जिनकी सेवा की जाय, उनमें भी ममता न हो, तभी वास्तविक सेवा हो सकती है। -जीवन-दर्शन 301

40. लोभ और मोहमें आबद्ध प्राणी सेवा नहीं कर सकता। -जीवन-दर्शन 299

41. संसारकी दी हुई वस्तुके द्वारा यदि हम संसारकी सेवा नहीं कर सकते तो इससे बढ़कर और कोई बेईमानी तो हो नहीं सकती और इससे बढ़कर और कोई सुगम साधन भी नहीं हो सकता कि किसीकी दी हुई वस्तुसे हम उसकी पूजा कर दें। -सफलताकी कुंजी 126

42. सेवकको सेवाके फलकी तो कौन कहे, सेवक कहलानेकी लालसाका भी त्याग करना अनिवार्य है। -दर्शन और नीति 140

43. सच्चा सेवक वही हो सकता है, जिसने अपनी सेवा की हो। अपनी सेवा करनेके लिये अपनेको अपने सम्बन्धमें ही विचार करना होगा अर्थात् अपने जाने हुए असत्‌का त्याग करनेपर ही मानव अपनी सेवा कर सकता है। -दर्शन और नीति 140

44. जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उसकी सेवा की जा सकती है; उससे ममता करना अथवा उससे सुखकी आशा करना भूल है। -चित्तशुद्धि 297

45. सेवाकी पूर्णतामें 'पूजा' का उदय अपने-आप होता है।...... पूजाकी पूर्णतामें 'प्रेम' का उदय है। -चित्तशुद्धि 297-298

46. सुखलोलुपतामें आबद्ध प्राणी कभी भी सेवा करनेमें समर्थ नहीं होता। -चित्तशुद्धि 382

47. सेवाका मूल्य प्रभु देता है, संसार नहीं दे सकता। -सन्त-जीवन-दर्पण 97

48. सेवा भाव है, कर्म नहीं। इस दृष्टिसे छोटी या बड़ी सेवा समान अर्थ रखती है। सेवाका स्वरूप है प्राप्त सुख किसी दुःखीकी भेंट कर देना और उसके बदलेमें सेवक कहलानेकतककी भी आशा न करना। -चित्तशुद्धि 297

49. जिसका हृदय पराये दुःखसे भरा रहे, वह सेवा कर सकता है; क्योंकि सेवा सुख देकर दुःख लेनेका पाठ पढ़ाती है। पराया दुःख अपना हो जानेपर प्राणी दुःखी नहीं रहता; क्योंकि पर-दुःखसे दुःखी होनेमें जिस रसकी निष्पत्ति होती है, उसकी समानता किसी भी सुखभोगमें नहीं है। -चित्तशुद्धि 297

50. यदि कोई यह कहे कि व्यक्तियोंकी सेवासे तो मोहकी वृद्धि होगी, पर बात ऐसी नहीं है। कारण कि मोहकी वृद्धि तो व्यक्तियोंके द्वारा सुखकी आशा करनेपर होती है, सेवासे नहीं। व्यक्तियोंकी सेवा व्यक्तियोंके मोहसे रहित कर देती है; क्योंकि सेवा वही कर सकता है, जो सुखकी आशासे रहित है। -चित्तशुद्धि 408

51. प्रभुका एक विधान है कि अशरीरी जीवनसे सेवा होती है, शरीर-बद्ध जीवनसे नहीं। -सन्त-जीवन-दर्पण 99

52. दुःखियोंकी सेवा वह कर सकता है, जिसको अपने लिये संसारकी आवश्यकता नहीं होती। -सन्त-समागम 1/183

53. जो स्वयं दुःखी है, वह सेवा नहीं कर सकता, किन्तु 'विचार' कर सकता है। बेचारे सुखी प्राणीमें सुखासक्तिके कारण विचारका उदय नहीं होता, प्रत्युत वह 'सेवा' कर सकता है। -सन्त-समागम 2/27

54. जिस प्रकार प्रकाश सूर्यका और गन्ध पुष्पका स्वभाव है, उसी प्रकार सेवा सेवकका स्वभाव है। सेवा की नहीं जाती, होने लगती है। -सन्त-समागम 2/61

55. सेवकमें सेवा करनेसे कभी थकावट नहीं आती, प्रत्युत ज्यों-ज्यों सेवा बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी शक्ति भी बढ़ती जाती है। -सन्त-समागम 2/63

56. सेवक दो प्रकारके होते हैं –एक तो गंगाकी भाँति प्रत्यक्ष जन-समाजके सामने लहराते हैं और दूसरे हिमालयकी भाँति अचल होकर मूक सेवा करते हैं। -सन्त-समागम 2/63

57. सेवा करनेके लिये बाह्य वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं होती। बाह्य वस्तुओंके संगठनसे तो पुण्यकर्म होता है। -सन्त-समागम 2/63-64

58. वस्तुओंका संग्रह करना विश्वका ऋणी होना है। अतः वस्तुओंको विश्वके कार्यमें लगा देना ऋणसे मुक्त होना है, सेवा करना नहीं। -सन्त-समागम 2/64

59. सेवक होना उन्नतिका साधन है; परन्तु सेवक कहलाना अवनतिका कारण है। -सन्त-समागम 2/65

60. नौकरके द्वारा सेवा नहीं हो सकती। जो बेचारा स्वयं उपभोगमें ग्रसित है, वह सेवा नहीं कर सकता। सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन भिक्षाके आधारपर निर्भर हो, और जो अर्थ और कामकी वासनाओंसे मुक्त हो। -सन्त-समागम 2/89

61. सेवा वही कर सकता है, जिसको अपनी प्रसन्नताके लिये अपनेसे भिन्नकी आवश्यकता नहीं होती। -सन्त-समागम 2/197

62. आजकल प्राणी शुभ-कर्मको सेवा मान लेते हैं, इसी कारण उसमें बँध जाते हैं। सच्ची सेवा वस्तुओं तथा इन्द्रियों द्वारा नहीं होती।. ...... सच्ची सेवाका अधिकार तब प्राप्त होता है, जब प्राणीको अपने लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता। -सन्त-समागम 2/259

63. सेवा सुखी प्राणियोंका साधन है, दुःखियोंका नहीं। दुःखियोंका साधन एकमात्र त्याग है। अतः तुमको त्याग अपना लेना चाहिये अर्थात् शरीर, मन आदि किसी भी वस्तु तथा सम्बन्धीको अपना मत समझो। -सन्त-समागम 2/311

64. जिनसे माना हुआ सम्बन्ध है, उनकी सेवा करना अनिवार्य है। सम्बन्ध बनाये रखना और सेवासे अपनेको बचाना साधन-निर्माणमें विघ्न है।........ जिसे किसी भी कारणसे सेवा न करना हो, उसके लिये माने हुए सभी सम्बन्धोंका विवेकपूर्वक अन्त करना अनिवार्य है। -साधन-तत्त्व 26

65. कर्मका स्तर केवल करनेका राग मिटानेके लिये और सुन्दर समाजके निर्माणमें ही है। पर वह तभी हो सकता है, जब कर्म सेवाभावसे सम्पादित किया जाय, उसमें स्वार्थकी गन्ध भी न रहे। -साधन-तत्त्व 68

66. संसारसे कुछ न लेना –यही सेवा है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 21

67. स्कूल, अस्पताल खोलना सेवा नहीं, यह तो संग्रहका प्रायश्चित्त है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 87

68. मानव जिसमें अविचल आस्था स्वीकार करता है, वही उसका सेव्य है और उसीके नाते सेवा की जाती है। -मानवताके मूल सिद्धान्त 50

69. बालक, रोगी, वृक्ष और पशु –इनकी सेवाका दायित्व मानवमात्रपर है। इनकी यथेष्ट सेवा किये बिना न तो दरिद्रता ही नाश होगी और न समाज आवश्यक वस्तुओंसे ही परिपूर्ण होगा। अतः संग्रहीत सम्पत्ति रोगी, बालक, वृक्ष तथा पशुओंकी ही है। -दर्शन और नीति 123

70. प्राकृतिक नियमके अनुसार संगृहीत सम्पत्ति समाजके उसी वर्गकी है, जो वर्ग उपार्जनमें असमर्थ है अथवा जिन्हें अवकाश नहीं है। जो वर्ग उपार्जनमें समर्थ है, उसका अधिकार संगृहीत सम्पत्तिपर नहीं है। अतः रोगियों, बालकों और सत्यकी खोजमें रत व्यक्तियोंकी सेवा संगृहीत सम्पत्ति द्वारा करना अनिवार्य है। –दर्शन और नीति 126

71. सेवाका क्रियात्मक रूप भले ही ससीम हो, पर भाव असीम होना चाहिये। ससीम भावसे की हुई सेवा परस्पर व्यक्तियों, वर्गों और देशोंमें संघर्ष उत्पन्न करती है। सेवाकी पूर्णता प्रेमके प्रादुर्भावमें है, संघर्षमें नहीं। –मानवताके मूल सिद्धान्त 69-70

72. बुराई-रहित होकर भलाईका फल न माँगें, न चाहें –यह संसारकी सबसे बड़ी सेवा है।...... यह तो संसारकी सेवा हुई। फिर हमारी सेवा कैसे होगी ? हमारी सेवा होगी अचाह होनेसे। 'मुझे कुछ नहीं चाहिये' –इसके द्वारा हम अपनी सेवा कर सकेंगे। –संतवाणी 8/10

73. 'परमात्मा' के नाते जगत्‌की सेवा करें तो प्रत्येक प्रवृत्ति 'पूजा' हो गयी, 'आत्मा' के नाते जगत्‌की सेवा करें तो 'साधना' हो गयी और 'जगत्' के नाते जगत्‌की सेवा करें तो 'कर्तव्य' हो गया। –संतवाणी 8/32

74. जैसे गंगाजलसे गंगाकी पूजा कर दें तो बताइये कि पूजा करनेमें क्या कोई खर्च होगा ? वैसे ही संसारकी वस्तुसे संसारकी सेवा कर देनी है। –संतवाणी 7/131

75. पुण्य-कर्ममें और सेवामें अन्तर क्या है ? अपनी वस्तु मानकर आप किसीकी सहायता करते हैं तो वह पुण्य-कर्म है, सेवा नहीं है। –संतवाणी 5/30

76. सेवाका अर्थ यह कभी नहीं होता कि हम जिसकी सेवा करते हैं, उसे कुछ देते हैं। सेवाका अर्थ ही इतना है कि उसकी धरोहर जो अपने पास है, वह उसे भेंट करते हैं। यानी जिसकी जो वस्तु है, उसीको उसे दे देना –इसका नाम 'सेवा' है। –संतवाणी 5/53

स्वरूप

1. शरीर नहीं रहेगा तो मेरी क्षति हो जायगी —यह मानना बड़ा भारी पागलपन है। –संतवाणी 7/85

2. ईमानदारीकी बात तो यह है कि शरीर और संसारका आपसे कभी मिलन हुआ ही नहीं। –संतवाणी 7/84

3. तुम चिन्मय लोककी निवासिनी हो, भौतिक देहसे तुम्हारी जातीय भिन्नता है अर्थात् तुम किसी भी कालमें देह नहीं हो। देह तो विश्वकी विभूति है। उसे विश्वकी भेंट करना है। जब तुम अपनेको देहके वेशमें छिपा लेती हो, तब तुम्हारे प्रियतम विश्वका वेश धारण कर तुम्हें अनेक प्रकारसे लाड़ लड़ाते हैं। –पाथेय 44

4. यह जान लेनेपर कि 'मैं देह नहीं हूँ', देहकी ममताका भी त्याग करना होगा अर्थात् यह भलीभाँति जानना होगा कि 'देह मेरा नहीं है'। –पाथेय 80

5. शरीरके बनने तथा बिगड़नेसे तुम्हारा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। –पाथेय 93

6. स्वरूपका निश्चय नहीं होता, बल्कि स्वरूपका बोध होता है। यह निश्चयवाली बात अज्ञान-कालमें ज्ञानको बढ़ानेके लिये कहते हैं। प्यारे, शास्त्र साधन है, सिद्धान्त नहीं। –सन्त-समागम 1/189

7. आप अपने निज स्वरूपसे अलग होकर शरीर तथा संसाररूपी जंगलमें खेलने आयी हैं। यह स्थान आपके खेलनेका नहीं है। .... जिनको आप माता, पिता तथा बन्धु कहती हैं, वे इस जंगलके कटीले वृक्ष हैं। –सन्त-समागम 1/154

8. तुम अपनी दशा मत देखो, अपितु अपने स्वरूपको देखो। भला तुमतक कभी भी सृष्टि पहुँच सकती है ? कदापि नहीं। –पाथेय 321

9. अपने लिये अपनेसे भिन्नकी आवश्यकता कदापि नहीं हो सकती; क्योंकि भिन्नतासे एकता होनी सर्वथा असम्भव है। –सन्त-समागम 2/1

10. जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओंके बिना हम सर्वदा स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकते हैं। –सन्त-समागम 2/12-13

11. 'मैं क्या हूँ' यह जाननेके लिये भी दूसरेकी आवश्यकता हो गई, क्या ही विचित्र बात है ! –सन्त-समागम 2/202

12. माना हुआ 'मैं' चोरके समान है। 'मैं नित्य हूँ' यह भाव आते ही माना हुआ 'मैं' भाग जायगा। इस भावको भी बुद्धिका विषय न बनाओ; क्योंकि ज्ञानका चिन्तन ही अज्ञान है। –सन्त-समागम 2/203

13. हमको शरीरमें देश, जाति, सम्प्रदाय आदिका भाव आरोपित नहीं करना चाहिये, न परिवर्तनशील शरीरको अपना जीवन समझना चाहिये, और न उसकी आवश्यकता सदाके लिये समझनी चाहिये। –सन्त-समागम 2/286-287

14. 'मैं ब्रह्म हूँ' —यह आप जानते नहीं, मानते हैं।....... जाननेके आधारपर कोई भाई, कोई बहन यह कह ही नहीं सकते कि 'मैं क्या हूँ' ? बस, यही कह सकते हैं कि 'यह मैं नहीं हूँ'। निषेधात्मक ज्ञान है आपको अपने सम्बन्धमें। –संतवाणी 5/205

15. दृश्यसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही अपने द्वारा अपना परिचय होता है। बस, यही 'मैं क्या हूँ ?' इस प्रश्नको हल करनेका उपाय है। –मानव-दर्शन 52

16. 'ओम्' का जप करनेका अर्थ यही है कि 'मैं शरीर नहीं, बल्कि आनन्दघन आत्मा हूँ'। –संतपत्रावली 1/103

17. जड़में अवस्था-भेद होता है, चेतनमें नहीं। –सन्त-समागम 1/199

स्वाधीनता

1. स्वाधीनताका अर्थ ही यह है कि आप जब स्वाधीनता पसन्द करेंगे तो शरीरकी भी आप आवश्यकता अनुभव नहीं करेंगे। -संतवाणी 5/138

2. यदि हमें और आपको यह मालूम हो जाय, यह अनुभव हो जाय कि कुछ न करनेमें भी जीवन है, कुछ न करनेपर भी हम हैं और हमारा जीवन है, तो अभी-अभी स्वाधीन हो जायँ। -संतवाणी 6/175-176

3. स्वाधीन किसे कहते हैं ? जिसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये, जिसके पास अपना करके कुछ न हो। -प्रेरणा पथ 148

4. जिसने ज्ञानपूर्वक अनुभव किया कि इतने बड़े संसारमें मेरा करके कुछ भी नहीं है, उसीने स्वाधीनता पाई। -संत-उद्‌बोधन 83

5. स्वाधीनताके पुजारीको मूक सत्संगसे भिन्न और कुछ नहीं करना है। -मूक सत्संग.144

6. स्वाधीनता एकमात्र सहज निवृत्ति तथा शरणागतिमें ही है। प्रवृत्तिमात्र पराधीनताका प्रतीक है। -संतपत्रावली 2/115

7. बे-मनके जीवनमें ही जीवन है। सामान-रहित होनेमें ही स्वाधीनता निहित है। -पाथेय 139

8. पराधीन प्राणीसे ही पर-पीड़ा होती है। स्वाधीन जीवनसे किसीको पीड़ा नहीं होती और स्वाधीनता स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है। -सफलताकी कुंजी 97-98

9. मानव दूसरोंके मनकी बात पूरी करनेमें जितना स्वाधीन है, उतना अपने मनकी बात दूसरों द्वारा पूरी करानेमें स्वाधीन नहीं है। -दर्शन और नीति 89

10. अपनेको देह मानकर कोई भी व्यक्ति स्वाधीन नहीं हो सकता। -चित्तशुद्धि 254

11. स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका साधन कभी परतन्त्रता नहीं हो सकती अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका साधन भी स्वतन्त्र है; क्योंकि स्वतन्त्रता प्राणीकी निजकी वस्तु है।...... पूर्ण स्वतन्त्र होनेके लिये प्राणी स्वेच्छापूर्वक सर्वदा स्वतन्त्र है। -सन्त-समागम 2/7

12. यदि हमारेमें किसी प्रकारका दासत्व न होता, तो हम किसीको भी परतन्त्र करनेका प्रयत्न न करते। जो स्वयं स्वतन्त्र है, वह किसीको परतन्त्र नहीं करता। -सन्त-समागम 2/14

13. यद्यपि स्वाधीनता सभीको स्वाभाविक प्रिय है, परन्तु कामनापूर्त्तिके प्रलोभनके कारण साधक पराधीनताको स्वाधीनताके समान ही महत्त्व देने लगता है। -साधन-तत्त्व 16

14. जिस व्यक्तिको अपनी प्रसन्नताके लिये दूसरोंकी ओर देखना नहीं पड़ता, उसीका जीवन स्वाधीन जीवन है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 59

15. हम शरीरकी जरूरतको अपनी जरूरत मानकर अपनेको पराधीन बना लेते हैं। -संतवाणी 8/104

16. अचाह होनेपर ही व्यक्ति स्वाधीन होता है; उसे किसीकी आवश्यकता नहीं रहती। -संतवाणी 7/133

17. जब सुखका प्रलोभन और दुःखका भय नहीं रहता, तब अपने-आप स्वाधीनताके साम्राज्यमें प्रवेश पाते हैं। -संतवाणी 6/4

18. स्वाधीनता आपको स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त होती है। किसी 'पर' के आश्रयसे स्वाधीनता मिलती हो, ऐसा है नहीं। -संतवाणी 6/7

'है'

1. 'है' क्या है ? जो उत्पत्ति-विनाशसे रहित है अथवा उत्पत्ति-विनाशसे पूर्व है ? जिससे उत्पत्ति और विनाश प्रकाशित हैं, उसीको 'है' के अर्थमें लेना चाहिये। -मानवकी मांग 63

2. 'है' उसे कह सकते हैं, जिसका कभी नाश न हो और जिससे कभी विभाजन न हो। -संतवाणी 5/38

3. प्रेम 'है' से ही हुआ करता है। योग 'है' का ही हुआ करता है। बोध 'है' का ही हुआ करता है। तो भाई, जो 'है', उससे योग करना है। जो 'है', उसका बोध होना है। जो 'है', उसमें प्रेम करना है। तो योग, बोध, प्रेमकी प्राप्ति वर्तमानकी वस्तु है। -संतवाणी 4/64

4. 'मैं' अनेक मान्यताओंके रूपमें स्वीकार किया गया है और 'मैं' का अर्थ सीमित रूपमें अनेक बार किया गया है। इस कारण 'है' को 'मैं' कहनेमें प्रमाद हो सकता है। -जीवन-दर्शन 67

5. 'है' का वर्णन संकेत-भाषासे ही सम्भव है। कारण कि जिन साधनोंसे हम 'है' का वर्णन कर सकते हैं, वे सब 'है' से ही प्रकाशित हैं और 'है' की सत्तासे ही सत्ता पाते हैं। जो साधन जिससे सत्ता पाते हैं, वे उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं ? केवल संकेत ही कर सकते हैं। -मानवकी मांग 63

6. 'नहीं' में 'है'-बुद्धि स्वीकार करनेसे ही 'है' से विमुखता होती है। -मानव-दर्शन 60

7. प्रतीतिसे विमुख हुए बिना दृश्यकी यथार्थता स्पष्ट नहीं होती और 'है' से अभिन्न हुए बिना 'है' का बोध नहीं होता। -मानव-दर्शन 83

8. 'नहीं' की प्रतीति है, पर प्राप्ति नहीं और जो 'है', उसकी प्राप्ति होती है, प्रतीति नहीं। -मानव-दर्शन 84

9. 'नहीं' को 'नहीं' अनुभव करते ही 'है' की प्राप्ति स्वतः होती है। -मानव-दर्शन 87

10. प्रत्येक वस्तु स्वभावसे ही गतिशील है। गतिशीलतामें किसीका आकर्षण है। सभीका आकर्षण उसीके प्रति हो सकता है, जो 'है'। -मानव-दर्शन 91

11. 'है' को स्वीकार करो अथवा न करो; किन्तु प्राप्ति तो 'है' की ही होती है। -साधन-निधि 51

12. 'नहीं' की निवृत्ति बिना ही श्रमके स्वतः होती है और 'है' की प्राप्तिमें भी श्रम हेतु नहीं है। -मूक सत्संग.62

13. खोज उसीकी होती है, जो 'है' और आस्था भी उसीमें की जाती है, जो 'है'। 'है' का संग सत्का संग है। -मूक सत्संग.102

14. 'है' एक है, अनेक नहीं। अतः वह कैसा है, यह विवेचन उतना अपेक्षित नहीं है, जितना उसका संग। -मूक सत्संग.102

15. 'है' की 'मैं' के रूपमें तथा निर्विकारता, परमशान्ति, स्वाधीनता, अमरत्व आदि विभूतियोंके रूपमें 'है' की ही प्राप्ति होती है। किन्तु 'है' की 'है' के रूपमें प्राप्तिका मूलमन्त्र 'है' की अगाधप्रियता ही है। -मूक सत्संग.161-162

16. 'मैं' और 'है' का भेद 'है' में नहीं है, यह 'है' की ही महानता है; किन्तु 'मैं' 'है' को अस्वीकार कर 'मैं' को ही स्वीकार करे, क्या यह 'मैं' की भूल नहीं है ? -मूक सत्संग.163

17. 'यह' की आसक्ति 'मैं' का 'यह' से सम्बन्ध जोड़ती है, जो वास्तवमें भूलजनित है। 'है' की प्रीति 'यह' की आसक्तिको खाकर 'मैं' को 'है' से अभिन्न करती है। -मूक सत्संग.163

18. 'है' 'नहीं' को मिटाता नहीं, प्रत्युत प्रकाशित करता है। 'है' की आवश्यकता 'नहीं' को खाकर 'है' से अभिन्न करती है। प्राणी 'है' से अभिन्न होकर ही 'है' को जानता है। अतः 'है' को जाननेके लिये मन, बुद्धि आदि बाह्य सहायताकी आवश्यकता नहीं है। -सन्त-समागम 2/231-232

19. 'नहीं' की निवृत्तिके बिना 'है' की प्राप्ति हो सकती है क्या ? कभी नहीं हो सकती। -संतवाणी 5/19

20. 'है' में यदि हमारी प्रियता नहीं है, तो भजन कैसा ! और 'है' का यदि बोध नहीं है, तो तत्त्व-साक्षात्कार कैसा ! और 'है' से यदि योग नहीं है, तो परमशान्ति कैसी ! -संतवाणी 5/7

21. निर्मम और निष्काम होनेके बाद 'मैं' का स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ नहीं रहता। हाँ, फिर 'है' रहता है। -संतवाणी 3/102

प्रकीर्ण

एकान्त –

1. एकान्तका पूरा लाभ तब होता है, जब हमारा सम्बन्ध एक ही से रह जाय। अनेक सम्बन्ध लेकर एकान्तमें जाते हैं तो उतना लाभ नहीं होता, जितना होना चाहिये। –संत-उद्‌बोधन 18

2. बाह्य साधन न होनेपर भी दुःखियोंके दुःखसे दुःखी होनेवाला एकान्तमें बैठा हुआ दुःखियोंके दुःखका अन्त कर रहा है; क्योंकि इच्छाशक्ति लीलामय भगवान्‌की योगमाया है, जो सब कुछ कर सकती है। –सन्त-समागम 1/114

3. प्रेमी और प्रेमपात्रके सिवा किसी तीसरेको स्थान न देना ही सच्चा एकान्त है, जो बाजारमें भी हो सकता है। –सन्त-समागम 1/186

'करना' और 'होना' –

1. जो हो रहा है, वह सभीके लिये हितकर है, पर जो कर रहे हैं, उसीपर विचार करना है। –मंगलमय विधान 12

2. जो हो रहा है, उसमें सभीका हित विद्यमान है। अतः 'होने में प्रसन्न तथा करनेमें सावधान' रहनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। –जीवन-दर्शन 177

3. जो कर रहे हैं, वही पूजा और जो हो रहा है, वही लीला है। –संतपत्रावली 2/75

4. जो कुछ हो रहा है, उसमें किसीका अमंगल नहीं है तो फिर होनेमें प्रसन्न न रहना भूलके अतिरिक्त हो ही क्या सकता है ? –चित्तशुद्धि 443

5. अशान्तिकी गन्ध किसमें नहीं होती ? जो 'होनेमें तो प्रसन्न' रहता है, किन्तु 'करनेमें सावधान' रहता है। –संत-उद्‌बोधन 153

6. करनेमें सावधान रहनेमें ही अकर्तव्यका नाश है। होनेमें प्रसन्न रहनेमें ही असंगता निहित है। –साधन-तत्त्व 105

7. प्राकृतिक नियमके अनुसार जो करनेमें सावधान है, वही होनेमें प्रसन्न रह सकता है और जो होनेमें प्रसन्न रहता है, वही करनेमें सावधान हो सकता है। –चित्तशुद्धि 445

8. स्वतन्त्र अस्तित्व किसका नहीं है ? जो 'हो-होकर मिट रहा है'। यही 'हो रहा है' का अर्थ है। –दर्शन और नीति 21

9. होनहारका सच्चा अर्थ है विनाश; क्योंकि वास्तवमें होना क्या है ? उत्पत्तिका विनाश। –संतपत्रावली 2/4

10. होनहारमें तो सभीका हित निहित है, किसीका ह्रास नहीं। ह्रासका एकमात्र कारण करनेमें असावधानी ही है, होनहार नहीं। –मानवकी मांग 190

11. जो हो रहा है, उसपर यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिसे हम उत्पत्ति कहते हैं, वह किसीका विनाश है और जिसे हम विनाश कहते हैं, वह किसीकी उत्पत्ति है। –चित्तशुद्धि 96

क्षमा –

1. जिनसे ममता नहीं है, उन्हींके प्रति क्षमाशीलताका प्रयोग हितकर सिद्ध होता है। मोहयुक्त क्षमासे किसीका भी हित नहीं होता –न अपना और न उसका, जिसमें मोह है। –चित्तशुद्धि 52

2. क्षमायाचना करनेपर यदि कोई क्षमा न करे तो लेशमात्र भी चिन्तित नहीं होना चाहिये; क्योंकि क्षमा करनेकी क्षमता उस अनन्तमें ही है। व्यक्तिके रूपमें उसीसे क्षमायाचना की जाती है। –चित्तशुद्धि 319

3. 'सेवा' वही कर सकता है, जिसकी सभीके हितमें रति है। 'त्याग' वही कर सकता है, जो संसारके स्वरूपको भलीभाँति जानता है। और 'क्षमाशील' वही हो सकता है, जो अपने दुःखका कारण किसी औरको नहीं मानता। –साधन-तत्त्व 74

4. किसीने हमें दुःख दिया है, यदि ऐसा प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि दुःख देनेवाला स्वयं दुःखी है, इसलिये उसने दुःख दिया है; अतः वह क्षमाका पात्र है। –संत-उद्‌बोधन 179

तीर्थयात्रा –

1. यात्रा करनेसे रजोगुणी प्राणियोंको लाभ होता है। –संतपत्रावली 1/149

2. जो प्राणी अपनेको केवल स्थूलशरीर मानते हैं अर्थात् शरीरको ही अपना-आप जानते हैं, उनके लिये 'तीर्थ' सबसे प्रथम साधन है; क्योंकि वहाँ जानेपर दान-स्नान आदिका करना अनिवार्य हो जाता है। तीर्थोंमें लोकान्तरका भाव रखना चाहिये, ऐसा करनेसे लाभ अवश्य होगा। –सन्त-समागम 1/101

3. निर्बल, निर्धन और श्रद्धाहीन मनुष्यको तीर्थयात्रा नहीं करनी चाहिये। –संत-सौरभ 205

4. तीर्थ-सेवनका अधिकारी वह होता है, जो तीर्थस्थानोंमें दिव्य लोकान्तरोंका अनुभव करता है अर्थात् जिसकी तीर्थोंमें भौतिक-बुद्धि नहीं है। –संत-सौरभ 74

पाप-पुण्य –

1. अपनी प्रसन्नता अपनेसे भिन्न किसी अन्यके आश्रित जीवित रहे, यही 'पाप' है। –सन्त-समागम 1/138

2. पापीके मिटानेके लिये उसका पाप ही काफी है अर्थात् पाप स्वयं पापीको मिटा देगा। –सन्त-समागम 2/238

3. जो पतित सूर्यका प्रकाश पाता है, जल जिसकी प्यास बुझाता है, वायु जिसे श्वास लेने देती है, आकाश जिसे अवकाश देता है, पृथ्वी जिसे आश्रय देती है, आप उसे प्यार नहीं दे सकते ? –जीवन-पथ 86

प्रारब्ध –

1. 'प्रारब्ध' माने प्राकृतिक न्याय अर्थात् साधन-सामग्री; और 'पुरुषार्थ' माने उस सामग्रीका सदुपयोग। ये दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं। एक ही चीजके दो पहलू हैं। –संतवाणी 7/78

2. प्रारब्ध किसीके पतनका कारण नहीं होता। –संत-सौरभ 67

3. प्रारब्धको बुरा मत समझो, भला मत समझो। प्रारब्धसे कोई भाग्यशील या अभागा नहीं होता। जो बुराई-रहित हो जाता है, वही भाग्यशील होता है। –संतवाणी 7/81

भूत-भविष्य-वर्तमान –

1. भूतकालको भूलकर, भविष्यकी आशाको छोड़कर और वर्तमानकी आवश्यक नियमानुसार क्रियाओंसे असंग हो जानेपर आत्मानुभव अवश्य होगा। –संतपत्रावली 1/75

2. वर्तमान समयको सबसे उत्तम समझो; क्योंकि वर्तमानके सँभल जानेसे बिगड़ा हुआ भूत और आनेवाला भविष्य अपने-आप सँभल जाता है। –संतपत्रावली 1/11

3. भूतकालकी घटनाओंके अर्थको अपनाकर घटनाओंको भूलना अनिवार्य है। प्रत्येक घटनाका अर्थ पथ-प्रदर्शन कर सकता है; क्योंकि घटनाका अर्थ विवेकयुक्त होता है। –दर्शन और नीति 43

4. भूतकालकी अशुद्धिका त्याग वर्तमानमें हो सकता है, परन्तु वर्तमानकी शुद्धि भविष्यमें मिट नहीं सकती। –चित्तशुद्धि 50

5. यह नियम है कि वर्तमान कार्य ठीक होनेपर ही बिगड़े हुए भूतका परिणाम मिट सकता है और भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। इस दृष्टिसे वर्तमान कार्य ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है। –चित्तशुद्धि 75

6. वर्तमान कार्यको भविष्यपर छोड़ना और भविष्यके कार्यका वर्तमानमें चिन्तन करना, जो स्वयं कर सकते हैं, उसके लिये दूसरोंकी ओर देखना और जो अपने करनेका नहीं है, उसके लिये स्वयं चिन्तन करना –यही असफलताका कारण है। –जीवन-दर्शन 288

7. जो दशा पत्र लिखते समय होती है, वह दशा पत्र पहुँचते समयतक रहेगी –क्या यह बात सन्देह-रहित है ? कदापि नहीं। पत्रका मिलना भूतकालकी चर्चा है, और कुछ नहीं। –पाथेय 108

मत-सम्प्रदाय –

1. प्रत्येक मत तथा वाद साधन-दृष्टिसे आदरणीय तथा माननीय है; किन्तु उनकी ममता व्यक्तियोंको पागल बना देती है। औषधिका सेवन आरोग्यताके लिये अपेक्षित है, ममताके लिये नहीं। उसी प्रकार मत, सम्प्रदाय आदिकी अपेक्षा परिस्थितिके अनुरूप अपनेको सुन्दर बनानेमें है, परस्पर संघर्षके लिये नहीं। –दर्शन और नीति 132

2. जबतक मानव अपने मत, सम्प्रदाय एवं वादके अनुसार अपनेको सुन्दर बनाकर इनकी सीमासे अतीत नहीं हो जायगा, तबतक उसके जीवनमें पूर्णताकी अभिव्यक्ति नहीं होगी। –दर्शन और नीति 133

3. जीवनका जो सत्य होता है, वह किसी मजहबकी बात नहीं होती, किसी सम्प्रदायकी बात नहीं होती, वह सभीकी अपनी बात होती है। –संतवाणी 8/104

4. दूसरोंको हमारी प्रणाली अभीष्ट नहीं है, अपितु सहयोग एवं स्नेह अभीष्ट है। –मंगलमय विधान 55

34. हमारे मत, सम्प्रदाय, विचारधारा आदिका विरोध सिद्धान्तरूपसे नहीं होता, अपितु हमारा दोषयुक्त जीवन ही हमारे सिद्धान्तोंका विरोध करानेमें हेतु है। हम अपने सिद्धान्तोंकी महिमाका वर्णन करके उनका प्रचार चाहते हैं, पर वास्तविक प्रचार तो उन सिद्धान्तोंका होगा, जिनका चित्र हमारे जीवनमें दिखायी देता है। –जीवन-दर्शन 34

5. किसी भी संघ, संस्था, राष्ट्र, मजहब, इज्ममें यदि जीवन है तो मानवताका। मानवता-रहित संघ, संस्था आदि केवल संघर्षको ही जन्म देती हैं, जो विनाशका मूल है। –मानव-दर्शन 141

सत्-असत् –

1. यह नियम है कि सत्य असत्यको मिटानेमें समर्थ नहीं है। कारण कि सत्य तो असत्यको सत्ता देकर प्रकाशित करता है; किन्तु सत्यकी लालसा असत्यको मिटानेमें तथा सत्यसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। –मानवकी मांग 67-68
2. असत्का आकर्षण जितना मधुर प्रतीत होता है, उतनी मधुरता असत्की ओर गतिशील होनेमें नहीं है। प्रवृत्तिकी रुचि जितनी आकर्षक है, उतनी प्रवृत्ति नहीं। –मानव-दर्शन 43
3. सत् असत्का प्रकाशक है, नाशक नहीं। सत्की प्रियता ही एकमात्र असत्की नाशक है, जो सत्की आत्मीयतासे ही साध्य है। –मानव-दर्शन 44
4. असत्के अस्तित्वकी स्वीकृति ही असत्को जीवित रखती है। –मानव-दर्शन 46
5. असत्से बिना हटे असत्का कथन नहीं कर सकते और सत्से बिना मिले सत्का अनुभव नहीं कर सकते। –सन्त-समागम 1/36

सन्त-महात्मा –

1. साधारण मनुष्योंमें और सन्तमें यही अन्तर होता है कि सन्त जैसा जानता है, वैसा मानता है और जैसा मानता है, वैसा ही करता है। –संत-उद्बोधन 159
2. सत्पुरुषोंने अपनी साधनाके आधारपर कोई दल अथवा मत नहीं बनाया है। दलों और मतोंको तो उनके पीछे चलनेवालोंने अपने देहाभिमानके वशीभूत होकर जन्म दिया है। –मानवकी मांग 95
3. जिस प्रकार समुद्रका पानी भाप बनकर अनेक स्थानोंपर फैल जाता है, उसी प्रकार तत्त्ववेत्ता तत्त्वनिष्ठ होकर सर्वत्र फैल जाता है। तत्त्वनिष्ठ वही हो सकता है, जो तीनों प्रकार स्थूल-सूक्ष्म-कारण के शरीरोंसे अपनेको असंग कर लेता है। –संतपत्रावली 1/125
4. दुनियामें आजतक जितने सन्त हुए, महात्मा हुए, बड़े आदमी हुए, पीर हुए, पैगम्बर हुए, उन सबके जीवनमें आप तीनों ही बातें देखेंगे –आपको 'सेवा' दिखायी देगी, आपको 'त्याग' दिखायी देगा, आपको 'प्रेम' दिखायी देगा। –संतवाणी 8/68
5. जबतक उदार नहीं हैं, स्वाधीन नहीं हैं, प्रेमी नहीं हैं, तबतक आप महात्मा नहीं हैं, चाहे कितना ही बढ़िया व्याख्यान हम दे लें। व्याख्यान देनेसे महात्मा नहीं हो जाते। –संतवाणी 2/63

योग-बोध-प्रेम (कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोग) –

1. योग, बोध और प्रेम 'प्राप्त' में और भोग, मोह और आसक्ति 'अप्राप्त' में प्रवृत्त कराते हैं। –चित्तशुद्धि 226
2. 'योग' की पूर्णतामें बोध तथा प्रेम, और 'बोध' की पूर्णतामें योग तथा प्रेम, और 'प्रेम' के प्राकट्यमें योग तथा बोध स्वतःसिद्ध है। –चित्तशुद्धि 343
3. 'योग' में शक्ति और शान्ति है, 'बोध' में मुक्ति है, और 'प्रेम' में भक्ति है। –संतवाणी 6/109
4. यदि कुछ 'करना' चाहते हो तो सेवा करो, यदि 'जानना' चाहते हो तो अपनेको जानो, और यदि 'मानना' चाहते हो तो प्रभुको मानो अर्थात् अपनेको जानना है, प्रभुको मानना है और सेवा करना है। –मानवकी मांग 200
5. उदारता, त्याग तथा प्रेममें रस-भेद भले हो, स्वरूप-भेद नहीं है। –मूक सत्संग.177
6. सेवा करते जाओ, त्यागको अपनाते जाओ और प्रेमकी भूख बढ़ाते जाओ। –संतवाणी 7/154
7. जिज्ञासाकी दृष्टिसे जो 'ज्ञान' है, वैराग्यकी दृष्टिसे वही 'योग' है, और समर्पणकी दृष्टिसे वही 'प्रेम' है। –पाथेय 72
8. दूरीके नाशमें ही 'योग' और भेदके नाशमें ही 'बोध' तथा भिन्नताके नाशमें ही 'प्रेम' का प्रादुर्भाव होता है। –मानव-दर्शन 84
9. मिले हुएका दुरुपयोग न करनेपर 'कर्तव्यपरायणता' स्वतः आती है, और जाने हुएका आदर करनेपर 'असंगता' प्राप्त होती है, एवं बिना जानेमें आस्था होनेपर स्वतः 'शरणागति' उदित होती है। –मानव-दर्शन 159
10. जो बिना सीखे हो, वही सच्चा 'ज्ञान' है अर्थात् स्वभावतः आ जाय। जो बिना हेतुके हो, वही सच्चा 'प्रेम' है। और जो बिना किये हो, वही सच्चा 'त्याग' है; क्योंकि सच्चा त्याग करना नहीं पड़ता, हो जाता है। –संतपत्रावली 1/70
11. 'कर्तव्य' की विस्मृतिमें ही अकर्तव्य और 'स्वरूप' की विस्मृतिमें ही देहाभिमान एवं 'प्रेमास्पद' की विस्मृतिमें ही अनेक आसक्तियोंकी उत्पत्ति हो जाती है, जो विनाशका मूल है। –दुःखका प्रभाव 80

12. योग, ज्ञान और प्रेमका विभाजन नहीं हो सकता। -जीवन-दर्शन 265

13. 'सेवा' सुन्दर समाजके निर्माणमें, 'त्याग' अपने कल्याणमें तथा आत्मीयतासे उत्पन्न हुई 'प्रियता' अनन्तको रस प्रदान करनेमें हेतु है। -दर्शन और नीति 83

14. अपना मूल्य कम न होने पाये, यही 'पुरुषार्थ' है। शरीरसे लेशमात्र भी सम्बन्ध न रहे, यही 'त्याग' है। अपनेसे भिन्न किसी प्रकारकी सत्ता स्वीकार न हो, यही 'प्रेम' है। -सन्त-समागम 2/200

15. कुछ लोग संसारको मानते हैं, उन्हें बुराई-रहित होना पड़ेगा। कुछ लोग अपनेको मानते हैं, उन्हें अचाह होना पड़ेगा कुछ लोग प्रभुको मानते हैं, उन्हें प्रेमी होना पड़ेगा। -संतवाणी 8/115

16. मेरे जानते, बुराई-रहित होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। अचाह होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। भगवान्‌को अपना मानना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। -संतवाणी 7/81

17. इन तीन बातोंसे सारे जीवनकी समस्याएँ हल हो जाती हैं –1) मुझे कुछ नहीं चाहिये, 2) प्रभु अपने हैं, 3) सब कुछ प्रभुका है। यही जीवनका सत्य है। इसको स्वीकार करनेसे उदारता, स्वाधीनता और प्रेम प्राप्त होगा। -संतवाणी 7/77

18. योगकी प्राप्तिमें, बोधकी प्राप्तिमें, प्रेमकी प्राप्तिमें कुछ न चाहना ही मूल मन्त्र है। -संतवाणी 6/190

19. 'सेवा' का जो तत्त्व है, वह तो बुराई-रहित होना है। 'त्याग' का जो तत्त्व है, वह तो अचाह होना है, निर्मम होना है, तादात्म्य-रहित होना है। 'आस्था' का जो तत्त्व है, वह तो भगवान्‌से भिन्न किसी औरके अस्तित्वको अस्वीकार करना है और केवल भगवान्‌के अस्तित्वको स्वीकार करना है। -संतवाणी 7/92

20. 'कर्तव्यपरायणता' आते ही , आप चाहो तो, न चाहो तो, आपका जीवन जगत्‌के लिये उपयोगी हो जायगा। 'असंगता' प्राप्त होते ही आपके न चाहनेपर भी आपका जीवन अपने लिये उपयोगी हो जायगा। और 'आत्मीयता' प्राप्त होते ही आपका जीवन प्रभुके लिये उपयोगी हो जायगा। -संतवाणी 5/83

21. बोधमेंसे, ज्ञानमेंसे 'प्रेम' को निकाल दीजिये तो शून्य आ जायगा। प्रेममेंसे 'ज्ञान' निकाल दीजिये तो काम आ जायगा। और ज्ञान और प्रेममेंसे 'योग' निकाल दीजिये, असमर्थता आ जायगी। -संतवाणी 4/108

22. आस्तिक दर्शनका अर्थ है –प्रभु-विश्वास। अध्यात्म दर्शनका अर्थ है –विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग। और भौतिक दर्शनका अर्थ है –विवेकविरोधी कर्मका त्याग। -संतवाणी 4/176

23. भौतिक विकासकी चरम सीमा 'योग' है, और आध्यात्मिक विकासकी चरम सीमा 'बोध' है, और आस्तिक विकासकी चरम सीमा 'प्रेम' है। -संतवाणी 3/158

24. प्रभु-विश्वासीका प्रत्येक कार्य 'पूजा' है, और अध्यात्मवादीका प्रत्येक कार्य 'साधना' है, तथा भौतिकवादीका प्रत्येक कार्य 'कर्तव्य' है। -संत-उद्‌बोधन 49

25. अगर आप परमात्माका अस्तित्व मानते हैं तो शरणागत हो जाइये। अपना अस्तित्व मानते हैं तो अचाह और अकिंचन हो जाइये, और जगत्‌का अस्तित्व मानते हैं तो सेवा कीजिये। -संतवाणी 2/53

विविध –

1. सीधे-सादे जो बात आप चाहते हैं दूसरोंसे, उनसे कहिये –देखिये, हम चाहते हैं कि आप ऐसा कर दीजिये। बस इतना ही त्याग रखिये कि यदि इन्कार कर दें तो बुरा मत मानिये। -संतवाणी 4/209

2. अकेले रहनेमें बुरा लगता है तो नित्य साथीकी याद करो। -संतवाणी 4/220

3. 'साधु' माने यही कि जो संसारका सम्बन्ध तोड़ दे, चाहे घरमें रहकर, चाहे वनमें जाकर।........ भेषके साधु सब नहीं हो सकते, लेकिन बिना भेषके साधु हर भाई, हर बहिन हो सकती है। -सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर) 91

4. कम सामान रखोगे तो तुमको आराम ज्यादा मिलेगा। जिसको परायी कमाई खाना है, जिसको समाजके आश्रित रहना है, उसकी जरूरतें कम-से-कम हों तो अच्छी बात है यह। -संतवाणी 3/49

5. अपना सुधार जो नहीं कर सकता, वह किसीका सुधार नहीं कर सकता, सुधारके नामपर अपनी कामनाओंकी पूर्त्ति कर सकता है। -संतवाणी 5/236

6. लकड़ी स्वयं जलकर दूसरोंको जलाती है, किसीको जलाना सिखाती नहीं। दूसरोंके सुधार एवं सिखानेकी बात सीमित गुणोंका अभिमान एवं अपनी योग्यताका परिचय देना है। -सन्त-समागम 2/163

7. यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो देखनेमें आता है, उसकी प्राप्ति नहीं होती, और जिसकी प्राप्ति होती है, वह देखनेमें नहीं आता। -संत-उद्‌बोधन 45

8. मैं मूलरूपसे कहूँगा कि तीन भूलें हमसे हुई हैं। एक भूल तो यह हुई है कि हम मिले हुए बलका दुरुपयोग कर बैठते हैं। दूसरी भूल यह हुई है कि हम जाने हुएका अनादर कर बैठते हैं। तीसरी भूल यह हुई है कि जिसको सुना है केवल, जाना नहीं है, उसमें अश्रद्धा कर बैठते हैं। –जीवन-पथ 130

9. जो मिला है, वह दूसरोंके लिये है और जो मौजूद है, वह अपने लिये है। –प्रेरणा पथ 149

10. सिद्धान्तरूपसे कोई भी 'गैर' नहीं है, कोई 'और' नहीं है। किसी-न-किसी नाते सभी अपने हैं और सभीमें अपने प्रेमास्पद हैं। –संत-उद्‌बोधन 137

11. जब कोई 'और' है ही नहीं, तो भय कैसा ? जब कोई 'गैर' नहीं, तो प्रीति क्यों नहीं ? –संतवाणी 6/167

12. जैसा हम अपनेको मान लेते हैं, वैसे ही हमसे कर्म होते हैं और कर्मके अन्तमें हम वैसे ही बन जाते हैं। –मानवकी मांग 170

13. की हुई भूलपर पश्चात्ताप करनेके समान कोई 'प्रायश्चित्त' नहीं। भविष्यमें भूल न करनेके निश्चयके समान कोई दूसरा 'व्रत' नहीं। –संत-उद्‌बोधन 146

14. की हुई बुराईको पुनः न करना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। –सन्त-समागम 2/340

15. जैसे किसी पक्षके विरोधीको मैं सजग नहीं मानता, वैसे किसी पक्षके समर्थकको भी मैं सजग नहीं मानता। मस्तिष्क उसीका सजग रहता है, जो ईमानदारीसे न विरोधी है, न समर्थक है। –जीवन-पथ 101

16. जिसे कोई भी अपना साथी चाहिये, वह ईमानदारीपूर्वक ब्रह्मचारी नहीं रह सकता। –सन्त-समागम 2/333

17. हमारे जीवनमें जितनी भी दुर्बलताएँ हैं, उनका मूल कारण एकमात्र प्राप्त बलका दुरुपयोग है, और जितनी बेसमझी है, उसका मूल कारण एकमात्र विवेकका अनादर है। –मानवकी मांग 49

18. सद्‌गुरु-वाक्य है कि आवश्यक वस्तु बिना माँगे ही मिलती है और आवश्यक कार्य स्वतः होते रहते हैं। –पाथेय 239

19. प्रत्येक कार्य समस्त विश्वके हितके भावसे किया जाय, जो फिर कार्यमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती; कारण कि प्यारे प्रभुकी योगमाया उसके अनकूल हो जाती है। –पाथेय 272

20. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी और अहं अभिमानशून्य करना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है। –मानवकी मांग 219

21. क्रियाशीलता, जड़ता, निरर्थक चिन्तन, सार्थक चिन्तन आदि अवस्थाओंसे निर्विकल्प अवस्था श्रेष्ठ है। –मानव-दर्शन 31

22. जिसका नाश अभीष्ट हो, उसको आश्रय न दो, उसका समर्थन तथा विरोध मत करो। उसे अस्तित्वहीन जानो। –मूक सत्संग.62

23. सभीको अपना स्वीकार करना अथवा 'अपनेमें अपना करके कुछ नहीं है' यह अनुभव समान अर्थ रखता है। –मूक सत्संग.102

24. उत्तम पुरुषोंका परिवर्तन 'ज्ञान' से, मध्यम पुरुषोंका 'लालच' से तथा निकृष्ट पुरुषोंका 'भय' से होता है। –संतपत्रावली 1/153-154

25. कोई भी नियम क्रोध तथा आवेशमें आकर नहीं बनाना चाहिये और न किसी नियमको जीवनभरके लिये करना चाहिये। –संतपत्रावली 1/172

26. जब कुछ नहीं चाहता, तब सब कुछ प्राप्त होता है। जब कुछ चाहता है, तब कुछ नहीं हाथ आता। कुछ न करनेसे सब कुछ होता है, कुछ करनेसे कुछ नहीं होता। जब कुछ नहीं जानता, तब सब कुछ जानता है। जब कुछ जानता है, तब कुछ नहीं जानता –ऐसा मेरा अनुभव है। –संतपत्रावली 1/55

27. पत्र सुननेपर जो भाव उत्पन्न होता है, वही उसका सच्चा उत्तर है। भाव शब्दकी अपेक्षा व्यापक है। इतना ही नहीं, सद्‌भावसे हृदय बदलता है, और सुन्दर-सुन्दर शब्दोंका केवल मस्तिष्कपर ही प्रभाव होता है। –संतपत्रावली 2/150

28. तुम्हारी आत्म-कथाका सपना बड़ा ही सुन्दर तथा सरस है, पर यह जानती हो कि स्वप्नका साक्षी सर्वदा स्वप्नसे अतीत है और स्वप्न सर्वदा सत्ताशून्य है। –पाथेय 26

29. बालिकाओंके रंग-रूपके सम्बन्धमें जो सामाजिक भावना बन रही है, वह बड़ी सोचनीय है। जब बालिकाएँ रोटीके लिये विवाह नहीं करेंगी, तभी यह भावना नष्ट होगी। वास्तवमें विवाह एक निश्चित कार्यक्रम है। जो होना होगा, होगा ही। उसके लिये चिन्ता करना भूल है। दिलकी सफाई व चरित्रका सौन्दर्य तथा योग्यताका आभूषण बालिकाओंकी रक्षा करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। –संतपत्रावली 2/73

30. दुःखियोंके वेशमें प्रेमास्पदको देखकर तुम क्षोभित होती हो अथवा करुणित ? यदि क्षोभित होती हो तो भूल है और यदि करुणित होती हो तो स्वाभाविकता है। क्षोभित होनेसे सुखका महत्त्व बढ़ता है और उसकी दासता अंकित होती है। करुणित होनेसे सुखका राग मिटता है और उदारता उदित होती है, जो भोगासक्तिको खाकर मनको निर्मल बना देती है। –पाथेय 75-76

31. सब कुछ करनेपर वही प्राप्त होता है, जो करनेके आरम्भसे पूर्व था। -सत्संग और साधन 79

32. मिले हुएके सदुपयोगके लिये ही 'विवेक'-रूपी विधान मिला है, और भोगकी रुचिका नाश करनेके लिये ही 'दुःख' का प्रादुर्भाव हुआ है। -दुःखका प्रभाव 48

33. यह सभीका दैनिक अनुभव है कि प्रिय-से-प्रिय वस्तुओं एवं व्यक्तियोंसे प्रतिदिन वियोग अपनाये बिना कोई भी भाई तथा बहन नहीं रह सकते। गहरी नींद तथा समाधिकी आवश्यकता सभी अनुभव करते हैं। -दुःखका प्रभाव 94

34. कोई बात पूरी नहीं होती तो समझो कि वह जरूरी नहीं है। -सन्त-जीवन-दर्पण 97

35. उत्पत्ति, रक्षा और विनाश विधानके अधीन हैं। -दर्शन और नीति 124

36. अनेक प्रकारका निर्णय ही 'अविवेक' है, अनेक विश्वासोंका होना ही 'अविश्वास' है, और जिसके करनेपर कर्तामें करनेका राग शेष रहे, वही 'अकर्तव्य' है। -जीवन-दर्शन 102

37. जबतक सन्देहकी वेदना अत्यन्त तीव्र नहीं हो जाती, तबतक सन्देह मिटानेकी योग्यता नहीं आती। यहाँतक कि यदि किसीको प्यास लगी हो और उससे कहा जाय कि तुम पहले पानी पीना चाहते हो अथवा निस्सन्देह होना चाहते हो ? इसपर यदि वह यह कहे कि मुझे निस्सन्देह होना है, पानी नहीं पीना है, तो समझना चाहिये कि सन्देहकी वेदना जाग्रत् हो गयी। असह्य वेदना होते ही उसकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है। -जीवन-दर्शन 159

38. हम जो कुछ करते हैं, उसका परिणाम हमींतक सीमित नहीं रहता, अपितु समस्त विश्वमें फैलता है। -जीवन-दर्शन 173

39. प्राकृतिक विधान यह है कि दूसरोंके साथ हम जो कुछ भी करेंगे, वह कालान्तरमें अनेक गुणा होकर अपने साथ होगा। -प्रेरणा पथ 104

40. दूसरोंके प्रति जो कुछ किया जाता है, वह कई गुना अधिक होकर हमारे प्रति स्वतः होने लगता है। -जीवन-दर्शन 173

41. किसीकी अवनतिके द्वारा प्राप्त की हुई उन्नति अवनति ही है। आरम्भमें भले ही ऐसा प्रतीत हो कि किसीकी हानिमें किसीका लाभ है, पर परिणाममें तो यही सिद्ध होगा कि किसी हानिसे उत्पन्न हुआ लाभ एक बड़ी हानिकी तैयारी है। -दर्शन और नीति 18

42. उपनिषदों और वेदान्तपर टीकाएँ कर डालीं और फिर भी दशा यह है कि ममता नाश नहीं हुई, कामना नाश नहीं हुई ! और बुद्धिमानी यह कि बात समझमें तो आती है, ठीक भी है, पर जीवनमें नहीं उतरती। -प्रेरणा पथ 43

43. सभीको अपना मान लेनेमें, किसी एकको ही अपना मान लेनेमें अथवा किसीको भी अपना न माननेमें जीवनकी सार्थकता निहित है। -जीवन-दर्शन 266

44. 'श्रम' का स्थान आलस्य मिटानेमें है, प्रियके पानेमें नहीं। 'अरुचि' का स्थान सुखभोगके त्यागमें है, प्रीतिके उदयमें नहीं। -जीवन-दर्शन 273

45. प्राकृतिक विधानके अनुसार जिसकी वास्तवमें उपयोगिता अपेक्षित है, उसकी रक्षाके साधन अपने-आप प्राप्त होते हैं। -दर्शन और नीति 122

46. जो अप्राप्त है, उसकी चाहसे रहित होना है; जो जानते हैं, उसीका आदर करना है; और जो कर सकते हैं, उसीको कर डालना है। अप्राप्तकी चाहसे रहित होते ही 'योग' स्वतः सिद्ध होगा। जो जानते हैं, उसका आदर करते ही स्वतः 'बोध' होगा। जो कर सकते हैं, उसके करते ही स्वतः सुन्दर परिस्थिति प्राप्त होगी। -चित्तशुद्धि 43

47. अपनेसे अपनी दशाको छिपाना नहीं चाहिये। वस्तुस्थितिका वास्तविक परिचय होते ही या तो व्याकुलताकी अग्नि प्रज्वलित होगी अथवा आनन्दकी गंगा लहरायेगी। -चित्तशुद्धि 176

48. यह नियम है कि भोग, मोह और आसक्तिकी उत्पत्ति तभी होती है, जब प्रतीतिमें प्राप्त-बुद्धि स्वीकार कर ली जाय। -चित्तशुद्धि 226

49. यह नियम है कि जिसका होना असह्य होता है, वह मिट जाता है और जिसका न होना असह्य होता है, वह प्राप्त हो जाता है। -चित्तशुद्धि 238

50. ज्ञान, सामर्थ्य और वस्तुएँ असीम हैं, उनकी गणना तथा सीमा नहीं हो सकती। व्यक्ति उनकी खोज भले ही कर सके, पर उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकता। यह नियम है कि खोज उसीकी होती है, जो है। इस दृष्टिसे विज्ञान विज्ञानवेत्ताकी, दर्शन दर्शनकारकी और कला कलाकारकी खोज है, उपज नहीं। -चित्तशुद्धि 270

51. यह नियम है कि प्राणी जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, उसका अस्तित्व भासने लगता है। जिसका अस्तित्व भासने लगता है, उसपर विश्वास होने लगता है। जिसपर विश्वास हो जाता है, उससे सम्बन्ध हो जाता है। जिससे सम्बन्ध हो जाता है, उसमें प्रियता स्वतः उत्पन्न होती है। जिसमें प्रियता उत्पन्न हो जाती है, उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है। जिसकी स्मृति होने लगती है, उसमें आसक्ति हो जाती है। और जिसमें आसक्ति हो जाती है, उसमें सत्यता, सुखरूपता, सुन्दरता प्रतीत होने लगती है, और फिर प्राणी उसके अधीन हो जाता है। -चित्तशुद्धि 326

52. देनेकी रुचिका अन्त तभी हो सकता है, जब प्राणी देनेके अभिमानसे और लेनेकी आशासे रहित हो जाय अर्थात् दी हुई वस्तुको उसीकी जाने, जिसको दी है। अपनी मानकर देनेसे लेनेकी आशा अवश्य उत्पन्न होती है। लेनेकी आशा रहते हुए देनेकी बात कहना ईमानदारी नहीं है अथवा यों कहो कि देनेके रूपमें लेना ही है, देना नहीं। इतना ही नहीं, उस प्राणीका लेना भी देना हो जाता है, जो अपनेमें अपना कुछ नहीं पाता। जिसे अपनेमें अपना कुछ भी प्रतीत होता है, उसका देना भी लेना है अर्थात् उसका त्याग भी राग है और प्रेम भी मोह है। उसके द्वारा की हुई सेवा भी स्वार्थ है। -चित्तशुद्धि 406

53. सज्जनता बढ़ा लेनेपर ही दुर्जनताका अन्त कर सकते हो। दुर्जनतासे दुर्जनता किसी प्रकार भी मिटायी नहीं जा सकती। -सन्त-समागम 1/106

54. कर्म और संसार दोनोंका स्वरूप एक है, इसलिये कर्मसे संसारकी प्राप्ति होती है। -सन्त-समागम 1/37

55. प्यारे, भाषा तथा भाव दोनोंसे परे रहो। भाषा तथा भाव किसीकी सत्ता प्रकाशित नहीं करते, किन्तु संकेत करते हैं। -सन्त-समागम 1/196

56. प्यारे, जब सच्चाई भाव तथा भाषासे परे है, तो फिर उसकी व्याख्या ही क्या हो सकती है ? -सन्त-समागम 1/202

57. कोई भी शब्द अपना अर्थ आप तो प्रकाशित करते नहीं, इसलिये जो बात जिस भावसे कही हो, उसको उसी भावसे देखो। शब्दोंपर मत जाओ। -सन्त-समागम 1/221

58. अनुभव बुद्धि द्वारा कथन नहीं किया जा सकता, केवल संकेत किया जा सकता है। गीता आदि भी संकेत ही करती है। -सन्त-समागम 1/236

59. विषयीका कथन विषयोंके विषयमें माननीय नहीं हो सकता; क्योंकि उस बेचारेको विषयोंका ज्ञान तो है नहीं। -सन्त-समागम 1/209

60. प्रकृतिकी स्वाभाविक क्रियाएँ अहितकारी किसी प्रकार नहीं हो सकतीं; क्योंकि कोई भी अपने साथ अहित नहीं करता। शरीर आदि प्रकृतिके हैं; अतः उनके सुधारमें प्रकृति भूल नहीं कर सकती। प्रकृतिकी भूल सिर्फ राग-द्वेषके कारण दिखाई देती है। -सन्त-समागम 1/207

61. बुद्धि आदि द्वारा प्रकृतिकी भूल पकड़ना यही अर्थ रखता है कि 'कुल' भूल करता है और 'जुज़' भूल पकड़ता है, यद्यपि 'जुज़' हर कालमें 'कुल' के आश्रित है अर्थात् परतन्त्र है। 'जुज़' को जो कुछ हानि दिखायी देती है, वह 'जुज़' का दोष है, 'कुल' का नहीं। गहराईसे देखो, क्या आँख सूरजका दोष पकड़ सकती है ?..... आँखमें आसक्त बुद्धि सूर्यकी व्यर्थ आलोचना करती है। -सन्त-समागम 1/210

62. 'कुल' से 'जुज़' की हानि नहीं होती। यदि यह स्वीकार करते हो कि कुल जुज़की हानि करता है तो जुज़ कुलसे अलग क्यों नहीं हो जाता ? जबतक जुज़ कुलसे अलग नहीं हो पाता, तबतक कुलपर जुज़का आक्षेप करना शोभा नहीं देता। -सन्त-समागम 1/211

63. यदि भिखारी बनना पसन्द है तो ऐसे भिखारी बनो कि दाताको ही भिक्षामें ले लो, जिससे बार-बार माँगना शेष न रहे। -सन्त-समागम 1/252

64. 'मानना' वही सार्थक होता है, जिसमें घोर विश्वास हो और 'जानना' वही सार्थक होता है, जिसका आदर हो। -सन्त-समागम 2/67

65. आज वेजिटेबल मिलके लिये तो सम्पत्ति है; किन्तु डेयरी फार्मके लिये नहीं। पूँजीपतियोंकी इस भूलने मानवके स्वास्थ्यको खा लिया है। वे ऊपरसे तो अहिंसाके गीत गाते हैं; किन्तु पशुओंको न खाकर मनुष्योंको खा जाते है ! -सन्त-समागम 2/91

66. जीवनकी प्रत्येक घटना कुछ-न-कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थको अपनाते हैं, घटनाको भूल जाते हैं। -सन्त-समागम 2/205

67. गुणके आश्रय ही दोष, भलाईके आश्रित ही बुराई, कर्तव्यके सहारे ही अकर्तव्य और सत्यके आश्रय ही असत्य प्रकाशित होता है। -साधन-तत्त्व 13

68. किसी भी व्यक्तिको बुरा तथा भला मत समझो; क्योंकि दूसरोंको बुरा समझनेसे मनमें बुराई आ जाती है, और प्रेमपात्रके अतिरिक्त दूसरोंको भला समझनेसे प्रेमपात्रका विश्वास मिट जाता है और मन संसारका दास बन जाता है, जो दुःखका मूल है। -सन्त-समागम 2/317

69. जिस सद्ग्रन्थमें उसकी (साधककी) श्रद्धा है, उसमें अपनी समस्या हल करनेके उपायकी ही खोज करे, सारा ग्रन्थ समझनेका प्रयास न करे; क्योंकि जाने हुए असत्का त्याग किये बिना कोई भी साधक किसी भी सद्ग्रन्थको सर्वांशमें नहीं जान सकता। सद्ग्रन्थ भले ही सूर्यके समान हो, किन्तु सूर्यका प्रकाश नेत्रविहीनके काम नहीं आता। -साधन-तत्त्व 84

70. व्यक्तिगत भिन्नता एक-दूसरेकी पूरक है। -मंगलमय विधान 55

71. जो किसीकी दासतामें बँधा है, वही किसीको दास बनानेके प्रयासमें लगा है। -जीवन-पथ 42

72. यह कैसी विडम्बना है कि कोई भी मानव वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदिकी दासताको सुरक्षित नहीं रख पाता अर्थात् जिसकी दासता स्वीकार करता है, वह नहीं रहता, केवल दासता ही रह जाती है। -मानव-दर्शन 124

73. अशान्ति नाश होती है निष्कामतासे, भय नाश होता है निर्मोहतासे और दरिद्रता नाश होती है निर्लोभतासे। -संतवाणी 8/130

74. अपना सम्मान तथा शान्ति सुरक्षित रखनेमें दूसरोंसे आशा करना प्रमाद ही है। शान्ति निष्कामतामें और सम्मान असंगतामें है। -संतपत्रावली 2/120

75. जो मनुष्य अपने दोषकी ओर ध्यान न देकर दूसरोंको दोषी मानता है और इस ख्यालसे कि 'यहाँ मेरा आदर नहीं है, मेरे साथ लोग व्यवहार ठीक नहीं करते', एक जगह छोड़कर दूसरी जगह जाता है, उसको वहाँ भी आदर नहीं मिलता; क्योंकि दूसरोंसे सुख चाहनेवाले मनुष्यका कोई भी आदर नहीं करता। -संत-सौरभ 67

76. आदर तथा प्यारकी भूख प्राणिमात्रको है और उसके आदान-प्रदानकी सामर्थ्य मानवमात्रमें है। परन्तु किसी गुण-विशेषके दर्शन बिना आदर तथा प्यार देनेकी अभिरुचि नहीं होती। मानव यह भूल जाता है कि गुणोंके आधारपर दिया हुआ आदर तथा प्यार अपनी निर्बलताका परिचय है, आदर तथा प्यार नहीं। -दर्शन और नीति 130

77. प्रायः देखा जाता है कि जिसके पास धन नहीं है, वह बाहरसे अपने शरीरको जितना सजाता है, धनी आदमी उतना नहीं सजाता; क्योंकि जो योग्यता जिसमें सचमुच होती है, उसे उसका प्रदर्शन करनेका शौक नहीं होता। वह तो उसका स्वभाव बन जाता है। -संत-सौरभ 75

78. अगर हम शरीरको जगत्की मरजीपर छोड़ दें और अपनेको प्रभुकी मरजीपर छोड़ दें तो जीवनकी जितनी समस्याएँ हैं, वे सब हल हो सकती हैं। -संतवाणी 2/1

79. जो 'क्रियाशक्ति' उपभोगमें व्यय नहीं होती, वही सेवामें व्यय होती है। जो 'प्रीति' किसी वस्तुमें आबद्ध नहीं होती, वही प्रेमपात्र (सर्वसमर्थ भगवान्) तक पहुँचती है। जो 'ज्ञान' पदार्थोंके उपार्जनमें व्यय नही होता, वही परमतत्त्वसे अभिन्न होता है। -सन्त-समागम 2/271

80. प्रकृतिक नियमके अनुसार 'प्राप्ति' किसी अन्यकी नहीं होती, प्रत्युत उसीकी होती है, जो नित्य प्राप्त है। 'कामना' उसीकी होती है, जिसका भास हो, पर अस्तित्व नित्य न हो, और 'आवश्यकता' उसीकी होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, पर भास नहीं। -चित्तशुद्धि 425

81. संसारकी दासता मनसे निकाल दो, यही 'त्याग' है। संसारसे अपना मूल्य बढ़ा लो, यही 'तप' है। सब प्रकारसे प्रेमपात्रके हो जाओ, यही 'भक्ति' है। अपनी प्रसन्नताके लिये किसी अन्यकी ओर मत देखो, यही 'मुक्ति' है। -सन्त-समागम 2/228-229

82. भगवान् प्यारे लगें, उनकी याद बनी रहे, मन लग जाय –इसीका नाम 'भजन' है। यही तो 'भक्ति' है। परहितका भाव हो, सबके साथ सद्भावना हो –यही तो 'सेवा' है। कुछ नहीं चाहना ही तो 'त्याग' है। भगवान्के समर्पण हो जाना ही तो 'प्रेम' है। इसीका नाम सच्चा भजन है। अपने स्थानपर ठीक बनें रहें तो सभी 'धर्मात्मा' हैं। काम छोटा-बड़ा कोई नहीं है। अपने वर्णाश्रमके अनुसार सही बना रहे –यही 'धर्म' है। विचारपूर्वक सबसे असंग रहना ही सच्चा 'वेदान्त' है। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्की शरण ग्रहण करना ही 'वैष्णवता' है। -संत-उद्बोधन 193

83. संसारसे सुखकी आशाके रहते 'त्याग' नहीं होता। ममताके रहते 'विकार' नहीं मिटते। कामनाओंके रहते 'शान्ति' नहीं मिलती। चाह-रहित हुए बिना 'योग' की सिद्धि नहीं मिलती। असंगताके बिना 'बोध' नहीं हो सकता। आत्मीयताके बिना 'प्रेम' की प्राप्ति नहीं हो सकती। ये सब बातें ध्रुव सत्य हैं। या कहो कि प्रभुका ऐसा कुछ विधान ही है। -संत-उद्बोधन 134

84. जीवनोपयोगी महावाक्य –1) मेरा कुछ नहीं है, 2) मुझे कुछ नहीं चाहिये, 3) प्रभु ही अपने हैं, और 4) सब कुछ प्रभुका ही है। -पाथेय 327

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः।।

प्रार्थना -2

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतित पावनी,
अहैतुकी कृपासे
मानवमात्रको
विवेकका आदर
तथा
बलका सदुपयोग
करनेकी सामर्थ्य
प्रदान करें,
एवं
हे करुणासागर !
अपनी अपार करुणासे
शीघ्र ही राग-द्वेषका
नाश करें।
सभीका जीवन
सेवा, त्याग, प्रेमसे
परिपूर्ण हो जाय।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

उद्‌गार

'शरीर सदैव मृत्युमें रहता है और मैं सदैव अमरत्वमें रहता हूँ, यह मेरा परिचय है। –प्रबोधनी 1

'अरे दुनियाके दुःखियो ! अब देर मत करो। व्याकुल हृदयसे आनन्दघन भगवान्‌को बुलाओ। वे अवश्य आयेंगे, आयेंगे, आयेंगे।' –संतपत्रावली 1/72

'हे पतितपावन सर्वसमर्थ भगवान् ! आप अपनी ओर देख अपने इस पतित प्राणीको अपनाइये, जिससे इसका उद्धार तथा आपका नाम सार्थक हो।' –संतपत्रावली 1/180

'तुम यह बात अपने मनसे सदाके लिये निकाल दो कि मेरे समीप आनेपर ही मेरी सेवा होगी। तुम जितना अपनेको सुन्दर बना लोगे, उतनी ही मुझे प्रसन्नता होगी, और वही मेरी सच्ची सेवा होगी।' –संतपत्रावली 2/35

'वास्तवमें तो मानवमात्रकी अनुभूति ही मानव-सेवा-संघका साहित्य है।' –पाथेय 103

'जिसने जाने हुए असत्‌के त्याग द्वारा असाधनका अन्त कर साधन-परायणता प्राप्त की, उसने तो मेरी बड़ी ही सेवा की है। जो अपने लिये तथा जगत्‌के लिये एवं प्यारे प्रभु के लिये उपयोगी है, वही मुझे परम प्रिय है।' –पाथेय 130

'तुम कभी अपने स्वरूपको मत भूलो। यही मेरी सर्वोत्कृष्ट सेवा है।' –पाथेय 324

'गीताके रचयितासे मेरा बड़ा भारी सम्बन्ध है। वे मेरे बड़े मित्र हैं। मैं गीताका बड़ा आदर करता हूँ; क्योंकि वह मेरे दोस्तकी बातचीत है।' –संतवाणी 7/169

'लोग अभीसे कहने लगे कि शरणानन्दका एक दर्शन है। शरणानन्दका वही दर्शन है, जो सबका दर्शन है। अपने दर्शनमें श्रद्धा कर लो, शरणानन्दका दर्शन आपने जान लिया। आप शरणानन्दके दर्शनपर श्रद्धा करना चाहें और अपने दर्शनमें अश्रद्धा करें तो आपने शरणानन्दके दर्शनको नहीं समझा। शरणानन्दका दर्शन केवल इतना ही है कि हर भाई, हर बहन अपने दर्शनपर अविचल आस्था करे।' –संतवाणी 4/177

मेरा बचा हुआ काम है –सोई हुई मानवताको जगाना।' –संतवाणी 3/40

'मैं अमर हूँ यार। मेरा यह शरीर न रहे, पर मेरे अनेक शरीर हैं, उनमें मिलता रहूँगा।' –सन्त-जीवन-दर्पण 98

'अगर आपने हमारी बात सुनी है तो सच मानिये कि आपको अपने लिये किसी भिन्न गुरुकी आवश्यकता नहीं होगी।' –संतवाणी 4/158

'जो प्राणी सब प्रकारसे प्रभुके होकर रहते हैं, वे मेरे और मैं उनके सर्वदा संग हूँ।' –संतपत्रावली 2/37

'मैं सबके साथ हमेशा रहूँगा। जितने भी शरणागत हैं, उन सबसे मैं अभिन्न हूँ। जितने भी ममता-रहित हैं, उन सबके साथ हूँ। यह मत समझना कि मैं नहीं हूँ। मैं सर्वत्र सबके साथ मौजूद हूँ।' –सन्त-जीवन-दर्पण 98

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः।।

पारिभाषिक शब्दावली

अकेला – शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे असंग।

अकिंचन – वस्तु-रहित; किसी भी वस्तुको अपना न मानना।

अचाह – निष्काम; इच्छा-रहित।

अप्रयत्न – अक्रिय; कुछ न करना।

अभिमानशून्य अहम् – कर्तृत्वाभिमान-रहित अहम्। प्रकृतिका धातुरूप अहम्।

आदर करना – महत्त्व देना।

आवश्यकता और कामना – 'आवश्यकता' अविनाशीकी और 'कामना' नाशवान्‌की होती है। 'आवश्यकता' एक और 'कामना' अनेक होती है। ('सन्त-समागम')

'और' तथा 'गैर' – 'अन्य' तथा 'पराया'।

करण – शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार।

कल – चैन, आराम।

'कुल' और 'जुज़' – 'कुल' का अर्थ है –सम्पूर्ण, और 'जुज़' का अर्थ है –टुकड़ा। जैसे–प्रकृति (अंशी) 'कुल' है और उसका अंश बुद्धि 'जुज़' है।

जातीय एकता – तात्त्विक एकता; स्वरूपगत एकता; सधर्मता।

जीवन – इस शब्दका दो अर्थोंमें प्रयोग हुआ है–परिवर्तनशील जीवन और नित्य जीवन। 'नित्य जीवन' का तात्पर्य है –अविनाशी सत्ता; स्वरूप अथवा परमात्मतत्त्व।

'नहीं' – नाशवान्। असत्। शरीर तथा संसार।

निर्मम – ममता-रहित।

प्यार और प्रेम – 'प्यार' दूसरेसे और 'प्रेम' अपनेसे होता है। अपना सब कुछ दे देना 'प्यार' और अपनेको दे देना 'प्रेम' है। ('सन्त-समागम')

प्रेम-पात्र – प्रेमास्पद; भगवान्।

मूक सत्संग – जाग्रत् सुषुप्ति; चुप साधन। बाहर-भीतरसे चुप, शान्त होना। किसीका भी चिन्तन न करना, न संसारका, न भगवान्‌का। अपने-आप कोई चिन्तन आ जाय तो उससे न राग करना, न द्वेष, उसे न अच्छा मानना, न बुरा; उसका न समर्थन करना, न विरोध, प्रत्युत उसे अपनेमें न मानते हुए उसकी उपेक्षा करना।

वर्तमान – इस शब्दका दो अर्थोंमें प्रयोग हुआ है–वर्तमानकाल और कालातीत सत्ता। 'कालातीत सत्ता' का तात्पर्य है –भूत-भविष्य-वर्तमान–तीनोंसे रहित स्वरूप।

व्यक्तित्व – अहंता; मैंपन।

शरीर – पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश –इन पाँच तत्त्वोंसे बना हुआ हाड़-मांसयुक्त शरीर **'स्थूलशरीर'** कहलाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा), पाँच प्राण (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान), मन और बुद्धि –इन सत्रह तत्त्वोंसे बना हुआ **'सूक्ष्मशरीर'** कहलाता है। जिसमें अज्ञान, स्वभाव रहता है, वह **'कारणशरीर'** कहलाता है।

साथी और सामान – व्यक्ति और वस्तु (शरीरादि)।

'है' – चिन्मय अविनाशी सत्ता। सत्-तत्त्व। आत्मतत्त्व तथा परमात्मतत्त्व।

•=•=•00•=•=•

आधार-ग्रन्थ-सूची

1. **सन्तवाणी** (आठों भाग) - प्रथम संस्करण
2. **सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)** - प्रथम संस्करण 1990
3. **सन्तपत्रावली** (भाग 1 व 2) - प्रथम संस्करण
4. **सन्त-समागम** (भाग 1 व 2)- क्रमशः षष्ठ व चतुर्थ संस्करण
5. **मानव-दर्शन** - द्वितीय संस्करण
6. **पाथेय** - प्रथम संस्करण 1978
7. **सन्त-उद्‌बोधन** - प्रथम संस्करण 1998
8. **मूक सत्संग तथा नित्ययोग** - द्वितीय संस्करण 1976
9. **जीवन-पथ** - तृतीय संस्करण 1972
10. **प्रेरणा-पथ** - प्रथम संस्करण 2001
11. **सत्संग और साधन**- द्वितीय संस्करण 1970
12. **दुःखका प्रभाव** - द्वितीय संस्करण 1967
13. **जीवन-दर्शन** - द्वितीय संस्करण 1965
14. **साधन-त्रिवेणी** - प्रथम संस्करण 2006
15. **सफलताकी कुंजी** - प्रथम संस्करण 1979
16. **दर्शन और नीति** - द्वितीय संस्करण 1977
17. **चित्तशुद्धि** - द्वितीय संस्करण 1965
18. **सन्त-जीवन-दर्पण** - प्रथम संस्करण 2005
19. **साधन-निधि** - चतुर्थ संस्करण 2000
20. **मंगलमय विधान** - द्वितीय संस्करण 1975
21. **साधन-तत्त्व** - द्वितीय संस्करण 1968
22. **मानवकी मांग** - तृतीय संस्करण
23. **मानवताके मूल सिद्धान्त** - तृतीय संस्करण 1975
24. **सन्त-सौरभ** - प्रथम संस्करण 1997
25. **प्रबोधनी** - प्रथम संस्करण 1981

•=•=•00•=•=•

ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराजका साहित्य मिलनेका पता –
मानव-सेवा-संघ, वृन्दावन –281121; फोन –(0565) 2443181